संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ४

स्वामी समन्तभद्र विरचित

रत्नकरण्डक श्रावकाचार

[आचार्य प्रभाचन्द्र रचित संस्कृत टीका तथा हिन्दी रूपान्तर सहित]

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

हिन्दी रूपान्तरकार एवं सम्पादक

डॉ० पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

रत्नकरण्डक श्रावकाचार

कृतिकार : आचार्य समन्तभद्र स्वामी
संस्कृत टीका : आचार्य प्रभाचन्द्र स्वामी
पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर महाराज
हिन्दी अनुवाद : डॉ॰ पं॰ पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ शुक्ल ५, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति : ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
जैन विद्यापीठ
भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२
ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक
विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की श्रृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

पूर्व में यह ग्रन्थ मुनि संघ साहित्य प्रकाशन समिति सागर से प्रकाशित था। यह ग्रन्थ जैनधर्म के सभी श्रावक-श्राविकाओं एवं मुनि आर्यिकाओं द्वारा पढ़ा जाता है। इसलिए इस ग्रन्थ की सहज उपलब्धता न होने के कारण इसे प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्य समन्तभद्र महाराज विरचित इस ग्रन्थ की एक मात्र संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्र जी की है, जिसका अनुवाद पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर के द्वारा किया गया है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक, अनुवादक और ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना। जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

प्रस्तावना

ग्रन्थ का नाम

संस्कृत-टीका के पुष्पिका-वाक्यों के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम **रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन** है। बोलचाल में यह **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** इस नाम से प्रसिद्ध है। **देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्** इस प्रतिज्ञावाक्य के आधार पर स्व॰ श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इसका **समीचीन धर्मशास्त्र** नाम भी प्रख्यात किया है और उसी नाम से इस पर अपना भाष्य लिखा है। इस तरह इसके कई नाम प्रचलित हैं। नाम कुछ भी रहे, समाज में यह बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उपलब्ध श्रावकाचारों में यह सबसे प्राचीन और सुसंबद्ध श्रावकाचार है। श्रावकाचार का विवेचन इसमें सीमित किन्तु सारपूर्ण शब्दों में किया है। स्व॰ सदासुखदासजी कासलीवाल ने इस पर विस्तृत हिन्दी वचनिका लिखकर इसके प्रचार में बहुत हाथ बँटाया है। शायद ही कोई मन्दिर हो जहाँ इस वचनिका की प्रति न हो और शायद ही कोई वयस्क गृहस्थ हो जो इसका नाम न जानता हो।

सम्पादन-सामग्री

४६ वर्ष पूर्व श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार ने वीर निर्वाण संवत् २४५१ विक्रमाब्द १९८२ में रत्नकरण्डकश्रावकाचार का सम्पादन-

क-बम्बई के तेरापंथी मन्दिर की प्रति

ख-बारामती के पण्डित वासुदेव नेमिनाथ उपाध्याय की खुद की लिखी प्रति

ग-श्रीमान् सेठ हीराचन्द्र नेमिचन्द्रजी सोलापुर द्वारा प्राप्त प्रति

इन तीन प्रतियों के आधार पर किया था और उन्हीं के द्वारा लिखे आचार्य समन्तभद्र के विस्तृत इतिहास के साथ उनका प्रकाशन माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से उसके सुयोग्य मन्त्री स्व॰ पं॰ नाथूरामजी प्रेमी ने किया था। लगभग ५० वर्ष पूर्व, जबकि सम्पादन की आधुनिक विधाओं का प्रचलन नहीं हुआ था, आदरणीय मुख्तारजी ने जिस सूक्ष्मदृष्टि से ग्रन्थ का सम्पादन और पर्यालोचन किया था, वह आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उस समय था।

हमने इस संस्करण का सम्पादन मुख्तारजी द्वारा सम्पादित संस्करण के आधार पर किया है। ग्रन्थ के अन्त में मुख्तारजी ने जो शुद्धिपत्र दिया था, उसके आधार पर शुद्धि करने के साथ 'घ' प्रति के पाठभेद भी सम्मिलित कर दिये हैं। छूटी हुई पंक्तियों को 'घ' प्रति के आधार पर समाविष्ट किया है तथा मुद्रित प्रति में संस्कृत-टीकाकार के द्वारा उद्धृत कुछ गाथा या श्लोक आगे-पीछे हो गये थे, उन्हें 'घ' प्रति के आधार पर ठीक किया है या मूल से अलग कर उनकी सूचना टिप्पणी में दी है। यहाँ हमने अपने सम्पादन में आधारभूत अतिरिक्त प्रति की घ संज्ञा दी है। क, ख, ग प्रतियाँ हमने स्वयं देखी नहीं हैं। मात्र उनके आधार पर सम्पादित मुद्रित प्रति को देखकर उनका आधार स्वीकृत किया है। 'घ' प्रति का अवलोकन और आलोडन हमने किया है।

घ प्रति का परिचय

यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, ब्यावर की है, जो श्री पं० हीरालालजी शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इसके १२॥ × ६॥ साईज के ५१ पत्र हैं, प्रति पत्र में १० से १३ तक पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्ति में ४० से ४५ तक अक्षर है। चमकदार काली स्याही से देशी कागज पर लिखी गई है। लिपि सुन्दर है। श्लोक के नम्बर, परिच्छेदान्त पुष्पिकावाक्यों और विराम यष्टियों में लाल स्याही का उपयोग किया गया है। पत्र के बीच में कुछ बड़े अक्षरों में एक या दो मूल श्लोक लिखे गये हैं और ऊपर तथा नीचे संस्कृत टीका, अपेक्षाकृत छोटे अक्षरों में दी गई है। लेखन काल विक्रम संवत् १९११ फाल्गुन शुक्ला ८ है। ब्राह्मण रामगोपाल ने सवाईमाधोपुर में यह प्रतिलिपि की थी। दशलक्षणव्रत के उद्यापन के उपलक्ष्य में इस प्रति का लेखन कराया गया था। लिपि सुन्दर अवश्य है, पर लिपिकर्ता के संस्कृतज्ञ न होने से भाषा की अशुद्धियाँ रह गई हैं। कहीं-कहीं कुछ शब्द भी छूट गये हैं। फिर भी माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से मुद्रित संस्कृत टीका में अशुद्धियों के कारण जो पाठ संशयापन्न थे, वे इसमें ठीक मिले हैं। कितनी ही जगह महत्त्वपूर्ण पाठभेद प्राप्त हुआ है। इस प्रति के आधार से मुद्रित प्रति का संशोधन करने में सौकर्य हुआ।

स्व० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार आचार्य समन्तभद्र के प्रति बहुत आस्थावान थे। उनका गुणगान करते-करते वे गद्गद् हो जाते थे। भारतवर्षीय दिग० जैन विद्वत्परिषद् द्वारा, उनके सम्मान में एटा में आयोजित समारोह में, सम्मान का उत्तर देते हुए उन्होंने भरे कण्ठ से कहा था कि मुझे लगता है कि मैं समन्तभद्र स्वामी की शिष्य मण्डली में रहा हूँ। वे मेरे गुरुदेव थे। गुरुदेव के प्रति कृतज्ञताज्ञापन के क्षेत्र में, मैं कुछ भी नहीं कर सका हूँ। उन्होंने जैनधर्म को सर्वोदय तीर्थ के रूप में प्रख्यापित किया था, उसके उपलक्ष्य में जैन समाज उनके प्रति कुछ भी कृतज्ञता प्रकट नहीं कर सका है।

उन्हीं मुख्तारजी के द्वारा सम्पादित मूल रत्नकरण्डक-श्रावकाचार एवं उसकी संस्कृत टीका को अपनी हिन्दी टीका से विशिष्ट करके आगे बढ़ा रहा हूँ। इसके सम्पादन और पर्यालोचन के विषय में मुख्तारजी ने जो अपार श्रम किया है, उसका मैं अभिनन्दन करता हूँ।

इस संस्करण में मूल श्लोक के नीचे अन्वयार्थ, संस्कृत टीका का भाषानुवाद और विशेषार्थ है। टिप्पण में पाठभेद तथा अन्य ग्रन्थों के यथासम्भव प्राप्त तुलनात्मक अवतरण भी दिये हैं। संस्कृतटीका में आयी-आठ अंगों, पाँच अणुव्रतों, पाँच पापों, चार दानों और जिनपूजा विषयक २३ कथाओं का हिन्दी रूपान्तर भी दिया है। इस तरह इस संस्करण को, छात्रों, अध्यापकों तथा स्वाध्यायप्रेमियों-सभी के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार : परिचय—

'रत्नकरण्डक-श्रावकाचार' १५० श्लोकों का छोटा, किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को धर्म कहकर उनका वर्णन करते हुए सम्यक्

चारित्र के अन्तर्गत श्रावकाचार का निरूपण किया गया है। मूल ग्रन्थ के सात अधिकार हैं –१. सम्यग्दर्शनाधिकार, २. सम्यग्ज्ञानाधिकार, ३. अणुव्रताधिकार, ४. गुणव्रताधिकार, ५. शिक्षाव्रताधिकार, ६. सल्लेखनाधिकार और ७. प्रतिमाधिकार जबकि मूल ग्रन्थ में पाँच ही हैं। गुणव्रताधिकार को अणुव्रताधिकार में और प्रतिमाधिकार को सल्लेखनाधिकार के साथ मिलाकर पाँच अधिकार ही माने हैं और पाँच परिच्छेदों में ही ग्रन्थ का विभाजन कर टीका की है, में शामिल कर दिया है। ऐसा क्यों किया गया, यह विचारणीय है।

प्रथमाधिकार—धर्म का निरुक्तार्थ और वाच्यार्थ बतलाकर सम्यग्दर्शन का लक्षण लिखा है। तदनन्तर सम्यग्दर्शन के विषयभूत आप्त, आगम और गुरु का स्वरूप बतलाकर सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के लक्षण दिये हैं। यद्यपि सब लक्षण एक-एक ही श्लोक में हैं, पर वे इतने सारपूर्ण शब्दों में लिखे गये हैं कि उससे ग्रन्थकर्ता का पूरा भाव समझ में आ जाता है। इनकी संक्षिप्त लक्षणावली को देखकर लगता है जैसे ग्रन्थकर्ता ने पद्यात्मक सूत्र रचना को ही प्रकट करना चाहा हो। आठ अंगों के लक्षणों के बाद उनमें प्रसिद्ध होने वाले पुरुषों की नामावली दी है। तदनन्तर अंगों की उपयोगिता, आठ मद और तीन मूढ़ताओं आदि का सर्वोत्तम वर्णन किया है। सम्यग्दृष्टि के लिए भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम आदि नहीं करना चाहिए, इसका बड़ी दृढ़ता के साथ वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। सम्यग्दृष्टि अव्रती होने पर भी क्या-क्या नहीं होता और सम्यग्दर्शन के प्रभाव से क्या क्या होता है, इसका आर्यागीति छन्दों में अच्छा वर्णन किया है। अधिकार के अन्त में एक बसन्ततिलका द्वारा उक्त कथन का उपसंहार किया है।

द्वितीयाधिकार— सम्यग्ज्ञान का लक्षण देते हुए उससे मानव के पुरुषार्थ साध्य श्रुतज्ञान की विवक्षा की गई है। श्रुतज्ञान, द्रव्यश्रुत पर निर्भर है और द्रव्यश्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग इन चार वर्गों में विभक्त है। यहाँ चारों अनुयोगों के पृथक्-पृथक् लक्षण दिये गये हैं। जान पड़ता है कि चार अनुयोगों द्वारा समस्त शास्त्रों का वर्गीकरण सर्वप्रथम समन्तभद्र स्वामी ने किया है।

तृतीयाधिकार—सम्यक् चारित्र किसे होता है और किसलिए वह धारण किया जाता है, इसका दो श्लोकों में उल्लेख कर चारित्र का लक्षण तथा उसके सकल और विकल दो भेदों और उनके स्वामियों की चर्चा की है। यहाँ पंच पाप के त्याग को चारित्र संज्ञा दी गई है। श्रावकाचार के वर्णन का मुख्य उद्देश्य होने से 'सकलचारित्र सर्वपरिग्रह के त्यागी मुनियों के होता है, इतनी और सूचना देकर श्रावकों के विकलचारित्र के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह अवान्तर भेद बताये हैं। सर्वप्रथम अणुव्रत का सामान्य लक्षण देकर पश्चात् अहिंसादि पाँचों

अणुव्रतों के लक्षण तथा अतिचार वर्णित किये हैं। उमास्वामी महाराज ने अणुव्रतों आदि के जो अतिचार तत्त्वार्थसूत्र में परिगणित किये हैं उनमें क्वचित् हेर-फेर भी यहाँ किया गया है। अन्त में अणुव्रतों का फल, उनमें तथा पाँच पापों में प्रसिद्ध पुरुषों की नामावली प्रकट कर आठ मूलगुणों का उल्लेख किया है। यहाँ मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को आठ मूलगुण बताया गया है।

चतुर्थाधिकार—इसमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इनको गुणव्रत कहा गया है। इन्हें गुणव्रत इसलिए कहते हैं कि ये अणुव्रतों का अनुबृंहण-उत्कर्षण करते हैं। दिग्व्रत का स्वरूप, दिग्व्रत धारण करने का फल, उसके अतिचार, प्रसंगवश महाव्रत का लक्षण, अनर्थदण्ड का लक्षण, उसके पाँच भेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण, उसके अतिचार, भोगोपभोगपरिमाणव्रत का लक्षण, भोग-उपभोग का स्वरूप, मद्यादिक के त्याग की आवश्यकता, यम-नियम का स्वरूप, भोग-उपभोग के त्याग करने की विधि और भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार इन सबका प्रतिपादन है। यहाँ भोगोपभोगपरिमाण के अतिचारों में तत्त्वार्थसूत्र प्रतिपादित अतिचारों की अपेक्षा भिन्नता है, जो विचार के विकास को व्यक्त करती है।

पञ्चमाधिकार—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन चार शिक्षाव्रतों के नाम देकर प्रत्येक शिक्षाव्रत का यथासम्भव विस्तार से वर्णन किया है। देशावकाशिक व्रत का लक्षण, उसका फल, उसके अतिचार, सामायिक का स्वरूप, उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का वर्णन, उसका चिंतन विषय, उसके अतिचार, प्रोषधोपवास का लक्षण, उसकी विधि, प्रोषध के दिन त्याज्य कार्यों का उल्लेख तथा उसके अतिचारों का कथन किया गया है। अन्त में वैयावृत्य शिक्षाव्रत का वर्णन करते हुए दान, उसके भेद, फल और अतिचारों का निरूपण है। यहाँ अतिथि-संविभाग के स्थान में ग्रन्थकर्ता को वैयावृत्य नाम अधिक रुचिकर हुआ है, ऐसा जान पड़ता है।

षष्ठाधिकार—सल्लेखना का लक्षण, उसकी विधि, उसे धारण करने पर बल देते हुए उसका फल निःश्रेयस (मोक्ष) और अभ्युदय (स्वर्गादि वैभव) का कथन है। सल्लेखना के पाँच अतिचारों का भी निरूपण है।

सप्तमाधिकार—श्रावकों के ग्यारह पदों का निर्देश कर प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् लक्षण दिया गया है। अष्टपाहुड में कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्यारह प्रतिमाओं का नामोल्लेख भर किया है, उसका स्वरूप नहीं दिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने प्रतिमाओं की कोई चर्चा नहीं की। यहाँ उनका संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण ढंग से उल्लेख किया गया है। अन्त में ज्ञाता, प्रतिपादन का लक्षण देकर दो श्लोकों में ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

इस प्रकार यह श्रावकाचार श्रावकधर्म पर प्रकाश डालने वाला एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसकी भाषा विशद, प्रौढ़ और अर्थगाम्भीर्य को लिए हुए है। सचमुच ही यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों का करण्डक (पिटारा) है। इससे पहले का कोई श्रावकाचार देखने-सुनने में नहीं आता। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, सोमदेव का उपासकाध्ययन, अमितगतिश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत और लाटीसंहिता आदि जो श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ हैं, वे सब इसके पीछे के हैं। इसलिए उपलब्ध जैन साहित्य में इसे आद्य श्रावकाचार कहा जाता है। अल्पकाय होने से बालक-बालिकाओं तथा स्त्री-पुरुषों सभी को कण्ठस्थ करने के योग्य है। यह ग्रन्थ जैन विद्यालयों में ही नहीं, अनेक हाईस्कूलों में भी पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है तथा हजारों विद्यार्थी प्रतिवर्ष इसका अध्ययन करते हैं।

मोक्षमार्ग

यद्यपि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव वाला है तथापि अनादिकाल से कर्मसंयुक्त दशा में रागी-द्वेषी होता हुआ स्वभाव से च्युत हो रहा है तथा स्वभाव से च्युत होने के कारण ही चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहा है। इस जीव का अनन्त काल ऐसी पर्याय में व्यतीत हुआ है जहाँ इसे एक श्वास के भीतर अठारह बार जन्म-मरण करना पड़ा है। अन्तर्मुहूर्त के भीतर इसे छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्रभव धारण करना पड़े हैं। इन क्षुद्र भवों के भीतर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियों तक की पर्याय इसने धारण की है। जिस प्रकार आतिशबाजी की चकरी के घूमने में कारण, उसके भीतर भरी हुई बारूद है उसी प्रकार जीव के चतुर्गति में घूमने का कारण, उसके भीतर विद्यमान रागादिक विकारी भाव हैं। संसार दुःखमय है, इस दुःख से छुटकारा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। जीव और कर्मरूप पुद्गल का पृथक्-पृथक् हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष-प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता का वर्णन किया है। जब तक ये तीनों एक साथ प्रकट नहीं हो जाते तब तक मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शनादिक आत्मा के स्वभाव होने से धर्म कहलाते हैं और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म कहलाते हैं। अधर्म से संसार और धर्म से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मोक्ष के अभिलाषी जीवों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म का आश्रय लेना चाहिए। यहाँ तीनों के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाता है।

अनुयोगों के अनुसार सम्यग्दर्शन के विविध लक्षण

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार का

---

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ रत्न.श्रा.
अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं॥ ६॥ वसु.श्रा.

है। इन अनुयोगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा की गई है। प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रायः इस प्रकार बताया गया है कि[१] परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित तथा आठ अंगों से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति देव कहलाता है। जैनागम में अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठी को देवसंज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्यों के द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयों की आशा से रहित निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह एवं ज्ञान, ध्यान और तप में लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति इन्हीं देव, शास्त्र, गुरु के आश्रय से हो सकती है। अतः इनकी दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की प्रतीति नहीं करना चाहिए।

द्रव्यानुयोग में प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों एवं पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थों की चर्चा आती है अतः द्रव्यानुयोग में सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान को[१] बताया गया है। तत्त्व रूप अर्थ, अथवा तत्त्व-अपने-अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा परमार्थ[२] रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयी में अभेद मानकर जीवादि पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्थात् इन नौ पदार्थों का परमार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोग में स्व-पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योंकि आस्रवादिक तत्त्व स्व-जीव और पर-कर्म रूप अजीव के संयोग से होने वाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं। अतः स्व-पर में ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा इसी द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत अध्यात्म ग्रन्थों में पर-द्रव्यों से भिन्न [३]आत्म द्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही हैं। स्व का निश्चय होने से पर स्वतः छूट जाता है।

मूल में तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। चेतना लक्षण वाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव-पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेदों से पाँच प्रकार का है परन्तु यहाँ उन सबसे प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो जीव के साथ संयोग को प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप अजीव से प्रयोजन है। चैतन्य स्वभाव वाले जीव के साथ अनादिकाल से ये नोकर्म-शरीर,

---

१. 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। - तत्त्वार्थसूत्र

२. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १३॥ समयसार

३. 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः' -पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २१६

द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादिक और भावकर्म-रागादिक लग रहे हैं। ये किस कारण से लग रहे हैं, जब इसका विचार आता है तब आस्रवतत्त्व उपस्थित होता है। आस्रव के बाद जीव और अजीव की क्या दशा होती है, यह बताने के लिए बन्ध तत्त्व आता है। आस्रव का विरोधी भाव संवर है, बन्ध का विरोधी भाव निर्जरा है तथा जब सब नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म जीव से सदा के लिए सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं तब मोक्षतत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्रव के अन्तर्गत हैं। इस तरह आत्मकल्याण के लिए उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इनका वास्तविक रूप से निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा न हो कि आस्रव और बन्ध के कारणों को संवर और निर्जरा का कारण समझ लिया जाय अथवा जीव की रागादिक पूर्ण अवस्था को जीवतत्त्व समझ लिया जाय या जीव की वैभाविक परिणति (रागादिक) को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय, क्योंकि ऐसा समझने से वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो पाता और सही निर्णय के अभाव में यह आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं हो पाता है। जिन भावों को यह जीव मोक्ष का कारण मानकर करता है वे भाव पुण्यास्रव के कारण होकर इस जीव को देवादि गतियों में सागरों पर्यन्त के लिए रोक लेते हैं। सात तत्त्वों में जीव और अजीव का जो संयोग है वह संसार है तथा आस्रव और बन्ध उसके कारण हैं। जीव और अजीव का जो वियोग-पृथग्भाव है वह मोक्ष है तथा संवर और निर्जरा उसके कारण हैं। जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग, इसके कारण, रोगमुक्ति और उसके कारण-चारों का जानना आवश्यक है उसी प्रकार इस जीव को संसार, इसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण-चारों का जानना आवश्यक है।

करणानुयोग में, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धान गुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोग के इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से हो जाता है। परन्तु शेष अनुयोगों के सम्यग्दर्शन होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। मिथ्यात्व प्रकृति के अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में सातवें नरक की आयु का बन्ध होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में नौवें ग्रैवेयक की आयु का बन्ध होता है। एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में इस जीव के मुनिहत्या का भाव होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय में स्वयं मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्व के उदय में कृष्ण लेश्या होती है और एक मिथ्यात्व के उदय में शुक्ललेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्वप्रकृति का मन्द, मन्दतर उदय चलता है, उस समय इस जीव के करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पड़ता है परन्तु करणानुयोग के अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृति का उसके संवर नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष

के प्रकरण में करणानुयोग का सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अन्य अनुयोगों का नहीं। यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की महिमा सर्वोपरि है तथा उसे पुरुषार्थपूर्वक-बुद्धिपूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस जीवन का पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये ही अग्रसर होता है अर्थात् यह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगम का अभ्यास कर तत्त्वों का निर्णय करता है। इन सबके होते हुए अनुकूलता होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन स्वतः प्राप्त हो जाता है और उसके प्राप्त होते ही यह संवर और निर्जरा को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन के विविध लक्षणों का समन्वय

उपर्युक्त विवेचन से सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित पाँच लक्षण सामने आते हैं -

१. परमार्थ देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति।

२. तत्त्वार्थश्रद्धान।

३. स्व-पर का श्रद्धान।

४. आत्मा का श्रद्धान।

५. सप्त प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धागुण की निर्मल परिणति।

इन लक्षणों में पाँचवाँ लक्षण साध्य है और शेष चार उसके साधन हैं। जहाँ इन्हें सम्यग्दर्शन कहा है वहाँ कारण में कार्य का उपचार समझना चाहिए। जैसे अरहन्त देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा होने से व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा दूर होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है, सर्वथा सम्यग्दर्शन का वह लक्षण नहीं है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहारधर्म के धारक मिथ्यादृष्टि जीवों के भी अरहंतादिक का श्रद्धान होता है। अथवा जिस प्रकार अणुव्रत, महाव्रत धारण करने पर देशचारित्र, सकलचारित्र होता भी है और नहीं भी होता है। परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किये बिना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता है, इसलिए अणुव्रत, महाव्रत को अन्वय रूप कारण जान कर कारण में कार्य का उपचार कर इन्हें देशचारित्र, सकलचारित्र कहा है। इसी प्रकार अरहंतदेवादिक का श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु अरहंतादिक की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता। इसलिए अन्वयव्याप्ति के अनुसार कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थश्रद्धान रूप लक्षण में भी संघटित करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यलिंगी अपने क्षयोपशम के अनुसार तत्त्वार्थ का ज्ञान प्राप्त कर उसकी श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धा की किसी बात को आश्रय नहीं देता, तत्त्वार्थ का ऐसा विशद व्याख्यान करता है कि उसे सुनकर अन्य मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं परन्तु परमार्थ से वह स्वयं मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धा

में कहाँ चूक रहती है, यह प्रत्यक्षज्ञानी जानते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तत्त्वार्थश्रद्धानपूर्वक होगी। अत: कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूल रूप से 'शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है' ऐसा स्व-पर का भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनि को भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, घानी में पेल दिये जाने पर भी संक्लेश नहीं करता और शुक्ललेश्या के प्रभाव से नौवे ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होने की योग्यता रखता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्व-पर भेदविज्ञान में जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे जनसाधारण नहीं जान सकता। वह चूक प्रत्यक्षज्ञान का ही विषय है। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है। परन्तु उसकी प्राप्ति में स्व-पर का भेदविज्ञान कारण पड़ता है। अत: कारण में कार्य का उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषाय की मन्दता से उपयोग की चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थिति में द्रव्य लिंगी मुनि का उपयोग भी परपदार्थ से हट कर स्व में स्थिर होने लगता है। स्वद्रव्य आत्मद्रव्य की वह बड़ी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव का ऐसा भावविभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवों को भी आत्मानुभव होने लगता है परन्तु वह स्वयं मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थिति में इस आत्मश्रद्धान को करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का साधन मानकर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणों में सूक्ष्म चूक रहती है उसे छद्मस्थ जान नहीं सकता, इसलिये व्यवहार से इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनके होते हुए भी सम्यक्त्व का घात करने वाली सात प्रकृतियों का उपशमादिक होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्व-पर श्रद्धान और आत्मश्रद्धान ये चारों लक्षण एक-दूसरे के बाधक नहीं हैं क्योंकि एक के होने पर दूसरे लक्षण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। पात्र की योग्यता देखकर आचार्यों ने विभिन्न शैलियों से वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरण प्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को, ज्ञानप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा तत्त्वार्थश्रद्धान को और कषाय जनित विकल्पों की मन्द-मन्दतर अवस्था को मुख्यता देने की अपेक्षा स्व-पर श्रद्धान तथा आत्मश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यता के अनुसार चारों शैलियों को अपनाया जा सकता है। इन चारों शैलियों में भी यदि मुख्यता और अमुख्यता की अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थश्रद्धान रूप ज्ञानप्रधान शैली मुख्य जान पड़ती है क्योंकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियों को बल मिलता है।

सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है ?

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं- एक अनादिमिथ्यादृष्टि और दूसरे सादिमिथ्यादृष्टि। जिसे आज

तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है। वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता रहती है क्योंकि दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीन प्रकृतियों में से एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही बन्ध होता है, शेष दो का नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से यह जीव मिथ्यात्वप्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति के भेद से तीन खण्ड करता है, इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवों में मोहनीयकर्म की सत्ता के तीन विकल्प बनते हैं– एक अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला। जिस जीव के दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला है। जिस जीव ने सम्यक्त्वप्रकृति की उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला है और जिसने सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला है।

सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करते हैं, क्योंकि अनादिमिथ्यादृष्टि को सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशम की चर्चा आगे की जायेगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक भव्य जीव को ही होता है अन्य को नहीं। भव्यों में भी उसी को होता है जिसका संसार भ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन के काल से अधिक बाकी नहीं है। लेश्याओं के विषय में यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चों के तीन शुभ लेश्याओं में से कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियों के जहाँ जो लेश्या बतलाई है उसी में औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये गोत्र का प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् जहाँ उच्च-नीच गोत्रों में से जो भी सम्भव हो उसी गोत्र में सम्यग्दर्शन हो सकता है। कर्मस्थिति के विषय में चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, इससे अधिक स्थितिबन्ध पड़ने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त-प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग चतुःस्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता और भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिस सादि मिथ्यादृष्टि के आहारक शरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग की सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नहीं

होता। अनादि मिथ्यादृष्टि के इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्व को तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह वेदक काल में रहता है। वेदक काल के भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है तो वह वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। वेदक काल के विषय में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्याय में भ्रमण करता है वह संज्ञी पंचेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों की स्थिति एक सागर से कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो नियम से उसे वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव विकलत्रय में परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की स्थिति पृथक्त्व सागर प्रमाण शेष रहने तक उसका वेदक काल कहलाता है। इस काल में यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है। तो नियम से वेदक-क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्व प्रकृति की अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति- दोनों की उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादिमिथ्यादृष्टियों में २६ या २७ प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु २८ प्रकृति की सत्ता वाले जीव के वेदक काल के भीतर दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ, वेदक काल के निकल जाने पर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोगयुक्त, चारों गति वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख होता है तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पाँच लब्धियों को प्राप्त होता है।[१] इनमें करण लब्धि को छोड़कर शेष चार लब्धियाँ सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों को प्राप्त होती हैं परन्तु करण लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है। उपर्युक्त लब्धियों का स्वरूप इस प्रकार है-

१. क्षायोपशमिक लब्धि—पूर्व संचित कर्मपटल के अनुभाग स्पर्धकों का, विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

१. चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुवगमई॥ ६५२॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड
खउउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते॥ ६५१॥ - गोम्मटसार जीवकाण्ड

२. विशुद्धि लब्धि—सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध में कारणभूत परिणामों की प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

३. देशना लब्धि—छहों द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं। उक्त देशना के दाता आचार्य आदि की लब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते हैं।

४. प्रायोग्य लब्धि—आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण कर देना और अशुभकर्मों में से घातिया कर्मों के अनुभाग को लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम और कांजी इन दो स्थान गत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

५. करण लब्धि - करण भावों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले करणों-भावों की प्राप्ति को करण लब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं– अथाप्रवृत्तकरण अथवा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण–परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हें अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा सार्थक नाम अधःकरण है। जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते-जुलते हो उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें सम-समयवर्ती तथा विषम समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान-दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के परिणाम एक से लेकर दस नम्बर तक के हैं और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम छह से लेकर पन्द्रह नम्बर तक के हैं। पहले समय में रहने वाले जीव के छह से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार प्रथम समयवर्ती अनेक जीवों के एक से लेकर दस तक के परिणामों से समान परिणाम हो सकते हैं। अर्थात् किन्हीं दो जीवों के चौथे नम्बर का परिणाम है और किन्हीं दो जीवों के पाँच नम्बर का परिणाम है। यह परिणामों की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होती है। इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धि को लिए हुए असंख्यात लोकप्रमाण करण-परिणाम होते हैं।

जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के यदि एक से दस नम्बर तक के परिणाम हैं तो दूसरे समय में रहने वाले जीव के ग्यारह से बीस नम्बर तक के परिणाम होते हैं। अपूर्वकरण में सम समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे, पहले समय में रहने वाले और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम कभी समान नहीं होते परन्तु पहले अथवा दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवों की अपेक्षा है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त

प्रमाण है। परन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध:प्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में सम समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और विषम समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है इसलिये उस समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयों में जो जीव होगे उनके परिणाम भिन्न ही होगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। इन तीनों करणों में परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणों में से पहले अथाप्रवृत्त अथवा अध:करण में चार आवश्यक होते हैं– १. समय–समय में अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। २. प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है। ३. प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणा बढ़ता जाता है और ४. प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तवाँ भाग घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरण में निम्नलिखित आवश्यक और होते हैं। १. सत्ता में स्थित पूर्व कर्मों की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर घटती जाती है अत: स्थितिकाण्डक घात होता है। २. प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और ३. गुणश्रेणी के काल में क्रम से असंख्यातगुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते हैं इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण नाम का आवश्यक नहीं होता। किन्तु चारित्रमोह का उपशम करने के लिए जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है। अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरण के काल से संख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर [1]अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्म के निषेकों का अन्तर्मुहूर्त के लिए अभाव होता है। अन्तरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण के द्वारा अभाव रूप किये हुए निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में आने वाले थे उन्हें उदय के अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियों

१. किमंतरकरणं णाम ? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमंतरकरणमिदि भण्णदे।–जयधवल, पु. १२, पृ. २७२॥
अर्थ– अन्तरकरण का क्या स्वरूप है ? उत्तर–विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में मिथ्यात्वप्रकृति के तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिक में, अनिवृत्तिकरण के चरम समय में तीन खण्ड करता है, सूचित किया है।[१] तदनन्तर चरम समय में मिथ्यादर्शन के तीन भाग करता है– सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन तीन प्रकृतियों तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों का इस प्रकार सात प्रकृतियों के उदय का अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवला पुस्तक ६ के पढमसम्मत्तुप्पत्ति चूलिका में) के निम्नलिखित सूत्रों में भी प्रकट किया गया है–

ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥७॥

अर्थ–अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है–सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।

दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥

अर्थ–मिथ्यात्व के तीन भाग करने के पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता है।

द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन

औपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद हैं। इनमें से प्रथमोपशम किसके और कब होता है, इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है द्वितीयोपशम की चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कोई मनुष्य पर्याय का जीव जो मुनि अवस्था चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक कहीं भी स्थित है, वह जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना एवं दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों का प्रशस्त उपशम करके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है, इस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव उपशम श्रेणी माढकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँ से पतन कर नीचे आता है पतन की अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थानों में भी इसका सद्भाव रहता है। फिर सहस्रों बार छठे-सातवें गुणस्थान में आ-जाकर सप्तम गुणस्थान में सातिशय अप्रमत्त कहलाता है। यह जीव फिर उपशम श्रेणी आरोहण करता है।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय आने

---

१. ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्तं करोति–सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति। एतासां तिसृणां प्रकृतीनां अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्त्तकालं प्रथमसम्यक्त्वं भवति।
तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. ९, सू. १. वा. १३॥

वाले निषेकों का सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति का उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वैसे ये दोनों है पर्यायवाची।

इसकी उत्पत्ति सादिमिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के हो सकती है। सादिमिथ्यादृष्टियों में जो वेदककाल के भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियों में जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदकसम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को, चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।[१] दर्शनमोहनीय की क्षपणा का आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में।[२] परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियों में हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदकसम्यक्त्वपूर्वक ही होता है तथा चौथे से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नहीं है जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात बार होकर छूट सकते हैं। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भव में मोक्ष चला जाता है या तीसरे भव में या चौथे भव में, चौथे भव से अधिक संसार में नहीं रहता।[३] जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होने से नरक में जाता है अथवा देवगति में उत्पन्न होता है वह वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इसलिये वह तीसरे भव में मोक्ष जाता है और जो भोगभूमि में मनुष्य या तिर्यञ्च होता है वह वहाँ से देवगति में आता है। वहाँ से आकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार चौथे भव में उसका मोक्ष जाना बनता है।[४] चारों गति सम्बन्धी आयु का बन्ध होने

---

१. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ॥६४८॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

२. स्वयं श्रुतकेवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुतकेवली के सन्निधान की आवश्यकता नहीं रहती।

३. दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय-तुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं वा॥६४६॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड क्षेपक

४. चत्तारि वि खेत्ताइं, आउगबंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥६५३॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

पर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारों गतियों में जाना सम्भव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्व के काल में यदि मनुष्य और तिर्यञ्च के आयुबन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बन्ध होता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरंग कारण

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरंग कारण दो हैं– एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। जो स्वयं कार्य रूप परिणत होता है वह उपादानकारण कहलाता है। और जो कार्य की सिद्धि में सहायक होता है वह निमित्तकारण कहलाता है। अन्तरंग और बहिरंग के भेद से निमित्त के दो भेद हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपादानकारण [१]आसन्नभव्यता आदि विशेषताओं से युक्त आत्मा है। अन्तरंग निमित्तकारण सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक सात प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षयोपशम है और बहिरंग निमित्तकारण सद्‌गुरु आदि हैं। अन्तरंग निमित्तकारण के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है परन्तु बहिरंग निमित्त के मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। सम्यग्दर्शन के बहिरंग निमित्त चारों गतियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे नरकगति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदनानुभव ये तीन, चौथे से सातवें तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्च और मनुष्यगति में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन ये तीन, देवगति में बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार, तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरंग निमित्त हैं। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वहाँ बहिरंग निमित्त की आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ में सर्वार्थसिद्धि का निर्देशस्वामित्व आदि सूत्र तथा धवला पुस्तक ६ पृ. ४२० आदि का प्रकरण दृष्टव्य है।

सम्यग्दर्शन के भेद

उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो भेद हैं। जो पूर्व संस्कारों की प्रबलता से परोपदेश के बिना हो जाता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है और जो पर के उपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन दोनों भेदों में अन्तरंग कारण–सात प्रकृतियों का उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकारण की अपेक्षा दो भेद होते हैं।

करणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद होते हैं। जो सात प्रकृतियों के उपशम से होता है वह औपशमिक कहलाता है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम की अपेक्षा दो भेद हैं। जो सात प्रकृतियों के क्षय से होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो सर्वघाती छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा

---

१. आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते॥सागारधर्मामृत अ. १, का. ३।

सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति के उदय से होता है उसे क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अवान्तरभेद है। दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने वाले जिस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के मात्र सम्यक्त्वप्रकृति का उदय शेष रह जाता है, शेष की क्षपणा हो चुकी है उसे कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

चरणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। वहाँ परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धा करने को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टि की पच्चीस दोषों से रहित जो प्रवृत्ति है उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। शंकादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ताएँ ये व्यवहार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहलाते हैं।[१] द्रव्यानुयोग की पद्धति से भी सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहाँ जीवाजीवादि सात तत्त्वों के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं और सात तत्त्वों के विकल्प से सहित श्रद्धान को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं।[२]

अध्यात्म में वीतरागसम्यग्दर्शन और सरागसम्यग्दर्शन के भेद से दो भेद होते हैं। यहाँ आत्मा की विशुद्धि मात्र को वीतरागसम्यग्दर्शन कहा है और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों की अभिव्यक्ति को सरागसम्यग्दर्शन कहा है।

आत्मानुशासन में ज्ञानप्रधान निमित्तादिक की अपेक्षा १. आज्ञा सम्यक्त्व, २. मार्गसम्यक्त्व, ३. उपदेश सम्यक्त्व, ४. सूत्र सम्यक्त्व, ५. बीज सम्यक्त्व, ६. संक्षेप सम्यक्त्व, ७.विस्तार सम्यक्त्व, ८. अर्थ सम्यक्त्व, ९. अवगाढ़ सम्यक्त्व और १०. परमावगाढ़ सम्यक्त्व ये दश भेद कहे हैं।[३]

मुझे जिन आज्ञाप्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञा की प्रधानता से जो सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरवर्ती पदार्थों का श्रद्धान होता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं। आगमज्ञ पुरुषों के उपदेश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन उपदेश सम्यग्दर्शन कहलाता है। मुनि के आचार का प्रतिपादन करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं। गणित ज्ञान के कारण बीजों के समूह से जो

---

१. मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥२४१॥ सोमदेव उपासकाध्ययन

२. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥२०॥ दर्शनपाहुड

३. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढं च॥११॥ आत्मानुशासन

सम्यक्त्व होता है उसे बीज सम्यक्त्व कहते हैं। पदार्थों के संक्षेप रूप विवेचन को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं। विस्तार रूप जिनवाणी को सुनने से जो श्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं। जैनशास्त्र के वचन बिना किसी अन्य अर्थ के निमित्त से जो श्रद्धा होती है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं। श्रुतकेवली के तत्त्वश्रद्धान को अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं और केवली के तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। इन दश भेदों में प्रारम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपना की अपेक्षा किये गए हैं। इस प्रकार शब्दों की अपेक्षा संख्यात, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के अनन्त भेद होते हैं।

सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेक्षा वर्णन

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने पदार्थ के जानने के उपायों का वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायों का वर्णन किया है।[१] यहाँ सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में इन उपायों का भी विचार करना उचित जान पड़ता है। वस्तु के स्वरूप निर्देश को निर्देश कहते हैं। वस्तु के आधिपत्य को स्वामित्व कहते हैं। वस्तु की उत्पत्ति के निमित्त को साधन कहते हैं। वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। वस्तु की कालावधि को स्थिति कहते हैं और वस्तु के प्रकारों को विधान कहते हैं। संसार के किसी भी पदार्थ के जानने में इन छह उपायों का आलम्बन लिया जाता है।

यहाँ सम्यग्दर्शन का निर्देश – स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देने के लिए कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना, अथवा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शन का निर्देश है। सम्यग्दर्शन का स्वामी कौन है ? इस प्रश्न का विचार सामान्य और विशेष रूप से किया गया है। सामान्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीव के ही होता है, अतः वही इसका स्वामी है। विशेष की अपेक्षा विचार इस प्रकार है[२]–

गति की अपेक्षा नरकगति में सभी पृथिवियों के पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। प्रथम पृथिवी में पर्याप्तकों के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं तथा अपर्याप्तकों के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयादि पृथिवियों में अपर्याप्तकों के एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। तिर्यञ्चगति में औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यञ्चों के ही होता है और क्षायिक तथा

---

१. ''निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः'' तत्त्वार्थसूत्र १-७

२. विशेष की अपेक्षा निम्नलिखित चौदह मार्गणाओं में होता है–
गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥ १४२॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनों के होते हैं। अपर्याप्तक तिर्यञ्चों के सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यञ्चों की अपेक्षा होते हैं। तिरश्चियों के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों ही अवस्थाओं में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्यों के ही होता है और क्षपणा के पहले तिर्यञ्च आयु का बन्ध करने वाला मनुष्य, भोगभूमि के पुरुषवेदी तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यञ्चों में नहीं। नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तक तिरश्चियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्यों के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्यों के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्यों के नहीं, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन में किसी का मरण होता नहीं है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन में मरा हुआ जीव नियम से देवगति में ही जाता है। मानुषी-स्त्रीवेदी मनुष्यों के पर्याप्तक अवस्था में तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्था में एक भी नहीं होता। मानुषियों के जो क्षायिक सम्यग्दर्शन बतलाया है वह भाववेद की अपेक्षा होता है द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं। देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवों में उत्पन्न होते हैं। इस अपेक्षा वहाँ अपर्याप्तक अवस्था में भी औपशमिक सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवांगनाओं तथा सौधर्मैशान की देवांगनाओं के अपर्याप्तक अवस्था में एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्था में नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। स्वर्ग में देवियों का सद्भाव यद्यपि सोलहवें स्वर्ग तक रहता है तथापि उनकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक ही होती है इसलिए आगे की देवियों का पहले-दूसरे स्वर्ग की देवियों में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए।

इन्द्रियों की अपेक्षा संज्ञी पंचेन्द्रियों को तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य इन्द्रिय वालों के एक भी नहीं होता। काय की अपेक्षा त्रसकायिक जीवों के तीनों होते हैं परन्तु स्थावरकायिक जीवों के एक भी नहीं होता। त्रियोगियों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अयोगियों के मात्र क्षायिक ही होता है। वेद की अपेक्षा तीनों वेदों में तीन सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपगतवेद वालों के औपशमिक और क्षायिक ही होते हैं। यहाँ वेद से तात्पर्य भाववेद से है। कषाय की अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायों में तीनों होते हैं परन्तु अकषाय-कषायरहित जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं। औपशमिक मात्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है। ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के धारक जीवों के तीनों होते हैं परन्तु केवलज्ञानियों के एक क्षायिक ही होता है। संयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के धारक जीवों के तीनों होते हैं। परिहारविशुद्धि वालों के औपशमिक नहीं होता, शेष दो होते हैं, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात वालों के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं और संयतासंयत तथा असंयतों के तीनों होते हैं। दर्शन की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु

और अवधिदर्शन के धारक जीवों के तीनों होते हैं परन्तु केवलदर्शन के धारक जीवों के एक क्षायिक ही होता है। लेश्या की अपेक्षा छहों लेश्या वालों के तीनों होते हैं परन्तु लेश्यारहित जीवों के एक क्षायिक ही होता है। भव्य जीवों की अपेक्षा भव्यों के तीनों होते हैं परन्तु अभव्यों के एक भी नहीं होता। सम्यक्त्व की अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है वहाँ उसे ही जानना चाहिए। संज्ञी की अपेक्षा संज्ञियों के तीनों होते हैं, असंज्ञियों के एक भी नहीं होता। संज्ञी और असंज्ञी के व्यपदेश से रहित सयोगकेवली और अयोगकेवली के एक क्षायिक ही होता है। आहार की अपेक्षा आहारकों के तीनों होते हैं, छद्मस्थ अनाहारकों के भी तीनों होते हैं परन्तु समुद्घातकेवली एवं अयोगि अनाहारकों के एक क्षायिक ही होता है।

सम्यग्दर्शन के साधन क्या हैं ?

इसका उत्तर सम्यग्दर्शन के अन्तरंग और बहिरंग कारणों के सन्दर्भ में आ चुका है।

सम्यग्दर्शन का अधिकरण क्या है ?

अधिकरण के बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण स्व-स्वामिसम्बन्ध के योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजू चौड़ी तथा चौदह राजू लम्बी लोकनाड़ी है।

सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है ?

औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठ सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता, इसलिए इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि अनन्त है परन्तु संसार में रहने की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व तथा तैंतीस सागर की है।

सम्यग्दर्शन का विधान क्या है ?

सम्यग्दर्शन के विधान-भेदों का वर्णन पिछले स्तम्भ में आ चुका है।

सम्यक्त्व मार्गणा और उसका गुणस्थानों में अस्तित्व

सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छह भेद हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमें प्रथमोपशम चौथे से लेकर सातवें तक और द्वितीयोपशम चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर सातवें तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर चौदहवें तक तथा सिद्ध अवस्था में भी रहता है। सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा तीसरे गुणस्थान में, सासादनमार्गणा दूसरे गुणस्थान में और मिथ्यात्वमार्गणा पहले गुणस्थान में ही होती है। सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होती है।

इसमें जीव के परिणाम दही और गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों रूप होते हैं। इस मार्गणा में किसी का मरण नहीं होता और न मारणान्तिक समुद्घात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल एक समय से लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक कषाय का उदय आने से जिसका सम्यक्त्व आसादना–विराधना से सहित हो गया है वह सासादन कहलाता है। जहाँ मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से अतत्त्वश्रद्धान रूप परिणाम होता है वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के अगृहीत और गृहीत की अपेक्षा दो भेद; एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक की अपेक्षा पाँच भेद अथवा गृहीत, अगृहीत और सांशयिक की अपेक्षा तीन भेद होते हैं।[१]

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

जिन्हें मिलाकर अंगी की पूर्णता होती है अथवा अंगी को अपना कार्य पूर्ण करने में जो सहायक होते हैं उन्हें अंग कहते हैं। मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार हाथ, पैर आदि आठ अंग होते हैं उन आठ अंगों के मिलने से ही मनुष्य के शरीर की पूर्णता होती है और वे अंग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करने में सहायक होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंग हैं। इन आठ अंगों के मिलने से ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शन को अपना कार्य करने में उनसे सहायता मिलती है। कुन्दकुन्द स्वामी ने अष्टपाहुड के अन्तर्गत चारित्रपाहुड में चारित्र के सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरण का निम्नलिखित गाथाओं में वर्णन किया है–

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥
णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठो य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥
तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणा य।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारितं ॥८॥

ऐसा जानकर हे भव्य जीवो! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शंकादि मिथ्यात्व के दोषों का तीनों योगों से परित्याग करो।

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं।

निःशंकितादि गुणों से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिनसम्यक्त्व कहलाता है तथा जिनसम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थान की प्राप्ति के लिए निमित्तभूत है। ज्ञानसहित जिनसम्यक्त्व का जो मुनि

---

१. केषांचिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिहगृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम्॥५॥ सागारधर्मामृत, अध्याय १

आचरण करते हैं, वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि शंकादिक दोषों को दूरकर निःशंकितादि गुणों का आचरण करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचार है। स्वरूपाचरण इससे भिन्न है।

अष्टपाहुड के अतिरिक्त समयसार की गाथाओं (२२९ से लेकर २३६) में भी कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दृष्टि के निःशंकितादि गुणों का वर्णन किया है। यही आठ गुण आगे चलकर आठ अंगों के रूप में प्रचलित हो गये। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में समन्तभद्रस्वामी ने इन आठ अंगों का संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्रस्वामी ने भी इनके लक्षण बतलाने के लिए आठ श्लोक लिखे हैं।

यह आठ अंगों की मान्यता सम्यग्दर्शन का पूर्ण विकास करने के लिए आवश्यक है। अंगों की आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि जिस प्रकार कम अक्षरों वाला मन्त्र विष-वेदना को नष्ट करने में असमर्थ रहता है। उसी प्रकार कम अंगों वाला सम्यग्दर्शन संसार की सन्तति के छेदन में असमर्थ रहता है।[१] अंगों का स्वरूप तथा उनमें प्रसिद्ध पुरुषों का चरित रत्नकरण्डकश्रावकाचार के प्रथम अधिकार से ज्ञातव्य है।

सम्यग्दर्शन के अन्य गुणों की चर्चा

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शन के चार गुण हैं। बाह्यदृष्टि से ये भी सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं। इनके स्वरूप का विचार पञ्चाध्यायी के उत्तरार्ध में विस्तार से किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है–

[२]पंचेन्द्रियों के विषयों में असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशमभाव है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों के विषय में कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजक बुद्धि का न होना प्रशमभाव है।

[३]धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना अथवा समान धर्म वालों में अनुराग का होना या परमेष्ठियों में प्रीति का होना संवेग है।

---

१. नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥२१॥

२. प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः॥ ४२६॥
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुस्वित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः॥ ४२७॥ पंचाध्यायी

३. संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥ ४३१॥

[1]अनुकम्पा का अर्थ कृपा है या सब जीवों पर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भाव का नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थ भाव का रखना अनुकम्पा है या शत्रुता का त्याग कर देने से निःशल्य हो जाना अनुकम्पा है।

[2]स्वतः सिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है।

उपर्युक्त प्रशमादि गुणों के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के आठ गुण और भी प्रसिद्ध हैं। जैसा कि निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है–

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते॥

(वसुनन्दि श्रावकाचार)

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं।

वास्तव में आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणों से अतिरिक्त नहीं हैं क्योंकि संवेग, उपशम और अनुकम्पा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणों में नामोक्त ही हैं। निर्वेद, संवेग का पर्यायवाची है तथा भक्ति और वात्सल्य संवेग के अभिव्यंजक होने से उसमें गतार्थ हैं तथा निन्दा और गर्हा उपशम (प्रशम) के अभिव्यंजक होने से उसमें गतार्थ हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति

सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय का त्रिक और अनन्तानुबन्धी का चतुष्क इन सात प्रकृतियों के अभाव (अनुदय) में प्रकट होने वाला श्रद्धागुण का परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरण के अवान्तर भेद के क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक ज्ञान है। ये दोनों सहभावी हैं, इसलिए कितने ही लोग स्वानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहने लगते हैं पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं। छद्मस्थ का ज्ञान लब्धि और उपयोगरूप होता है अर्थात् उसका ज्ञान कभी तो आत्मा के विषय में ही उपयुक्त होता है और कभी संसार के अन्य घट-पटादि पदार्थों में भी उपयुक्त होता है। अतः सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूति की विषम व्याप्ति है। जहाँ स्वानुभूति होती है वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है पर जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थों की भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धि रूप स्वानुभूति

---

१. अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैशाल्यं वैरवर्जनात्॥ ४३२॥

२. आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ॥ ४५२॥ पंचाध्यायी उत्तरार्ध

सम्यग्दर्शन के साथ नियम से रहती है। यहाँ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और पर की भूत, भविष्यत्, वर्तमान की अनेक पर्यायों का हो सकता है परन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्यायमात्र का ही होता है। वस्तुतः [१]सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनों का अविषय है इसलिये कोई भी जीव विधि रूप से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नहीं है अर्थात् यह कहने और सुनने को समर्थ नहीं है कि सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किन्तु ज्ञान के माध्यम से ही उसकी सिद्धि होती है। यहाँ ज्ञान से स्वानुभूति रूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीव के यह स्वानुभूति होती है उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नहीं होती। प्रश्न उठता है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषयभोग या युद्धादि कार्यों में संलग्न होता है उस समय उसका सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है ? उत्तर यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसी में रहता है परन्तु उस काल में उसका ज्ञानोपयोग स्वात्मा में उपयुक्त न होकर अन्य पदार्थों में उपयुक्त हो रहा है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्था में भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोग रूप परिणमन ज्ञान का है सम्यग्दर्शन का नहीं। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों की अन्तर्दशा मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन को घातने वाली दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। इनमें मिथ्यात्व का अनुभाग सबसे अधिक है, उसके अनंतवें भाग सम्यग्मिथ्यात्व का है और उसके अनंतवें भाग सम्यक्त्वप्रकृति का है। इनमें सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती है। इसके उदय से सम्यग्दर्शन का घात तो नहीं होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ़ दोष लगते हैं। ''यह अरहन्तादिक मेरे हैं यह दूसरे के हैं'' इत्यादिक भाव होने को चल दोष कहते हैं। शंकादि दोषों का लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्ति के कर्ता हैं इत्यादि भाव का होना अगाढ़ दोष है। ये उदाहरण व्यवहारमात्र हैं नियम रूप नहीं। परमार्थ से सम्यक्त्वप्रकृति के उदय में क्या दोष लगते हैं, उन दोषों के समय आत्मा में कैसे भाव होते हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। इतना नियम रूप जानना चाहिए कि सम्यक्त्वप्रकृति के उदय में सम्यग्दर्शन निर्मल नहीं रहता। क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दर्शन में इस प्रकृति का उदय रहता है।

---

१. सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥४००॥ पंचाध्यायी उत्तरार्ध
सम्यक्त्वं वस्तुतः स्पष्टं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्ववधिस्वान्तः पर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है तब वह तीन करण करके मिथ्यात्व के परमाणुओं को सम्यग्मिथ्यात्व रूप या सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमाता है उसके बाद सम्यग्मिथ्यात्व के परमाणुओं को सम्यक्त्वप्रकृति रूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति के निषेक उदय में आकर खिरते हैं। यदि उसकी स्थिति आदि अधिक हों तो उन्हें स्थितिकाण्डकादि घात के द्वारा घटाता है। जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है, तब कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पश्चात् क्रम से इन निषेकों का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धी का प्रदेशक्षय नहीं होता। किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि रूप करके उसकी सत्ता का नाश करता है। इस प्रकार इन सात प्रकृतियों को सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धी की दो अवस्थाएँ होती हैं– या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसंयोजन होता है। जो अपूर्वादि करण करने पर उपशम विधान से उपशम होता है उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं और जो उदय का अभाव है उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी का तो प्रशस्त उपशम होता नहीं है, मोह की अन्य प्रकृतियों का होता है। इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तीन करण कर अनन्तानुबन्धी के परमाणुओं को जो अन्य चारित्रमोहनीय की प्रकृति रूप परिणमाया जाता है उसे विसंयोजन कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त उपशम ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नियम से होती है ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है और किन्हीं आचार्यों का मत है कि विसंयोजना का नियम नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व में नियम पूर्वक विसंयोजना होती है। जिस उपशम और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के विसंयोजना के द्वारा अनन्तानुबन्धी की सत्ता का नाश होता है। वह सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व में आने पर अनन्तानुबन्धी का जब नवीन बन्ध करता है तभी उसकी सत्ता होती है और यदि अनन्तानुबन्धी की संयोजना होते ही वह जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है तो जीव के एक आवली एक समय तक अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता है, ऐसा नियम है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है तब उसके द्वारा चारित्र का ही घात होना चाहिए, सम्यग्दर्शन का घात उसके द्वारा क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि अनन्तानुबन्धी के उदय से क्रोधादिक रूप परिणाम होते हैं, अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता, इसलिये परमार्थ से अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की ही प्रकृति है, परन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय में होने वाले क्रोधादिक के काल में सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये उपचार से उसे भी सम्यग्दर्शन का घातक कहा है। जैसे त्रसपना का घातक तो स्थावरनामकर्म का उदय है परन्तु जिसके एकेन्द्रिय-जातिनामकर्म का उदय होता है उसके त्रसपना नहीं हो सकता, इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय-

जातिनामकर्म को भी त्रसपना का घातक कहा जाता है। इसी दृष्टि से कहीं अनन्तानुबन्धी में दो प्रकार की शक्तियाँ मान ली गई हैं चारित्र को घातने की और सम्यग्दर्शन को घातने की।

प्रश्न—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है तो उसके उदय का अभाव होने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में भी कुछ चारित्र होना चाहिए, उसे असंयत क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी आदि भेद कषाय की तीव्रता या मन्दता की अपेक्षा नहीं हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तीव्र या मन्द कषाय के होते हुए अनंतानुबंधी आदि चारों कषायों का उदय युगपत् रहता है। मिथ्यादृष्टि के कषाय का इतना मन्द उदय हो सकता है कि उस काल में शुक्ल लेश्या हो जावे और असंयत सम्यग्दृष्टि के इतनी तीव्र कषाय हो सकती है कि उस काल में कृष्ण लेश्या हो जाय। जिसका अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ अनुबन्ध-गठबन्धन हो वह अनन्तानुबन्धी है। जो एकदेश चारित्र का घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकलचारित्र का घात करे वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यातचारित्र का घात करे वह संज्वलन है। असंयत सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से यद्यपि कषाय की मन्दता होती है परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती जिससे चारित्र नाम प्राप्त कर सके। कषाय के असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं उनमें सर्वत्र पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर मन्दता पायी जाती है परन्तु उन स्थानों में व्यवहार की अपेक्षा तीन मर्यादाएँ की गई हैं— १. प्रारम्भ से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक के कषाय स्थान असंयम के नाम से, २. पञ्चम गुणस्थान के कषायस्थान देशचारित्र के नाम से और ३. षष्ठादि गुणस्थानों के कषायस्थान सकलचारित्र के नाम से कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी ने कहा है[१]—''ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त होता है इसलिये मोक्षमार्ग में उसे कर्णधार-खेवटिया कहते हैं।''

जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती।

''निर्मोह-मिथ्यात्व से रहित-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु मोहवान् - मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा मोहरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।''

''तीनों कालों और तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई वस्तु देहधारियों के लिए कल्याणरूप और मिथ्यात्व के समान अकल्याण रूप नहीं हैं।''

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार ३१-४१ तक

'सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रतरहित होने पर भी नरक और तिर्यञ्च गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीचकुल, विकलांगता, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते।''

[१]''यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले किसी मनुष्य ने नरक आयु का बन्ध कर लिया है तो वह पहले नरक से नीचे नहीं जाता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्यायु का बन्ध कर लिया है तो भोगभूमि का तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायु का बन्ध किया है तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिकों में उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शन के काल में यदि तिर्यञ्च और मनुष्य के आयुबन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बन्ध होता है।[२] सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होता। मनुष्य और तिर्यञ्च गति में नपुंसक भी नहीं होता।''

''सम्यग्दर्शन से पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, विद्या, यश, वृद्धि, विजय और वैभव से सहित उच्च कुलीन, महान् अर्थ से सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं।''

''सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ अणिमा आदि आठ गुणों की पुष्टि से संतुष्ट तथा सातिशय शोभा से युक्त होते हुए देवांगनाओं के समूह में चिरकाल तक क्रीड़ा करते हैं।''

''सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग से आकर नौ निधि और चौदह रत्नों के स्वामी समस्त भूमि के अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्र को वर्ताने में समर्थ होते हैं–चक्रवर्ती होते हैं।''

''सम्यग्दर्शन के द्वारा पदार्थों का ठीक-ठीक निश्चय करने वाले पुरुष अमरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रों के द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोक के शरण्यभूत तीर्थंकर होते हैं।''

''सम्यग्दृष्टि जीव अन्त में उस मोक्ष को प्राप्त होते हैं जो जरा से रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्या का वैभव चरम सीमा को प्राप्त है तथा जो कर्ममल से रहित है।''

''जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रखने वाला–सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्रसमूह की महिमा को, राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक्र-तीर्थंकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है।''

सम्यग्दर्शन और अनेकान्त

पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः उसका निरूपण करने के लिए आचार्यों ने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयों को स्वीकृत किया है। द्रव्यार्थिक नय मुख्यरूप से द्रव्य का

१. दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥ सागारधर्मामृत, अध्याय १, कारिका ३

२. हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे॥१२८॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

निरूपण करता है और पर्यायार्थिक नय मुख्य रूप से पर्याय को विषय करता है। अध्यात्मप्रधान ग्रन्थों में निश्चयनय और व्यवहारनय की चर्चा आती है। निश्चयनय गुण-गुणी के भेद से रहित तथा पर के संयोग से शून्य शुद्ध वस्तुतत्त्व को ग्रहण करता है और व्यवहारनय गुण-गुणी के भेद रूप तथा पर के संयोग से उत्पन्न अशुद्धता से युक्त वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नय के विषय परस्परविरोधी हैं। द्रव्यार्थिकनय पदार्थ को नित्य तथा एक कहता है तो पर्यायार्थिक नय अनित्य तथा अनेक कहता है। निश्चयनय आत्मा को शुद्ध तथा अभेद रूप वर्णन करता है तो व्यवहारनय अशुद्ध तथा भेद रूप बतलाता है। नयों के इस विरोध को दूर करने वाला अनेकान्त है। विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्मों को गौण-मुख्य रूप से जो ग्रहण करता है उसे अनेकान्त कहते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसी अनेकान्त का आश्रय लेकर वस्तुस्वरूप को समझता है और पात्र की योग्यता देखकर दूसरों को समझाता है। सम्यग्दर्शन के होते ही इस जीव की एकान्त दृष्टि समाप्त हो जाती है। क्योंकि निश्चय और व्यवहार के वास्तविक स्वरूप को समझकर दोनों नयों के विषय में मध्यस्थता को ग्रहण करने वाला मनुष्य ही जिनागम में प्रतिपादित वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह समझ सकता है।[१] सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास को समझकर उन्हें छोड़ता है तथा वास्तविक वस्तु स्वरूप को ग्रहण कर कल्याण पथ में प्रवर्तता है।

सम्यग्दृष्टि की अंतर्दृष्टि

श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने समयसार के निर्जराधिकार में कलश लिखते हुए कहा है- **सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः** सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्रकट हो जाती है इसलिए वह संसार के कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी रखता है। ''मैं अनन्त ज्ञान का पुंज, शुद्ध-रागादि के विकार से रहित चेतन द्रव्य हूँ, मुझमें अन्य द्रव्य नहीं हैं, मैं अन्य द्रव्य में नहीं हूँ और आत्मा के अस्तित्व में दिखने वाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं।'' इस प्रकार स्वरूप की ओर दृष्टि रखने से सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त संसार के कारणभूत बन्ध से बच जाता है। प्रशम-संवेगादिक गुणों के प्रकट हो जाने से उसकी कषाय का वेग ईंधन रहित अग्नि के समान उत्तरोत्तर घटता जाता है। यहाँ तक कि बुराई होने पर उसकी कषाय का संस्कार छह महीने से ज्यादा नहीं चलता। यदि छह माह से अधिक कषाय का संस्कार किसी मनुष्य का चलता है तो उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है और उसके रहते हुए वह नियम से

---

१. व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥ ११८॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

मिथ्यादृष्टि है[१] ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्यशक्ति के कारण सांसारिक कार्य करता हुआ भी जल में रहने वाले कमलपत्र के समान निर्लिप्त रहता है। वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी हो जाता है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की उपासना नहीं करता। किसी पर स्वयं आक्रमण नहीं करता। हाँ, किसी के द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर आत्मरक्षा के लिए युद्ध आदि भी करता है। मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि की चाल-ढाल ही बदल जाती है।

सम्यग्ज्ञान

मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवाजीवादि सात तत्त्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है-जिस प्रकार मेघपटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण दूर होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि ये दोनों एक साथ प्रकट होते हैं फिर भी दीपक और प्रकाश के समान दोनों में कारण-कार्यभाव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। यहाँ **प्रश्न** उठता है कि जब पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होगा तभी तो सम्यक् श्रद्धा होकर सम्यग्दर्शन हो सकेगा, इसलिए सम्यग्ज्ञान को कारण और सम्यग्दर्शन को कार्य मानना चाहिए?

उत्तर— यह है कि सम्यग्दर्शन होने के पहले इतना ज्ञान तो होता ही है कि जिसके द्वारा तत्त्व स्वरूप का निर्णय किया जा सके, परन्तु उस ज्ञान में सम्यक् पद का व्यवहार तभी होता है जब सम्यग्दर्शन हो जाता है। पिता और पुत्र साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं क्योंकि जब तक पुत्र नहीं हो जाता तब तक उस मनुष्य को पिता नहीं कहा जा सकता, पुत्र के होते ही पिता कहलाने लगता है। पुत्र होने के पहले वह, मनुष्य तो था, पर पिता नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के होने के पहले ज्ञान तो रहता है पर उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञान का व्यवहार सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र साथ-साथ होने पर भी पिता कारण कहलाता है और पुत्र कार्य, उसी प्रकार साथ-साथ होने पर भी सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य कहलाता है।

यह सम्यग्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमें मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि पर-पदार्थों की सहायता से होती है और अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये तीन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति

---

१. अंतोमुहुत्तपक्खं छम्मासं संखसंखणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण॥ ४६॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड

इन्द्रियादि पर-पदार्थों की सहायता से न होकर स्वतः होती है। इनमें भी अवधि और मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं क्योंकि सीमित क्षेत्र और सीमित पदार्थों को ही जानते हैं परन्तु केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि वह लोकालोक के समस्त पदार्थों को स्पष्ट जानता है।

मतिज्ञान—जो पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से पदार्थ को जानता है वह मतिज्ञान कहलाता है। इसके मूल में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। ये चार भेद बहु आदि बारह प्रकार के पदार्थों के होते हैं इसलिये बारह में चार का गुणा करने पर अड़तालीस भेद होते हैं। ये अड़तालीस भेद पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा होते हैं इसलिए अड़तालीस में छह का गुणा करने पर दो-सौ अठासी भेद होते हैं। अवग्रह के व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह इस प्रकार दो भेद हैं। व्यञ्जनावग्रह-अस्पष्ट पदार्थ का अवग्रह चक्षु और मन से नहीं होता, इसलिए बहु आदि बारह पदार्थों में चार का गुणा करने पर उसके अड़तालीस भेद होते हैं। अर्थावग्रह के बहत्तर भेद दो-सौ अठासी में गर्भित हो चुके हैं। उन्हीं दो सौ अठासी में व्यञ्जनावग्रह के अड़तालीस भेद जोड़ देने से मतिज्ञान के कुल भेद तीन सौ छत्तीस होते हैं। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध-अनुमान आदि मतिज्ञान के ही विशिष्ट रूपान्तर है।

धवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४०-२४१ पर मतिज्ञान के उत्तरभेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है-''तं जहा हि ४, २४, २८, ३२ एदे पुव्वुप्पाइदे भंगे दोसु ट्ठाणेसु ट्ठविय छवि बारसेहि य गुणिय पुणरुत्तमवणिय परिवाडीए ट्ठइदे सुत्तपरूविदभंगपमाणं होदि। तं च एदं - ४, २४, २८, ३२, ४८, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६, ३८४। जत्तिया मदिणाणवियप्पा तत्तिया चेव आभिणिबोहियणाणावरणीयस्स पयडिवियप्पा त्ति वत्तव्वं।''

इसका भावार्थ विशेषार्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-यहाँ मतिज्ञान के अवान्तर भेदों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। मूल में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। इन्हें पाँच इन्द्रिय और मन से गुणित करने पर २४ भेद होते हैं। इनमें व्यञ्जनावग्रह के ४ भेद मिलाने पर २८ भेद होते हैं। ये २८ उत्तरभेद हैं, इसलिए इनमें अवग्रह आदि ४ मूलभंग मिलाने पर ३२ भेद होते हैं। ये तो इन्द्रियों और अवग्रह आदि की अलग-अलग विवक्षा से भेद हुए। अब जो बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव ऐसे ६ प्रकार के पदार्थ तथा इनके प्रतिपक्षभूत ६ इतर पदार्थों को मिलाकर बारह प्रकार के पदार्थ बतलाये हैं उनसे अलग उक्त विकल्पों को गुणित किया जाता है तो सूत्रोक्त मतिज्ञान के सभी विकल्प उत्पन्न होते हैं। यथा - ४×६ = २४, २४×६ =१४४, २६×६ = १९२, ४×१२ = ४८, २४×१२=२८८, २८×१२=३३६, ३२×१२ = ३८४।

उक्त सन्दर्भानुसार विवक्षावश मतिज्ञान के ३८४ भेद भी होते हैं। धवला के इसी सन्दर्भ में अवग्रह के अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा, ईहा के-ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा,

गवेषणा और मीमांसा, अवाय के–अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा तथा धारणा के–धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थक–पर्यायवाची नाम दिये हैं। इनका शब्दार्थ धवला से ही ज्ञात करना चाहिए।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह श्रुतज्ञान पर्याय, पर्यायसमास आदि बीस भेदों में क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता है। दूसरी शैली के श्रुतज्ञान के अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट की अपेक्षा दो भेद होते हैं। इनमें अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ६. धर्मकथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तकृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपादिकदशांग, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवादांग ये बारह भेद हैं। इनमें बारहवें दृष्टिवाद अंग के १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका इस प्रकार पाँच भेद हैं। परिकर्म के १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति इस प्रकार पाँच भेद हैं। पूर्वगत के १. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यानुवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यानपूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणवादपूर्व, १२. प्राणावायपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. त्रिलोकबिन्दुसार ये चौदह भेद हैं। चूलिका के १.जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. आकाशगता और ५. रूपगता इस प्रकार पाँच भेद हैं। सूत्र और प्रथमानुयोग का एक–एक ही भेद है।

अंगबाह्य के १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना,४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धका ये चौदह भेद हैं।

इन सबके वर्णनीय विषय तथा पद आदि की संख्या के लिये जीवकाण्ड की श्रुतज्ञान मार्गणा देखना चाहिए।

यह श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। उनमें परार्थ श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूतनय, अर्थनय, शब्दनय, निश्चयनय तथा व्यवहारनय आदि भेदों को लिये हुए अनेक नय रूप है।

समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार में सम्यग्ज्ञान का अधिक विस्तार न कर मात्र श्रुतज्ञान को मुख्यता देते हुए समस्त शास्त्रों को १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगों में विभक्त किया है। मनुष्य, इन चार अनुयोगों का अभ्यास कर अपने श्रुतज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान को पुष्ट कर सकता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो तत्तत् आवरणों का अभाव होने पर स्वयं प्रकट हो जाते हैं, उनमें मनुष्य का पुरुषार्थ

नहीं चलता। पुरुषार्थ चलता है सिर्फ अनुयोगात्मक श्रुतज्ञान में। अतः आलस्य छोड़कर चारों अनुयोगों का अभ्यास करना चाहिए।

अवधिज्ञान—पर-पदार्थों की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थों को जो स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधिज्ञान, भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से दो प्रकार का होता है। भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है, मनुष्यों में तीर्थंकरों के भी होता है। सर्वांग से होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य संज्ञी और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यञ्चों के होता है। यह नाभि के ऊपर स्थित शंखादि चिह्नों से होता है। इसके अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छः भेद होते हैं। इनकी परिभाषाएँ नामों से स्पष्ट हैं। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय-दोनों ही अवधिज्ञानों में अन्तरंग कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है।

इनके सिवाय अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद और होते हैं। ऊपर कहा हुआ भवप्रत्यय अवधिज्ञानदेशावधि के अन्तर्गत होता है। देशावधि चारों गतियों में हो सकता है परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी मुनियों के ही होते हैं। देशावधिज्ञान प्रतिपाती है, शेष दो ज्ञान अप्रतिपाती हैं। इन्हें धारण करने वाले मुनि मिथ्यात्व और असंयम अवस्था को प्राप्त नहीं होते। इन तीनों अवधिज्ञानों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगम से जानना चाहिए। गुणप्रत्यय का दूसरा नाम क्षयोपशम निमित्तक भी है।

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि मिथ्यादर्शन के साथ होते हैं तो मिथ्याज्ञान कहलाते हैं और यदि सम्यग्दर्शन के साथ होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं।

मनःपर्ययज्ञान—इन्द्रियादिक की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए स्पष्ट जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मुनियों के ही होता है, गृहस्थों को नहीं। इसके दो भेद हैं– एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। ऋजुमति, सरल मन-वचन-काय से चिन्तित पर के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानता है और विपुलमति सरल तथा कुटिल रूप मन-वचन-काय से चिन्तित पर के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में विशुद्धि अधिक होती है। ऋजुमति सामान्य मुनियों को भी हो जाता है परन्तु विपुलमति उन्हीं मुनियों के होता है जो उपरितन गुणस्थानों से गिर कर नीचे नहीं आते तथा तद्भवमोक्षगामी होते हैं। इसके दोनों भेदों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगम ग्रन्थों से जानना चाहिए। मनःपर्ययज्ञान ईहामतिज्ञानपूर्वक होता है। इसका अन्तरंग कारण मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम है।

केवलज्ञान—जो बाह्य पदार्थों की सहायता के बिना लोकालोक के समस्त पदार्थों को उनकी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों के साथ स्पष्ट जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। इसकी उत्पत्ति

मोहनीय तथा शेष तीन घातियाकर्मों का क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान में होती है। यह क्षायिक ज्ञान कहलाता है और तद्भवमोक्षगामी मनुष्यों के ही होता है। इसे सकलप्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह ज्ञानगुण की सर्वोत्कृष्ट पर्याय है तथा सादि अनन्त है। इसे प्राप्त कर मनुष्य देशोनकोटि पूर्व वर्ष के भीतर नियम से मोक्ष चला जाता है। यह ज्ञान इच्छा के बिना ही पदार्थों को जानता है।

प्रमाण और नय

तत्त्वार्थसूत्रकार ने जीवाजीवादि तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के जानने के उपायों की चर्चा करते हुए प्रमाणनयैरधिगमः इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नयों का उल्लेख किया है। जो वस्तु में रहने वाले अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि समस्त धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं और जो उपर्युक्त धर्मों को गौण-मुख्य करता हुआ क्रम से ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा दो भेद हैं। प्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एकदेशप्रत्यक्ष कहलाते हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पाँच भेद हैं। इन सबके लक्षण अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए।

नय के मुख्य रूप से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस प्रकार दो भेद हैं। द्रव्यार्थिक के नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन भेद हैं और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इस प्रकार चार भेद हैं। अथवा अर्थनय और शब्दनय की अपेक्षा नय के दो भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये तीन शब्दनय हैं।

सम्यक्चारित्र

निश्चय से स्वकीय शुद्ध स्वरूप में निश्चल होने को चारित्र कहते हैं और व्यवहार से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पाप की प्रणालियों से निवृत्त होने को चारित्र कहते हैं। यह चारित्र सकल और विकल की अपेक्षा दो प्रकार का है। पाँच पापों के सर्वथा त्याग को सकलचारित्र कहते हैं। यह परिग्रहरहित मुनियों के ही होता है और पाँच पापों के एकदेश त्याग को विकलचारित्र कहते हैं। यह परिग्रहसहित गृहस्थों के होता है। सम्यक् चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होती है। इनके बिना जो चारित्र है वह मिथ्याचारित्र है। चारित्र की उत्पत्ति का क्रम और प्रयोजन बताते हुए समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहा है-

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

मोह-मिथ्यादर्शन रूपी अन्धकार के नष्ट हो चुकने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा साधु पुरुष राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को प्राप्त होता है।

चारित्र का प्रयोजन रागद्वेष की निवृत्ति करना है। जिसने चारित्र धारण करके भी रागद्वेष को दूर नहीं किया परमार्थ से उसे चारित्र प्राप्त हुआ नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

विकलचारित्र

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का अनुदय होने से जो पाँच पापों का एकदेश त्याग होता है वह विकलचारित्र कहलाता है। मूल रूप में इसके अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणव्रत इस प्रकार पाँच, अणुव्रतों की रक्षा के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से सात शील होते हैं। इस तरह सब मिलाकर विकलचारित्र के बारह भेद होते हैं। उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत कहा है। परन्तु रत्नकरण्डकश्रावकाचार में समन्तभद्र स्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीन को गुणव्रत बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाणव्रत तथा अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। परन्तु रत्नकरण्डकश्रावकाचार ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन चार को शिक्षाव्रत बतलाया है। कुन्दकुन्दस्वामी ने सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत कहा है।[१]

विकलचारित्र को आचार्यों ने दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग तथा उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त किया है। समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार के अन्तिम अधिकार में इनका अच्छा दिग्दर्शन कराया है। ये प्रतिमाएँ अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की हीनाधिकता से प्रकट होती हैं।

सकलचारित्र

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का अनुदय होने से हिंसादि पाँच पापों से जो सर्वथा निवृत्ति होती है वह सकलचारित्र कहलाता है। इसकी रक्षा करने के लिए ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इस प्रकार पाँच समितियाँ होती हैं तथा कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति इस प्रकार तीन गुप्तियाँ होती हैं। सब मिलाकर तेरह प्रकार का सकलचारित्र कहलाता है।

इस प्रवृत्ति रूप चारित्र के अतिरिक्त सम्यक्चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच भेद और होते हैं। इनमें यथाख्यात चारित्र सर्वश्रेष्ठ चारित्र है। उसके होने पर आत्मा की वीतरागपरिणति प्रकट हो जाती है। इन सबके स्वरूप चरणानुयोग के ग्रन्थों से जानना चाहिए।

---

१. शिक्षाव्रतों की चार संख्या में मतभेद नहीं हैं परन्तु उनके नामों में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं जो निम्नलिखित चार्ट से स्पष्ट हैं–

आचार्य या ग्रन्थ नाम	प्रथम शिक्षाव्रत	द्वितीयशिक्षाव्रत	तृतीयशिक्षाव्रत	चतुर्थशिक्षाव्रत
१. श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र नं० १	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथिपूजा	सल्लेखना
२. आचार्य कुन्दकुन्द	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथिपूजा	सल्लेखना
३. आचार्य कार्तिकेय स्वामी	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथिपूजा	देशावकाशिक
४. आचार्य उमास्वामी	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोगपरिमाण	अतिथिसंविभाग
५. आचार्य समन्तभद्र	देशावकाशिक	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्त्य
६. आचार्य सोमदेव	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोग परिमाणव्रत	दान
७. आचार्य देवसेन	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथिसंविभाग	सल्लेखना
८. श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र नं० २	भोगपरिमाण	उपभोगपरिमाण	अतिथिसंविभाग	सल्लेखना
९. आचार्य वसुनन्दि	भोगविरति	उपभोग विरति	अतिथिसंविभाग	सल्लेखना

आचार्य जिनसेन, अमितगति तथा आशाधर आदि के शिक्षाव्रतों में उमास्वामी का अनुकरण किया गया है। (वसुनन्दिश्रावकाचार की प्रस्तावना से)

ग्रन्थकर्ता समन्तभद्राचार्य

व्यक्तित्व और कर्तृत्व—इसके रचयिता आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी हैं।[१] समन्तभद्रस्वामी दिगम्बराचार्यों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र तथा तन्त्र आदि सभी विद्याओं में निपुण होने के साथ ही आप वाद-कला में अत्यन्त पटु थे। काशी नरेश के समक्ष आपने जो अपना परिचय दिया था वह मात्र गर्वोक्ति नहीं, किन्तु तथ्योक्ति थी। परिचय देते हुए आपने कहा था -

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्॥
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

अर्थात् मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रार्थियों में श्रेष्ठ हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ, हे राजन्! इस सम्पूर्ण पृथ्वी में मैं आज्ञासिद्ध हूँ, अधिक क्या कहूँ

१. देखो, स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा संपादित 'समीचीन धर्मशास्त्र' प्रस्तावना पृष्ठ ६३८

सिद्धसारस्वत हूँ।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण के प्रथमपर्व में आपका स्मरण करते हुए कहा है–

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि॥
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥४४॥

अर्थात् कवियों, गमकों, वादियों और प्रशस्त वक्ताओं के मस्तक पर समन्तभद्र का यश चूड़ामणि के समान आचरण करता है।

वादिराजसूरि ने यशोधरचरित्र में आपका स्मरण इस प्रकार किया है–

श्रीमत्समन्तभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्ति रत्नोत्करप्रदाः॥

अर्थात् जो काव्यरूपी मणियों की उत्पत्ति के लिये रोहणगिरि हैं तथा सदा उत्कृष्ट हैं ऐसे समन्तभद्र आदि कवि हमें सुभाषितरूपी रत्नसमूह के देने वाले हो।

शुभचन्द्राचार्य ने अपने ज्ञानार्णव में आपके विषय में कहा है–

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां,
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां,
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः॥ १४॥

अर्थात् जहाँ समन्तभद्रादि कवीन्द्र रूप सूर्यों की निर्दोष सूक्तिरूपी किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहाँ अल्पज्ञान से अहंकार को प्राप्त हुए मनुष्य जुगनू के समान क्या हास्य को ही प्राप्त नहीं होते ?

वर्धमानसूरि ने वरांगचरित्र में आपका स्मरण करते हुए लिखा है–

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्त्तयः।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि॥ ७॥

अर्थात् जो कुवादियों की विद्या पर विजय प्राप्त करने से यशस्वी हुए थे और जो न्यायशास्त्र रूप श्रेष्ठ अमृत के सागर थे, ऐसे समन्तभद्रादि महाकवीन्द्र कवित्व की इच्छा करने वाले मुझ पर प्रसन्न हो।

गद्यचिन्तामणि में श्री वादीभसिंह ने लिखा है–

सरस्वतिस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपसिद्धान्तमहीध्रकोटयः॥

अर्थात् जो सरस्वती की क्रीड़ाभूमि थे और जिन्होंने वचनरूप वज्रों के निपात से प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतों की कोटियों को खण्ड-खण्ड कर दिया था, ऐसे समन्तभद्र आदि मुनीश्वर जयवन्त हैं।

हस्तिमल्ल ने अपने विक्रान्तकौरव में लिखा है–

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम्।

अर्थात् वादी समन्तभद्र के रहते हुए जब स्पष्ट एवं चतुराई के साथ बहुत बोलने वाले धूर्जटि– तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वान् की भी जिह्वा शीघ्र ही अपने बिल में घुस जाती है तब दूसरों की तो कथा ही क्या है ?

इसी प्रकार वादिराजसूरि ने अपने न्यायविनिश्चयालंकार में आपका स्मरण करते हुए कहा है–

विस्तीर्णदुर्णयमयप्रबलान्धकारदुर्बोधतत्त्वमिह वस्तु हितावबद्धम्।
व्यक्तीकृतं भवतु नस्सुचिरं समन्तात् सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपैः॥

अर्थात् सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकार के कारण जिसका तत्त्व–वास्तविक स्वरूप दुर्बोध हो रहा है ऐसी हितकारी वस्तु–प्रयोजनभूत जीवाजीवादि तत्त्वसमूह श्री समन्तभद्र स्वामी के वचन रूप दैदीप्यमान रत्नदीपों के द्वारा हमारे लिये चिरकाल तक सब ओर से प्रकट रहे।

चन्द्रप्रभचरित्र में उसके रचयिता वीरनन्दी आचार्य ने आपका स्मरण करते हुए कहा है–

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥ ६॥

अर्थात् गुण–सूत्र से सहित, निर्मल गोल मोतियों से युक्त एवं नरोत्तम–धनिक जनों के कण्ठ का आभूषण बनी हुई हारयष्टि–मोतियों की माला ही दुर्लभ नहीं है। किन्तु गुण–श्लेष, प्रसाद आदि गुणों से सहित, निर्दोष–श्रेष्ठ छन्दों से युक्त तथा नरोत्तम–श्रेष्ठ विद्वज्जनों के द्वारा कण्ठ का आभूषण बनाई हुई–कण्ठस्थ की हुई समन्तभद्रादि ऋषियों से उत्पन्न भारती–वाणी भी दुर्लभ है।

श्रवणबेलगोल के शक सं. १३५५ के शिलालेख नं. १०८ (२५८) में समन्तभद्र का निम्न प्रकार उल्लेख है–

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्॥

अर्थात् तदनन्तर जिनशासन के प्रणेता, भद्रमूर्ति वे समन्तभद्र हुए जिनके वचनरूपी वज्र के कठोर पात ने प्रतिवादी रूप पर्वतों को चूर–चूर कर डाला था।

श्रवणबेलगोल के ही शक सं॰ १३२० के शिलालेख नं॰ १०५ (२५४) में आपका इस प्रकार उल्लेख किया गया है–

समन्तभद्रस्य चिराय जीयाद्वादीभवज्राङ्कुशसूक्तिजालः।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं बन्ध्या स दुर्वादुकवार्तयापि॥

अर्थात् जिनकी सूक्तियों का समूह वादीरूपी हाथियों को वश करने के लिये वज्रांकुश था और जिनके प्रभाव से यह समस्त पृथ्वी दुर्वादुकों-मिथ्यावादियों की वार्ता से भी विहीन हो गई थी वे समन्तभद्र चिरकाल तक जयवन्त रहे।

तिरुमकूडलुनरसीपुर के शक सं. ११०५ के शिलालेख नं. १०५ में भी आपका उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः॥

अर्थात् वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके द्वारा संस्तुत्य नहीं हैं जिन्होंने वाराणसी के राजा के आगे शत्रुओं-जिनशासन से द्वेष रखने वाले प्रतिवादियों को पराजित किया था।

इन सब उल्लेखों से भी समन्तभद्रस्वामी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का सहज ही पता चल जाता है। आपने पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण-सर्वत्र विहार कर जिनधर्म की महिमा स्थापित की थी। करहाटकनगर में पहुँचने पर वहाँ के राजा के द्वारा पूछे जाने पर आपने अपना पिछला परिचय इस प्रकार दिया था–

[१]पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूलविक्रीडितम्॥

अर्थात् राजन् सबसे पहले मैंने पाटलीपुत्र नगर में शास्त्रार्थ के लिये भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु, ढक्क, काञ्ची, विदिशा आदि स्थानों में जाकर भेरी ताडित की। अब बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूँ। मैं तो शास्त्रार्थ की इच्छा रखता हुआ सिंह के समान घूमता फिरता हूँ।

समन्तभद्रस्वामी के द्वारा विरचित निम्नलिखित ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हुए हैं–१. स्वयंभूस्तोत्र, २. आप्तमीमांसा (देवागम), ३. युक्त्यनुशासन,४. स्तुतिविद्या (जिनशतक) और ५. रत्नकरण्डक श्रावकाचार।

सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। १. आप्तमीमांसा, २. युक्त्यनुशासन और ३. स्वयंभूस्तोत्र स्तुति ग्रन्थ होते हुए भी दार्शनिक तत्त्वों से समाविष्ट हैं। स्तुतिविद्या (जिनशतक) शब्दालंकार प्रधान रचना है। इसमें चित्रालंकार के द्वारा ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। प्रस्तुत रत्नकरण्डकश्रावकाचार धर्मशास्त्रविषयक सरल रचना है।

---

१. श्रवणबेलगोल का ५४ वाँ शिलालेख, ब्रह्म नेमिदत्त कृत आराधनाकथाकोश

इन उपलब्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त आपके द्वारा रचित निम्नांकित ग्रन्थों के उल्लेख और मिलते हैं– १. जीवसिद्धि, २. तत्त्वानुशासन, ३. प्राकृतव्याकरण, ४. प्रमाणपदार्थ, ५. कर्मप्राभृतटीका और ६. गन्धहस्तिमहाभाष्य।

आप बहुत ही परीक्षाप्रधानी थे। जब तक युक्ति के द्वारा किसी बात का निर्णय नहीं कर लेते थे तब तक आपको संतोष नहीं होता था। जैसा आप्तमीमांसा के **देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः** आदि विवेचन से विदित है। इसीलिये युक्त्यनुशासन की टीका में विद्यानन्दस्वामी ने उन्हें **परीक्षेक्षण—** परीक्षारूपी नेत्र से सबको देखने वाला लिखा है।

जन्मस्थान, पितृकुल, गुरुकुल

संसार की माया–ममता से निर्लिप्त रहने वाले जैनाचार्यों में अधिकांश में माता–पिता तथा जन्मस्थान आदि का कुछ भी प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। समन्तभद्रस्वामी भी इसके अपवाद नहीं हैं अर्थात् उनके भी माता–पिता का नाम तथा जन्मस्थान का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु श्रवणबेलगोला के विद्वान् श्री दोर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्रभण्डार में सुरक्षित आप्तमीमांसा की एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रति के निम्नांकित पुष्पिकावाक्य[1]–**इति श्रीफणिमण्डला–लङ्कारस्योरगपुराधिपसूनो श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ** आाप्तमीमांसायाम् से स्पष्ट है कि समन्तभद्र, फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा के पुत्र थे। यह उरगपुर वर्तमान का 'उरैयूर' जान पड़ता है। उरगपुर, चोल राजाओं की प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी रही है। पुरानी त्रिचनापल्ली भी इसी को कहते हैं। यह नगर कावेरी के तट पर बसा हुआ था और किसी समय अच्छा समृद्धिशाली नगर था। 'राजावलीकथे' में समन्तभद्र स्वामी का जन्म 'उत्पलिका' ग्राम में हुआ लिखा है। हो सकता है कि यह 'उत्पलिका' उरगपुर का ही नामान्तर हो अथवा उसी के अन्तर्गत कोई स्थान हो। इस तरह जन्मस्थान का कुछ उल्लेख मिलता है। 'पिता राजा थे' यह भी उपर्युक्त पुष्पिकावाक्य से सूचित है। परन्तु पिता का क्या नाम था, इसका पता नहीं चलता।

समन्तभद्र स्वामी के द्वारा विरचित स्तुतिविद्या का गत्वैकस्तुतमेव नाम का जो अन्तिम पद्य है वह छह आरे और नव वलय वाले चक्राकार चित्र में लिखा जाता है। उससे शान्तिवर्मकृतं, जिनस्तुतिशतं ये दो पद निकलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह जिनस्तुतिशत–जिनशतक ग्रन्थ, जिसे स्तुतिविद्या भी कहते हैं शान्तिवर्मा का बनाया हुआ है। इस तरह समन्तभद्र का प्रारम्भिक नाम 'शान्तिवर्मा' मालूम होता है। इस नाम से आपके क्षत्रियवंश में उत्पन्न होने का पता चलता है क्योंकि वर्मा नाम राजघरानों का है। कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशों में अनेक राजाओं का वर्मान्त नाम मिलता है। कदम्बों में तो एक राजा 'शान्तिवर्मा' इसी नाम का हुआ है। यहाँ यह आशंका करना

---

१. देखो स्व. श्री जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा लिखित 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ४, इतिहास ग्रन्थ तथा उन्हीं का लेख – जैन हितैषी भाग ११, अंक ७–८, पृष्ठ ४८०

निर्मूल है कि 'जिनशतक' किसी दूसरे शान्तिवर्मा का बनाया हुआ होगा, क्योंकि उसका सब प्रतियों में कर्ता के रूप में स्वामी समन्तभद्र का ही नाम मिलता है। जिनशतक के संस्कृतटीकाकार नरसिंह कवि ने भी उसे तार्किकचूड़ामणि श्रीमत्समन्तभद्रविरचित ही सूचित किया है। अलंकार चिन्तामणि में उसके कर्ता अजितसेन ने जिनशतक के अनेक श्लोक समन्तभद्र के नाम से ही उल्लिखित किये हैं। इस तरह हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आपका प्रारम्भिक नाम शान्तिवर्मा था और दीक्षा लेने के बाद समन्तभद्र नाम से प्रसिद्ध हुए।

आपने गृहस्थावस्था में प्रवेश किया या नहीं इसका कोई स्पष्ट सूत्र नहीं मिलता, फिर भी रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में प्रतिपादित ब्रह्मचर्यप्रतिमा के स्वरूप पर से जान पड़ता है कि आप गृहस्थी के दलदल से दूर रहे होगे और छोटी अवस्था में ही आपने दीक्षा धारण कर मुनि पद अंगीकृत कर लिया होगा। आपका दीक्षास्थान 'काँची', जिसे आज 'कांजीवरम्' भी कहते हैं, जान पड़ता है। 'काञ्चयां नाग्नाटकोऽहं'-आपके इस वाक्य से भी यह ध्वनित होता है। राजावलीकथे के उल्लेखानुसार आप कांची कितनी ही बार गये हैं।

पितृकुल की तरह आपके गुरुकुल का भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यही मालूम होता है कि आपके दीक्षागुरु कौन थे ? शिक्षागुरु कौन थे ? स्वयं इनके ग्रन्थों में कोई प्रशस्तियाँ नहीं हैं और न किसी अन्य ने इनके गुरु का उल्लेख किया है। जिस प्रकार पहले प्रतिमाओं पर लेख की पद्धति नहीं थी, उसी प्रकार ग्रन्थान्त में प्रशस्ति देने की भी पद्धति नहीं थी। ऐसा करना लोकैषणा का कारण समझा जाता था।

स्वामी समन्तभद्र किस संघ के थे और इनकी शिष्यपरम्परा क्या थी, इसका उल्लेख १४ वीं शती के विद्वान् हस्तिमल्ल ने अपने विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति में इस प्रकार किया है-

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत्।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥१॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥२॥
अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रस्थितवति सति का कथान्येषाम् ॥३॥
शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ ॥४॥

अर्थात् जो मूलसंघ रूप आकाश के चन्द्रमा थे, भारतवर्ष में भावी तीर्थंकर होने वाले हैं तथा चारणऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, ऐसे समन्तभद्रनामक मुनि जयवन्त रहें। वे समन्तभद्र स्वामी तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर गन्धहस्ति नामक व्याख्यान-भाष्य के रचयिता थे तथा देवागम स्तोत्र-आप्तमीमांसा का

निर्देश करने वाले थे। वादी समन्तभद्र के रहते हुए स्फुट एवं चतुर वक्ता धूर्जटि की भी जिह्वा शीघ्र ही गलगर्त के निकट पहुँच जाती थी तब दूसरों की तो कथा ही क्या है ? उन समन्तभद्र के शिवकोटि और शिवायन नाम के दो शिष्य थे, जो शास्त्रज्ञ मनुष्यों में श्रेष्ठ थे और श्रीगुरु के पादमूल में समस्त शास्त्रों का अध्ययनकर कृतकृत्य हुए थे।[१]

इसके सिवाय श्रवणबेलगोल के शिलालेख[२] नं. ४० (६०) से यह भी पता चलता है कि आप भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, उनके वंशज पद्मनन्दी अपर नाम कौण्डकुन्द, उनके वंशज उमास्वाति अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य और उनके शिष्य बलाकपिच्छ ... इस प्रकार महान् आचार्यों की परम्परा में हुए हैं। आपका वर्णन करते हुए उसी शिलालेख में लिखा है– स्यात्कार मुद्रा से अंकित तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए दीपक स्वरूप वे समन्तभद्र हुए जो गुणों से गणेश–गण के स्वामी थे, सब ओर से भद्र–कल्याणमय थे तथा वादिसिंह–वादियों में श्रेष्ठ थे। इस शिलालेख से इनकी आचार्य परम्परा का बोध तो हुआ, पर इसका निर्णय नहीं हो सका कि ये बलाकपिच्छ के बाद होने वाले किस मुनि के साक्षात् शिष्य थे। अस्तु, हीरा अपनी प्रभा से ही महत्त्वशाली होता है न कि खान के समुल्लेख से।

मुनिजीवन और आपातकाल

''दुष्कर्म का उदय किसी को नहीं छोड़ता'' यह एक नीति है। इस नीति को सफल करने के लिये ही मानो समन्तभद्र स्वामी को तपस्याकाल में भस्मकव्याधि हो गई। जितना खावे सब भस्म

---

१. श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥
चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणी मुनीनाम्॥
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥
श्रीगृध्रपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः,
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः।
चारित्रचुञ्चुरखिलावनिपालमौलि–
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः॥
एवं महाचार्यपरम्परायां स्यात्कारमुद्राङ्किततत्त्वदीपः।
भद्रः समन्ताद् गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः। – शि. ले. बे. ४० (६४)

२. श्रवणबेलगोल का ५४ वाँ शिलालेख, ब्रह्म नेमिदत्त कृत आराधनाकथाकोश।

होता जावे, क्षुधानिवृत्ति ही नहीं। मुनिजीवन में दिन में एक बार प्राप्त रूखे-सूखे भोजन पर ही संतोष धारण करना पड़ता है। अतः मुनिमुद्रा में उस व्याधि का प्रतीकार न देख आपने अपने गुरु से सल्लेखना कराने की प्रार्थना की। परन्तु गुरु दीर्घदर्शी थे, वे बुद्धिमान् समन्तभद्र के द्वारा जैनधर्म की महती प्रभावना की आशा रखते थे, अतः उन्होंने सल्लेखनामरण की आज्ञा नहीं दी। फलतः समन्तभद्र ने निर्ग्रन्थ मुद्रा छोड़कर अन्य साधु का वेष रख लिया। मन में पश्चात्ताप बहुत था, परन्तु व्याधि की प्रबलता के कारण विवशता भी थी। अब वे स्वेच्छापूर्वक आहार करते हुए विहार करने लगे। इस अपवादमार्ग को स्वीकृतकर उन्होंने अपने देश में रहना पसन्द नहीं किया, इसलिए वे भ्रमण करते हुए उत्तर भारत की ओर चल पड़े। भ्रमण करते हुए वे काशी आये। यहाँ शिवमन्दिर में शिवभोग की विशाल अन्नराशि को देखकर उन्होंने विचार किया कि यदि यह राशि मुझे प्राप्त हो जाय तो इससे मेरी व्याधि शान्त हो सकती है। विचार आते ही वे अपनी चतुराई से शिवमन्दिर में रहने लगे। चतुराई यही थी कि उन्होंने वायदा किया कि मैं यह सब अन्नराशि शिव जी की पिण्डी को खिला दूँगा। ''पाषाण निर्मित शिवजी की पिण्डी साक्षात् भोग ग्रहण करें।'' इससे बढ़कर और क्या चाहिए ? मन्दिर के व्यवस्थापकों ने इन्हें मन्दिर में रहने की आज्ञा दे दी। मन्दिर के किवाड़ बन्द कराकर वह उस विशाल अन्नराशि को स्वयं खाने लगे और किवाड़ खोलकर लोगों को बता दिया करते कि शिवजी ने भोग ग्रहण कर लिया।

शिवभोग के उपभोग से धीरे-धीरे उनकी व्याधि शान्त हो गई। अन्त में गुप्तचरों के द्वारा काशी नरेश को जब इस बात का पता चला कि यह न शिवभक्त है और न शिवजी को भोग अर्पित करते हैं किन्तु स्वयं खा जाते हैं तब वह आगबबूला होता हुआ समन्तभद्र के सामने आया और उनसे उनकी यथार्थता पूछने लगा। समन्तभद्र ने निम्न श्लोक में अपना परिचय दिया-

काञ्चयां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुसे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरङ्गस्तपस्वी,
राजन्! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननैर्ग्रन्थवादी।

काञ्ची में मलिन वेषधारी दिगम्बर रहा, लाम्बुस नगर में भस्म रमाकर शरीर को श्वेत किया, पुण्ड्रोण्ड में जाकर बौद्धभिक्षु बना, दशपुर नगर में मिष्ट भोजन करने वाला संन्यासी बना, वाराणसी में श्वेत वस्त्रधारी तपस्वी बना। राजन्! आपके सामने यह दिगम्बर जैनवादी खड़ा है, जिसकी शक्ति हो, मुझसे शास्त्रार्थ कर ले।

राजा ने शिवमूर्ति को नमस्कार करने का आग्रह किया, परन्तु उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि यह मूर्ति मेरे नमस्कार को सह न सकेगी। समन्तभद्र के इस उत्तर से राजा का कौतूहल और नमस्कार करने का आग्रह-दोनों ही बढ़ गये। समन्तभद्र आशु कवि तो थे ही, उन्होंने वृषभ आदि चौबीस

तीर्थंकरों का स्तवन शुरू किया। जब वे आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का स्तवन कर रहे थे तब सहसा शिवमूर्ति फट गई और उसमें से चन्द्रप्रभ भगवान् की मूर्ति निकल पड़ी। स्तवनपूर्ण हुआ। यही स्तवन आज 'स्वयंभूस्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इस घटना से काशीनरेश समन्तभद्र को असाधारण योगी समझकर उनसे बहुत प्रभावित हुए और वे जिनधर्म के अनुयायी और उनके शिष्य हो गये। नरेश के साथ अन्य अनेक लोगों ने भी जैनधर्म धारण किया।

समन्तभद्र मात्र संयम से भ्रष्ट हुए थे, सम्यग्दर्शन से नहीं, इसलिए भस्मक व्याधि के शान्त होते ही उन्होंने फिर से निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। निर्ग्रन्थ मुद्रा धारणकर उन्होंने सर्वत्र विहार किया था।[१]

समन्तभद्र का भावी तीर्थकरत्व

समन्तभद्र इसी भारतवर्ष में भावी तीर्थंकर होने वाले हैं तथा उन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त थी, ऐसे कितने ही उल्लेख मिलते हैं। उनके कुछ अवतरण यहाँ संकलित किये जाते हैं–

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत्।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः॥ विक्रान्तकौरव–प्रशस्ति

श्रीमूलसंघव्योम्नेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत्।
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः॥ जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनि भविष्यतीर्थंकरपरमदेवेन ''काले कल्पशतेऽपि च''–श्रुतसागरकृत षट्प्राभृतटीका

कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनाम्।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थंकरो गुणी ॥

ब्रह्मनेमिदत्तकृत आराधना कथाकोष

---

१. यह कथा, ब्रह्मनेमिदत्तकृत कथाकोष के आधार पर अवलम्बित है। 'राजावलिकथे' के आधार पर समन्तभद्र को मणुवकहल्लि ग्राम में तपश्चरण करते हुए भस्मक व्याधि उत्पन्न हुई। प्रतीकार न देख समन्तभद्र ने गुरु से सल्लेखना कराने की प्रार्थना की। परन्तु जब गुरु ने स्वीकृति नहीं दी तब मुनिवेष छोड़कर उन्होंने दूसरे साधु का वेष रख लिया। उस समय उधर 'भीमलिंग' नामक शिवालय था। उसमें प्रतिदिन १२ खंडक परिमाण तण्डुलान्न–चावल का नैवेद्य चढ़ाया जाता था। राजा शिवकोटि को आशीर्वाद देकर समन्तभद्र उस शिवालय में रहने लगे। धीरे–धीरे रोग शान्त होने लगा, जिससे तण्डुलान्न अधिक बचने लगा। उपसर्ग का अनुभव होते ही उन्होंने उपसर्ग की निवृत्ति पर्यन्त आहार पानी का त्याग कर दिया और चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में लीन हो गये। महावीरस्वामी की स्तुति पूर्ण होते–होते राजा शिवकोटि उनके चरणों में आ पड़ा। उसे आशीर्वाद देकर उन्होंने जैनधर्म का स्वरूप समझाया। राजा का भाई शिवायन भी समन्तभद्र का शिष्य हो गया। 'राजावलिकथे' के अनुसार उनको भस्मक व्याधि पाँच दिन में शान्त हो गई तथा शिवलिंग के फटने और चन्द्रप्रभ की प्रतिमा के प्रकट होने की कोई घटना नहीं हुई।

अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्कि चउक्कं च एय बलभद्दो।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण॥

इन उल्लेखों में अट्ठ हरी णव पडिहरि–इस गाथा का अभी तक पता नहीं चला कि मूलतः यह कहाँ की है। शेष उल्लेख चौदहवीं शती के पूर्व के नहीं हैं। जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय का उल्लेख विक्रान्तकौरव के उल्लेख से अनुप्राणित है। ब्रह्मनेमिदत्त और श्रुतसागरसूरि के उल्लेख स्पष्ट ही सोलहवीं शती के हैं। अतः समन्तभद्र भावी तीर्थंकर हैं, यह कथन कहाँ से चला, यह ज्ञात नहीं हो सका। तिलोयपण्णत्ती में जहाँ भावी तीर्थंकरों का उल्लेख है वहाँ समन्तभद्र की कोई चर्चा नहीं है। फिर समन्तभद्र यदि आगामी भव में तीर्थंकर होने वाले हैं तो उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कब किया, यह विचारणीय है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उल्लेखानुसार तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अथवा शेष तीन द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनों में अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर चार गुणस्थानवर्ती मनुष्य, केवली या श्रुतकेवली के निकट करते हैं। जैसा कि कहा है–

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥९३॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

समन्तभद्र स्वामी के समय केवली या श्रुतकेवली का सन्निधान कहाँ था ? जिस प्रकार श्रेणिक का चौरासी हजार वर्ष का अन्तरकाल रत्नप्रभा पृथ्वी में व्यतीत हो रहा है उस तरह समन्तभद्र का कितना अन्तरकाल कहाँ बीत रहा है, इसकी कोई चर्चा नहीं है। अतः इस विषय का प्रबल आधार खोजा जाना चाहिए।

समन्तभद्र का समय

जैन साहित्य और इतिहासवेत्ता श्री स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक महानिबन्ध में अनेक विद्वानों की मान्यताओं की बारीकी से समीक्षा करके यह विचार प्रकट किया है कि समन्तभद्र, उमास्वाति के बाद और पूज्यपाद स्वामी के पहले विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुए हैं। पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्रव्याकरण में चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ५/४/१४० सूत्र के द्वारा समन्तभद्र का उल्लेख किया है, अतः वे पूज्यपाद से निश्चित ही पूर्ववर्ती हैं और मल्लिषेणप्रशस्ति के उल्लेखानुसार, जिसमें कहा गया है कि –''कोण्डकुन्द के वंशज उमास्वाति, अपरनाम गृध्रपिच्छाचार्य और गृध्रपिच्छ के शिष्य बलाकपिच्छ... इस प्रकार महान् आचार्यों की वंश परम्परा में समन्तभद्र हुए हैं, उमास्वाति तथा उनके शिष्य बलाकपिच्छ से परवर्ती हैं।

संस्कृत टीका और उसके रचयिता प्रभाचन्द्र

इस पर एक संस्कृत टीका उपलब्ध है जो इस संस्करण में प्रकाशित है। यह टीका यद्यपि साधारण है फिर भी केवलिभुक्ति जैसे विषयों पर इसमें यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इस टीका में

सात परिच्छेद हैं जबकि मूल ग्रन्थ में पाँच ही हैं। गुणव्रताधिकार को अणुव्रताधिकार में और प्रतिमाधिकार को सल्लेखनाधिकार में शामिल कर दिया है। ऐसा क्यों किया गया, यह विचारणीय है।

प्रतिपादित तत्त्व का समर्थन करने के लिये उदाहरण के रूप में किसी का उल्लेख करना, इस पद्धति को कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वीकृत किया है। भावपाहुड में उन्होंने साधु पिङ्गमुनि, वसिष्ठमुनि, बाहुमुनि, द्वीपायनमुनि, शिवकुमार, जम्बूकुमार तथा शिवभूतिमुनि के उदाहरण दिये हैं। आराधनासार में भी उसके कर्ता देवसेन ने उपसर्गादि को सहने वाले पुरुषों का नामोल्लेख किया है। तथा उनके टीकाकारों ने सरल गद्य में उन सबकी कथाएँ दी हैं। समन्तभद्र स्वामी ने भी रत्नकरण्डकश्रावकाचार के विभिन्न प्रकरणों में २३ व्यक्तियों के उदाहरण दिये हैं और टीकाकार ने अपनी टीका में उनकी कथाएँ दी हैं।

इस संस्कृत टीका के रचयिता प्रभाचन्द्र हैं। पर ये प्रभाचन्द्र कौन से हैं, इसका विचार करते हुए श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार की प्रस्तावना में २० प्रभाचन्द्रों का परिचय दिया है। साथ में तुलनात्मक[१] उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि समाधितन्त्र के टीकाकार

---

१. समाधितन्त्र और रत्नकरण्डक-टीकाओं के मंगलाचरण पद्यों की तुलना है–
सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम्।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम्॥ १॥ समाधितन्त्र टीका
समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डकं परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम्॥ – रत्नकरण्डकश्रावकाचार टीका
दोनों टीकाओं के प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं–
श्रीपूज्यपादस्वामीमुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निकटदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह–समाधितन्त्र टीका
श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह– रत्नकरण्डक श्रावकाचार टीका
समाधिशतक की टीका में उसके प्रथम पद्य का सारांश इस प्रकार दिया है–
अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम्।
रत्नकरण्डकश्रावकाचार की टीका में प्रथम पद्य का सारांश इस प्रकार दिया है–
अत्र पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञतोक्ता। –
दोनों टीकाओं में 'परमेष्ठी' पद की जो व्याख्या की गई है वह एक जैसी है–
परमे इन्द्रादिवन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः। समाधितन्त्र, टीका
परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। रत्नकरण्डकश्रावकाचार, टीका

और रत्नकरण्डकश्रावकाचार के टीकाकार एक ही प्रभाचन्द्र हैं। दोनों की भाषा और व्याख्यानशैली एक-जैसी है। स्वयंभूस्तोत्र, क्रियाकलाप, दशभक्तियाँ आदि पर भी इन्हीं प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीकाएँ हैं।

यह टीका इन्होंने धारा में किसी अन्य आचार्य के अधीन रहते हुए जयसिंह द्वितीय के राज्य में बनाई है। पं॰ आशाधर जी ने १३०० वि॰ सं॰ में बनी हुई अनगारधर्मामृत की टीका में इस टीका का[१] उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि इसकी रचना वि॰ सं॰ १३०० से पूर्व हो चुकी थी। गुर्वावली में यह भी सूचित किया गया है कि पूज्यपाद के शास्त्रों की व्याख्या करने से आपकी कीर्ति लोक में विख्यात हुई थी, यथा–

पट्टे श्रीरत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र-
व्याख्याविख्यातकीर्तिर्गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचुञ्चुः।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसंदायिवादो,
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः।

पूज्यपाद के समाधिशतक पर आपकी टीका उपलब्ध है ही। पं॰ आशाधर ने अनगारधर्मामृत ८/९३ में इनकी टीका का उल्लेख करते हुए इनके प्रति **''यथाहुस्तत्रभगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादाः''** जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, उनसे इनके व्यक्तित्व की गरिमा सूचित होती है।

श्रावकधर्म का वर्णन करने वाले कुछ आचार्य और उनके ग्रन्थ

आचार्य कुन्दकुन्द–

१. दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध ग्रन्थों में हम सर्वप्रथम कुन्दकुन्दस्वामी के चारित्तपाहुड में गाथा २० से लेकर २५ तक ६ गाथाओं में श्रावकधर्म का वर्णन पाते हैं। उन छह गाथाओं में उन्होंने

दोनों टीकाओं के अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं –
येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवर्त्त्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः॥ समाधितन्त्र, टीका
येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
सः श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेषसमन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः॥ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, टीका

१. रत्नकरण्डकटीकायां 'चतुरावर्तत्रितय' इत्यादिसूत्रे 'द्विनिषद्य' इत्यस्य व्याख्याने देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविष्यप्रणामः कर्तव्यः, इति–अनगारधर्मामृत अ॰ ८, का॰ ९३, की टीका अन्तिम भाग।

संयमाचरण के निरागार और सागार की अपेक्षा दो भेद किये हैं। तदनन्तर सागारसंयमाचरण सग्रन्थ के और निरागारसंयमाचरण परिग्रह रहित मुनि के होता है, यह सूचना दी है। फिर दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमाओं के नामोल्लेख कर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से सागारसंयमाचरण के बारह भेद किये हैं। पश्चात् पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के नाम मात्र दिये हैं। अहिंसाणुव्रत आदि पाँच अणुव्रत हैं, दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग-परिमाणव्रत, ये तीन गुणव्रत हैं तथा सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं।

स्वामी कार्तिकेय

२. आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्मभावना के अन्तर्गत श्रावकधर्म का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने श्रावकधर्म के निम्नलिखित १२ भेद बताये हैं—१. सम्यग्दर्शनयुक्त, २. मद्यादिस्थूलदोषरहित, ३. व्रतधारी, ४. सामयिक, ५. पर्वव्रती, ६. प्रासुकाहारी, ७. रात्रिभोजनविरत, ८. मैथुनत्यागी, ९. आरम्भत्यागी, १०. संगत्यागी, ११. कार्यानुमोदविरत और १२. उद्दिष्टाहारविरत। उनका यह वर्णन ८५ गाथाओं में हुआ है। वर्णन शैली हृदयस्पर्शी है।

आचार्य उमास्वामी

३. स्वामिकार्तिकेय के पश्चात् श्रावकधर्म का वर्णन उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के सप्तमाध्याय में आता है। उमास्वामी ने सर्वप्रथम व्रत का लक्षण लिखकर उसको देशविरत और सर्वविरत की अपेक्षा से अणुव्रत और महाव्रत नाम रखे हैं। अहिंसादि पाँचों व्रतों की रक्षा के लिये अलग-अलग व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ बतलायी हैं। फिर पाँच पापों के लक्षण लिखकर उनके त्याग रूप पाँच व्रतों की चर्चा की है। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षाव्रतों को धारण करने की आवश्यकता बतलाकर सल्लेखना का पृथक् से वर्णन किया है और सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों तथा सल्लेखना इस प्रकार चौदह के पाँच-पाँच अतिचार बताये हैं। व्रतों की भावनाओं और अतिचारों का वर्णन सर्वप्रथम यहीं देखने में आता है।

स्वामी समन्तभद्र

४. तत्त्वार्थसूत्र के बाद श्रावकधर्म का स्वतन्त्र वर्णन स्वामी समन्तभद्राचार्य के इस रत्नकरण्डकश्रावकाचार में मिलता है। जैसा कि ग्रन्थ-निरूपण से प्रकट है।

आचार्य जिनसेन (प्रथम)

५. आचार्य जिनसेन ने महापुराण के ३८-४० वे पर्व में श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने पक्ष, चर्या और साधन रूप से श्रावकधर्म के तीन भेद किये हैं। इस त्रिविध धर्म

को धारण करने वाले श्रावक क्रम से पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक कहे गये हैं। श्रावकधर्म का यह विभाग अधिक आकर्षक हुआ, इसलिये प्राय: परवर्ती सभी श्रावकाचारों में स्वीकृत किया गया है। इन्होंने गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतों के नाम आदि में परिवर्तन नहीं किया है सिर्फ मूलगुणों में मधु के स्थान पर द्यूतव्यसन का समावेश किया है। समन्तभद्र ने पूजा का समावेश वैयावृत्य-शिक्षाव्रत में किया था। परन्तु इन्होंने इसका अलग से वर्णन किया है तथा उसके नित्यमह, अष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह और महामह आदि भेदों का वर्णन किया है।

आचार्य जिनसेन (द्वितीय)

६. पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने हरिवंशपुराण के अंठानवे पर्व में भगवान् नेमिनाथ की दिव्यध्वनि के अन्तर्गत शुभास्रव तत्त्व का वर्णन करते हुए श्रावकधर्म का विस्तृत वर्णन किया है। आपका यह वर्णन तत्त्वार्थसूत्र का अनुगामी है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नाम तथा अतिचारों आदि का वर्णन सब तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार हैं।

आचार्य सोमदेव

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू के अन्तिम तीन उच्छ्वासों का नाम उपासकाध्ययन रखा है। उसके छठवें उच्छ्वास में अष्टांग-सम्यग्दर्शन का विस्तृत निरूपण है। आठ अंगों में प्रसिद्ध होने वालों की कथाएँ भी दी हैं। सातवें और आठवें उच्छ्वास में श्रावक के बारह व्रतों का विस्तार से वर्णन है। आपने आठ मूलगुणों में समन्तभद्र सम्मत पाँच अणुव्रतों को छोड़कर पंच उदुम्बर फलों के त्याग को सम्मिलित किया है। आपने जिनपूजा का समावेश सामायिक-शिक्षाव्रत में किया है। इनकी तत्त्व निरूपण करने की शैली निराली है। पूजा की विधि आदि का अच्छा वर्णन इस उपासकाध्ययन में हुआ है।

आचार्य देवसेन

८. आचार्य देवसेन ने भावसंग्रह में पञ्चमगुणस्थान का वर्णन करते हुए श्रावकधर्म का विस्तृत वर्णन किया है। इन्होंने आठ मूलगुण आचार्य सोमदेव के समान ही माने हैं। पर गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नाम कुन्दकुन्द के समान हैं। यद्यपि पञ्चमगुणस्थान का वर्णन २५० गाथाओं में किया है परन्तु अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का सिर्फ एक-एक गाथा में नामोल्लेख किया है। प्रतिमाओं तथा अतिचारों की इसमें चर्चा भी नहीं है।

आचार्य अमितगति

९. आचार्य अमितगति संस्कृतभाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपके द्वारा रचित श्रावकाचार, 'अमितगति श्रावकाचार' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें १४ परिच्छेदों के द्वारा सम्यग्दर्शन से लेकर श्रावकाचार की समस्त क्रियाओं का विशद वर्णन किया गया है। इसकी भाषा बहुत ही कठिन है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामों में उमास्वामी का अनुकरण किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र

१०. समयसारादि ग्रन्थों के टीकाकार अमृतचन्द्रस्वामी का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अनुपम ग्रन्थ है। इसमें निश्चय और व्यवहारनय का समन्वय करते हुए रत्नत्रय का हृदयहारी वर्णन किया गया है। पहले के दो अधिकारों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सांगोपांग वर्णन कर तृतीयादि अधिकारों में श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। अहिंसाधर्म का वर्णन तो समस्त जैन-ग्रन्थों में अपनी शानी नहीं रखता। प्रत्येक व्रत के फलितार्थ में आपने अहिंसा का ही समर्थन किया है। बारह व्रतों के नाम और लक्षण तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार हैं। अतिचारों का वर्णन भी उसी के अनुरूप है। अन्तिम अधिकार में मुनिधर्म का भी संक्षेप से वर्णन किया है।

आचार्य वसुनन्दि

११. आचार्य वसुनन्दि ने अपने 'वसुनन्दि श्रावकाचार' में ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का विस्तृत वर्णन किया है। श्रावकधर्म से सम्बन्ध रखने वाली जिनपूजा तथा जिनबिम्बप्रतिष्ठा आदि क्रियाओं का भी इसमें समावेश किया गया है। यहाँ गुणव्रत तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार माने गये हैं। परन्तु शिक्षाव्रतों में परिवर्तन किया गया है। इनके द्वारा स्वीकृत चार शिक्षाव्रत ये हैं– १. भोगविरति, २. उपभोगविरति, ३. अतिथिसंविभाग और ४. सल्लेखना। आपने सामायिक और प्रोषध को शिक्षाव्रतों से अलग इस अभिप्राय से कर दिया है कि इनका सामायिक और प्रोषध प्रतिमा में समावेश हो जाता है। अन्यथा द्वितीय प्रतिमा के अन्तर्गत शिक्षाव्रतों में स्वीकृत करने पर सामायिक और प्रोषध प्रतिमाओं में पुनरुक्ति आती है। सामायिक प्रतिमा का अर्थ भी आपने त्रिकाल वन्दना स्वीकृत किया है। दान का प्रकरण भी इसमें अच्छा दिया है।

पण्डितप्रवर आशाधर

१२. पण्डितप्रवर आशाधर जी का 'सागारधर्मामृत' श्रावकाचार का पूर्ण प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ माना जाता है। आपने जिनसेनाचार्य के महापुराण के अनुसार पक्ष, चर्या और साधन इन तीन वृत्तियों को स्वीकृत कर पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक श्रावक का विस्तृत वर्णन किया है। आठ अध्यायों में ग्रन्थ पूरा हुआ है। श्रावक के बारह व्रतों, ग्यारह प्रतिमाओं तथा सल्लेखना का अच्छा वर्णन किया है। मूलगुणों, सात व्यसनों के लक्षण लिखकर मद्यत्याग आदि के अतिचारों का वर्णन किया है जो कि अन्यत्र अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ पर आपकी स्वोपज्ञ टीका है, अतः ग्रन्थ का अभिप्राय सुरक्षित रहा है।

पण्डित राजमल्ल

१३. पण्डित राजमल्ल की 'लाटीसंहिता' में भी श्रावकाचार का अच्छा वर्णन है। ग्रन्थ पीछे का है तो भी उसकी विचारसरणि अपनी निराली है। यह सात सर्गों में पूर्ण हुआ है। इसके सम्यक्त्व प्रकरण के सैकड़ों श्लोक पञ्चाध्यायी से मिलते हैं। पञ्चाध्यायी भी राजमल्ल की ही रचना है।

कवि मेधावी

१४. मेधावी कवि का 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें भी श्रावकधर्म का यथोचित वर्णन है।

आभारप्रदर्शन

रत्नकरण्डक श्रावकाचार का यह संस्करण वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट के सुयोग्य मन्त्री आदरणीय डॉ॰ दरबारीलालजी कोठिया की संमत्यनुसार तैयार किया गया है।

इसके सम्पादन में श्रीमान् स्व॰ जुगलकिशोरजी मुख्तार के द्वारा सम्पादित और दानवीर सेठ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित संस्कृत टीका सहित रत्नकरण्डकश्रावकाचार से पूर्ण सहायता ली गई है। प्रस्तावना-लेख में भी उनकी विस्तृत प्रस्तावना से यथेच्छ सामग्री संकलित की गई है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रमुख स्थान है। उसकी उत्पत्ति तथा भेद-प्रभेदों का वर्णन यद्यपि आगमग्रन्थों में जहाँ-तहाँ उपलब्ध है तथापि एकत्र उपलब्ध न होने से हमारा विद्यार्थीवर्ग उससे अपरिचित जैसा रह जाता है। विद्यार्थियों तथा साधारण स्वाध्यायार्थियों के लाभ की दृष्टि से हमने इस प्रस्तावना में सम्यग्दर्शन की कुछ विस्तार से चर्चा की है तथा जहाँ-तहाँ बिखरी हुई सामग्री को एकत्र किया है। आशा है इससे लाभ होगा। यह प्रस्तावना लिखकर मैंने पूज्य १०८ आचार्य श्रुतसागरजी महाराज के पास भेजी थी। उन्होंने इसे आद्योपान्त देखकर उचित सुझाव दिये, इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। प्रस्तावना में कुछ सामग्री श्रीमान् पं॰ हीरालालजी शास्त्री ब्यावर के वसुनन्दी श्रावकाचार की प्रस्तावना से भी संगृहीत की गई है। अतः उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

श्री स्व॰ जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' तथा 'समीचीन धर्मशास्त्र' की प्रस्तावनाओं में ग्रन्थ की जो छानबीन की है तथा इनमें जो विस्तृत सामग्री दी है उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता हुआ मैं सम्पादन, संशोधन और प्रस्तावना-लेख में हुई त्रुटियों के प्रति क्षमायाचना करता हूँ।

चरणानुयोग का यह आद्य ग्रन्थ संस्कृत-हिन्दी टीकाओं, परिशिष्टों में तथा विस्तृत प्रस्तावना के साथ श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित हो रहा है, अतः उसके संचालकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

सागर
ऋषभनिर्वाण, चतुर्दशी
माघकृष्ण १४, वीर निर्वाण सं॰ २४९८

विनीत
पन्नालाल जैन

विषयानुक्रमणिका

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

श्रीसमन्तभद्रस्वामि-विरचितो

रत्नकरण्डक श्रावकाचार

(श्रीप्रभाचन्द्राचार्यनिर्मितटीकालंकृतः हिन्दीभाषासहितः)

स्मारं स्मारं महावीरं पश्चिमं तीर्थनायकम्।
वन्दित्वा च महाभक्त्या गौतमं गणनायकम् ॥१॥
कृतं समन्तभद्रेण विवृतं च प्रभेन्दुना।
ग्रन्थं रत्नकरण्डकाख्यं रत्नत्रितय-वर्द्धकम् ॥२॥
लब्ध्वादेशं गुरोर्वृत्त्या कृतया राष्ट्रभाषया।
भव्यानां हितसमुद्दिश्य विवृणोमि समासतः ॥३॥
स्वामी समन्तभद्रोऽसौ सम्यग्ज्ञानविभूषितः।
विनाश्याज्ञानतिमिरं भूयान्मे मार्गदर्शकः ॥४॥

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्[1]।
निबन्धनं रत्नकरण्डके[2] परं करोमि[3] भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥१॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह –

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

अन्वयार्थ—(निर्धूतकलिलात्मने) नष्ट कर दिया है पाप को आत्मा से जिन्होंने **(यद्विद्या)** जिनका केवलज्ञान **(सालोकानां त्रिलोकानाम्)** अलोक सहित तीनों लोकों के विषय में **(दर्पणायते)** दर्पण के समान आचरण करता है **(तस्मै)** ऐसे **(श्रीवर्द्धमानाय)** अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी को **(नमः)** नमस्कार हो।

बाहर भीतर श्री से युत हो वर्धमान, गतमान हुए,
विराग-जल से राग-मलिनता धुला स्वयं छविमान हुए।
झलक रहा सब लोक सहित नभ जिनकी विद्या दर्पण में,
मन-वच-तन से जिन चरणों में करूँ नमन मुनि अर्पण मैं ॥१॥

टीका—'नमो' नमस्कारोऽस्तु। कस्मै ? 'श्रीवर्द्धमानाय' अन्तिमतीर्थङ्कराय तीर्थंकर-समुदायाय वा। कथं ? अव-सन्मतादृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्द्धमानः। 'अवाप्योरल्लोपः'

---

१. कर्मसाधनम् घ., २. रत्नकरण्डकं ग., ३. भक्त्या ख.

इत्यवशब्दाकारलोपः। श्रिया बहिरङ्गयाऽन्तरङ्गया च समवसरणानन्तचतुष्टय- लक्षणयोपलक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै। कथंभूताय ? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूतं [१]स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादि-रूपं पापमात्मन आत्मनां वा भव्यजीवानां येनासौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै। 'यद् विद्या' केवलज्ञानलक्षणा। किं करोति ? 'दर्पणायते' दर्पण इवात्मानमाचरति। केषां ? 'त्रिलोकानां' त्रिभुवनानां। कथंभूतानां ? 'सालोकानां' अलोकाकाशसहितानां। अयमर्थः -यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकानां तथाविधानां तद्विद्या प्रकाशिकेति। अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः[२], उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ॥१॥

टीकाकार आचार्यप्रभाचन्द्र टीका के आरम्भ में मंगलपूर्वक टीका करने की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं-

समन्तभद्रमिति-जो सब ओर से कल्याणों से युक्त हैं- अनन्त सुख से सम्पन्न हैं, समस्त जीवों को बोधित करने वाले हैं- हितोपदेशी हैं अथवा समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले हैं- सर्वज्ञ हैं और समस्त कर्मों-ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का क्षय करने वाले हैं-वीतराग हैं ऐसे अर्हन्त-जिनेन्द्र को प्रणाम कर मैं रत्नकरण्डकश्रावकाचार के ऊपर भव्यजीवों के प्रतिबोध की खानस्वरूप उत्तम टीका करता हूँ।

जिस प्रकार रत्नों की रक्षा का उपायभूत कोई करण्डक-पिटारा होता है और वह रत्नकरण्डक कहलाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्नों की रक्षा का उपायभूत यह रत्नकरण्डक नाम का शास्त्र है। इस शास्त्र की रचना करने के इच्छुक श्रीसमन्तभद्र स्वामी निर्विघ्न रूप से शास्त्र की समाप्ति आदि फल की अभिलाषा रखकर इष्टदेवता विशेष-श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करते हुए कहते हैं-

टीकार्थ-'श्रीवर्द्धमान' शब्द के दो अर्थ हैं- एक तो तीर्थनायक श्रीवर्द्धमानस्वामी-अन्तिम तीर्थंकर और दूसरा वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों का समूह। प्रथम अर्थ में श्रीवर्द्धमान नाम अन्तिम तीर्थंकर का प्रसिद्ध है और द्वितीय अर्थ में श्रीवर्द्धमान शब्द की व्याख्या इस प्रकार है-"**अव समन्ताद् ऋद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ**"-जिनका केवलज्ञान सब ओर से परम अतिशय को प्राप्त है। इस अर्थ में अवर्द्धमानशब्द सिद्ध होता है परन्तु '**अवाप्योरल्लोपः**' -अव और अपि उपसर्ग के अकार का विकल्प से लोप होता है- इस व्याकरण के नियमानुसार 'अव' उपसर्ग के अकार का लोप हो जाने से 'वर्द्धमान' शब्द सिद्ध हो जाता है। "**श्रिया वर्द्धमान इति श्रीवर्द्धमानः**" इस प्रकार श्री शब्द के साथ समास कर '**श्रीवर्द्धमान**' शब्द निष्पन्न होता है। श्री का अर्थ लक्ष्मी होता है और वह लक्ष्मी बहिरंग तथा अन्तरंग के भेद से दो प्रकार की होती है। समवसरण रूप लक्ष्मी बहिरंग लक्ष्मी और अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी अन्तरंग लक्ष्मी कहलाती है। इस तरह '**श्रीवर्द्धमान**' शब्द का अर्थ वृषभादि चौबीस तीर्थंकर होता है। उनके लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

१. स्फेटितं घ., २. उपायकर्म ग.

जिन अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमानस्वामी अथवा चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है उनकी विशेषता बतलाते हुए कहा गया है–'**निर्धूतकलिलात्मने**'–अर्थात् जिनकी आत्मा से ज्ञानावरणादि कर्मरूप कलिल–पाप समूल नष्ट हो गया है अथवा जिन्होंने दूसरे जीवों के कर्मकलंक को नष्ट कर दिया है। प्रथम पक्ष द्वारा वर्द्धमान स्वामी की वीतरागदशा का वर्णन किया गया है और द्वितीय पक्ष द्वारा उनके हितोपदेशी गुण का निरूपण किया है। जब यह जीव अपने दोषों को नष्ट कर देता है तभी उसमें सर्वज्ञता प्रकट होती है और तभी उसे उपदेश देने का अधिकार प्राप्त होता है[१] इसलिए दूसरी विशेषता बतलाते हुए लिखा है–''**यद्विद्या सालोकानां त्रिलोकानां दर्पणायते**''–अर्थात् जिनकी केवलज्ञानरूपी विद्या अलोक सहित तीनों लोकों को प्रकाशित करने के लिये दर्पण के समान है–जो सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त हैं। मनुष्य को अपना मुख अपनी चक्षु इन्द्रिय से नहीं दिखता, परन्तु दर्पण उसे दिखा देता है। इसी प्रकार जो पदार्थ मनुष्य के इन्द्रियगोचर नहीं हैं उन्हें केवलज्ञान दिखा देता है–प्रकाशित कर देता है।

यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में भगवान् की सर्वज्ञता का उपाय बतलाया गया है और उत्तरार्द्ध में सर्वज्ञता का निरूपण किया गया है। सर्वज्ञता की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वीतरागता की प्राप्ति नहीं हो जाती। वीतरागता प्राप्त होने पर अंतर्मुहूर्त के भीतर नियम से सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

विशेषार्थ– ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरण करने से परिणामों में जो विशुद्धता आती है उससे अशुभ कर्मों का अनुभाग क्षीण होता है और शुभ कर्मों का अनुभाग प्रबल होता है। शुभ कर्मों के अनुभाग की प्रबलता से ग्रन्थ रचना में विघ्न उत्पन्न करने वाले अशुभ कर्मों का अनुभाग नष्ट हो जाता है, अतः मंगलाचरण से प्रारब्ध कार्य की पूर्णता में सहायता प्राप्त होती है। यही कारण है कि शिष्टजन ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं। श्रीसमन्तभद्रस्वामी भी अपने रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन के प्रारम्भ में इस युग के अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी अथवा समस्त तीर्थंकरों के समूह को नमस्कार करते हैं।''**अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं**'' इस पाठ के अनुसार चार प्रकार के मंगलों में अरहंत भगवान् सर्वप्रथम मंगल माने गये हैं। जो ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों को नष्ट कर लोक अलोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तथा समवसरण में विराजमान होकर दिव्यध्वनि के द्वारा सब जीवों को कल्याणकारी उपदेश देते हैं वे अरहंत कहलाते हैं। यहाँ अरहंत भगवान् के उन्हीं वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता इन तीन गुणों का उल्लेख कर श्रीवर्द्धमान स्वामी को उन तीन गुणों से सहित बताया गया है। श्रीवर्द्धमान स्वामी ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित होने के कारण वीतराग हैं। इस पक्ष में '**निर्धूतकलिलात्मने**'

---

१. स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्। जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः॥ समन्तभद्र, स्वयंभूस्तोत्र, १–४

पद का समास इस प्रकार किया गया है– **निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपमात्मनो येन स तस्मै** अर्थात् जिसने अपने आपके ज्ञानावरणादि कर्मरूप पाप को नष्ट कर दिया है। और हितोपदेशी पक्ष में इस प्रकार समास किया गया है–**''निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं आत्मना-मन्यजीवानां येन स तस्मै''** अर्थात् जिसने दिव्य उपदेश के द्वारा अन्य जीवों के ज्ञानावरणादि कर्मरूप पाप को नष्ट कर दिया है। सर्वज्ञता गुण का वर्णन करने के लिए उनके ज्ञान को दर्पण की उपमा दी गई है। जिस प्रकार दर्पण पदार्थ के पास नहीं जाता है और पदार्थ दर्पण के पास नहीं आते हैं फिर भी दर्पण की स्वच्छता के कारण उसमें समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार अरहंत का ज्ञान पदार्थ के पास नहीं जाता और पदार्थ भी अरहंत के ज्ञान के पास नहीं आते, फिर भी अरहंत के ज्ञान में समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं–झलकते हैं।

आकाश के जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्य अपना अस्तित्व रखते हैं उसे लोक कहते हैं। यह लोक तीन सौ तैंतालीस घन राजू प्रमाण है तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक के भेद से तीन प्रकार का है। जहाँ सिर्फआकाश ही आकाश है उसे अलोक कहते हैं। यह लोक और अलोक सर्वज्ञ के ज्ञान में स्वतः प्रतिबिम्बित होते रहते हैं॥१॥

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं[1] कर्तु लग्नो भवानित्याह–

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २॥

अन्वयार्थ– [अहम्] मैं **(कर्मनिबर्हणम्)** कर्मों का विनाश करने वाले **(समीचीनम् धर्मम्)** सच्चे धर्म को **(देशयामि)** कहता हूँ **(यः)** जो **(सत्त्वान्)** जीवों को **(संसारदुःखतः)** संसार के दुःखों से **[उद्धृत्य]** निकालकर **(उत्तमे सुखे)** स्वर्ग-मोक्ष आदि के श्रेष्ठ सुख में **(धरति)** धरता है/ पहुँचाता है।

भव-सागर के दुःख गर्त से ऊपर भविजन को लाता,
उत्तम, उन्नत मोक्ष महल में स्थापित करता, सुख धाता।
धर्म रहा वह समीचीन है वसु विध विधि का नाशक है,
करूँ उसी का कथन मुझे अब बनना निज का शासक है ॥२॥

टीका–'देशयामि' [2]कथयामि। कं ? 'धर्मं'। कथंभूतं ? 'समीचीनं' अबाधितं तदनुष्ठातृणामिह परलोके चोपकारकं। कथं तं तथा निश्चितवन्तो भवन्त इत्याह 'कर्मनिबर्हणं' यतो धर्मः संसारदुःखसम्पादककर्मणां निबर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः। अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः संसारेत्याद्याह संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानसादीनि तेभ्यः 'सत्त्वान्' प्राणिन

१. करोति घ.। २. प्रतिपादयामि ख. घ.।

उद्धृत्य 'यो धरति' स्थापयति। क्व ? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादिप्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते॥ २॥

अब नमस्कार करने के बाद समन्तभद्रस्वामी ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हुए धर्म का निरुक्ति अर्थ बतलाते हैं–

टीकार्थ– ग्रन्थकर्त्ता श्रीसमन्तभद्रस्वामी प्रतिज्ञावाक्य कहते हैं कि मैं संसार सम्बन्धी दुःखों को प्राप्त कराने वाले कर्मों के विनाशक तथा धारण करने वाले जीवों का इस लोक तथा परलोक–दोनों में उपकार करने वाले उस धर्म का निरूपण करता हूँ जो जीवों को चतुर्गति रूप संसार में होने वाले शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक दुःखों से निकालकर स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम सुख में धारण करता है।

विशेषार्थ–शब्द के दो अर्थ होते हैं–एक निरुक्त अर्थ और दूसरा वाच्य अर्थ। यहाँ आचार्य महाराज ने धर्म शब्द का निरुक्त अर्थ बतलाते हुए कहा है–**धरतीति धर्मः** जो धारण करावे–पहुँचावे उसे धर्म कहते हैं। संसार के प्राणी नरकादि चारों गतियों में जन्म–मरण करते हुए शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखों से दुःखी हो रहे हैं। धर्म, उन्हें संसार के उपर्युक्त दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा देता है। यहाँ उत्तम सुख से तात्पर्य मोक्ष सुख से है, क्योंकि मोक्ष प्राप्त होने पर ही यह जीव जन्म–मरण के दुःखों से बच सकता है। मोक्ष प्राप्ति के अभाव में स्वर्गादिक के सुख को आपेक्षिक सुख कहा जाता है परन्तु ज्ञानी जीवों का लक्ष्य उस ओर नहीं होता। उनका लक्ष्य तो एक मोक्ष सुख की ओर ही रहता है परन्तु उसके अभाव में स्वर्गादिक का सुख स्वयं प्राप्त हो जाता है। जैसे किसान खेती तो अन्न प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है परन्तु अन्न प्राप्ति के अभाव में पलाल उसे स्वयं मिल जाता है, वह सिर्फ पलाल प्राप्ति के उद्देश्य से खेती नहीं करता॥ २॥

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह–

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

अन्वयार्थ–(धर्मेश्वराः) धर्म के स्वामी तीर्थंकरदेव **(सद्दृष्टि -ज्ञानवृत्तानि)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को **(धर्मम्)** धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग **(विदुः)** कहते हैं **(यदीयप्रत्यनीकानि)** जिनके विपरीत–मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र **(भवपद्धतिः)** संसार की परिपाटीरूप अधर्म अर्थात् संसार के मार्ग **(भवन्ति)** होते हैं।

समदर्शन औ बोध चरितमय धर्म रहा यह ज्ञात रहे,
इस विध करुणा कर हम पर वे धर्म-नाथ जिननाथ कहें।
किन्तु धर्म से, मिथ्या-दर्शन आदिक वे विपरीत रहें,
भव पद्धति हैं भव-दुख के ही निशदिन गाते गीत रहें ॥३॥

टीका–दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः, वृत्तं चारित्रं पापक्रिया निवृत्तिलक्षणं।

सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च। 'धर्मं' उक्तस्वरूपं। 'विदुः' वदन्ति प्रतिपादयन्ते। के ते ? 'धर्मेश्वरा' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथाः। कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह-यदीयेत्यादि। येषां सद्दृष्ट्यादीनां सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि भवन्ति' सम्पद्यन्ते। का ? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः। अयमर्थः -यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि संसारमार्गभूतानि[१]। अतः सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति॥३॥

अब इस प्रकार का धर्म कौन-सा है, यह कहते हुए धर्म का वाच्यार्थ बतलाते हैं-

टीकार्थ—रत्नत्रयरूप धर्म की स्वयं आराधना करने तथा दूसरे जीवों को उसका उपदेश देने से जिनेन्द्र भगवान धर्म के ईश्वर कहलाते हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही धर्म कहा है क्योंकि इन तीनों की एकता ही इस जीव को संसार के दुःखों से निकाल कर मोक्ष के उत्तम सुख में पहुँचाती है। सम्यग्दर्शनादि से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संसार के मार्ग हैं अर्थात् इन्हीं के कारण जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हुए दुःख भोगते हैं।

विशेषार्थ—धर्म शब्द का निरुक्त अर्थ है धरतीति धर्मः जो संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में धारण करावे-पहुँचावे वह धर्म है। तथा धर्म शब्द का वाच्यार्थ है-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन्हीं के द्वारा जीव मोक्ष के उत्तम सुख को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनादि से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। इन्हें अधर्म कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा जीव चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को प्राप्त करता है।

आचार्यों ने धर्म शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की है[२]। कोई आचार्य **वत्थुसहावो धम्मो**-वस्तुस्वभाव ही धर्म है, इन शब्दों द्वारा आत्मा का जो ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव है, उसे धर्म कहते हैं। कोई आचार्य **उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।** इस सूत्र द्वारा क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य को धर्म कहते हैं। कोई आचार्य **चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥** अर्थात् चारित्र को धर्म कहते हैं, आत्मा का जो सम परिणाम है वह धर्म कहलाता है और मोह-मिथ्यात्व तथा क्षोभ-रागद्वेष से रहित आत्मा का परिणाम सम परिणाम है-इन शब्दों के द्वारा चारित्र को धर्म कहते हैं। कोई आचार्य **जीवाणं रक्खाणं धम्मो** अर्थात् जीवों की रक्षा करना धर्म है-इन शब्दों के द्वारा दया और अहिंसा रूप परिणति को धर्म कहते हैं। ग्रन्थकार **सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि**

---

१. प्रमाणैः प्रसिद्धान्यतः कारणात् ख.। प्रसिद्धान्यतः सम्यग्दर्शनादीन्यपवर्गसुख घ.।

२. धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥४+७८॥ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा

धर्मं धर्मेश्वरा विदुः–इन शब्दों के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। विचार करने पर धर्म की ये सब परिभाषाएँ **वत्थुसहावो धम्मो** इस परिभाषा के विस्तार रूप ही हैं, क्योंकि क्षमा आदिक धर्म, मोह और क्षोभ से रहित साम्यभाव रूप धर्म, दया और अहिंसा रूप धर्म तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म आत्मा के ही स्वभाव हैं। एक स्वभाव के कहने से अन्य स्वभावों का कथन उसी के अन्तर्गत आ जाता है। आत्मा के इस उपर्युक्त स्वभाव की प्राप्ति में सहायक जीव की जो प्रवृत्ति एवं साधन हैं उन्हें भी उपचार से धर्म माना गया है ॥३॥

तत्र सम्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह–

श्रद्धानं परमार्थाना,-माप्तागम-तपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढ-मष्टाङ्गं, सम्यग्दर्शन-मस्मयम् ॥४॥

अन्वयार्थ–(परमार्थानाम्) परमार्थभूत/सच्चे **(आप्तागमतपो-भृताम्)** देव, शास्त्र और गुरु का **(त्रिमूढापोढम्)** तीन मूढ़ताओं से रहित **(अष्टाङ्गम्)** आठ अंगों से सहित और **(अस्मयम्)** आठ प्रकार के मदों से रहित **(श्रद्धानम्)** श्रद्धान को **(सम्यग्दर्शनम्)** सम्यग्दर्शन कहा है।

परमारथमय पूज्य आप्त में परमारथ अघहारक में,
श्रद्धा करना भाव-भक्ति से तथा परम तपधारक में।
वसुविध अंगों का पालन, त्रय मूढ़पना, वसु मद तजना,
वही रहा समदर्शन है नित रे मन! 'समदर्शन भजना'॥४॥

टीका–सम्यग्दर्शनं भवति। किं ? 'श्रद्धानं' रुचिः। केषां ? 'आप्तागमतपोभृतां' वक्ष्यमाण-स्वरूपाणां। न चैवं षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थानां श्रद्धानमसंगृहीत-मित्याशंकनीयं [१]आगमश्रद्धानादेव तच्छ्रद्धान-संग्रहप्रसिद्धेः। अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः। तच्छ्रद्धानेतेषां श्रद्धानं सिद्धमेव। किंविशिष्टानां तेषां ? 'परमार्थानां परमार्थभूतानां न पुनर्बौद्धमत[२] इव कल्पितानां। कथंभूतं श्रद्धानं ? 'अस्मयं' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत्[३]। पुनरपि किंविशिष्टं[४]? त्रिमूढापोढं त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाण-लक्षणैरपोढं रहितं यत्। 'अष्टाङ्गं' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशंकितत्वादीन्य-ङ्गानि स्वरूपाणि यस्य॥४॥

आगे सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं–

टीकार्थ–आप्त–देव, आगम–शास्त्र और तपोभूत–गुरु का जो स्वरूप कहा गया है उस स्वरूप से सहित आप्त, आगम और तपोभृत का दृढ़ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, और गुरुमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओं से रहित होता है। निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अङ्गों से

१. आप्तागमश्रद्धानादेव ख.॥ २.बौद्धमत इव घ.॥ ३.न विद्यन्ते स्मया वक्ष्यमाणा यत्र इत्यादिपाठः ख.। ४.कथंभूतं ख.।

सहित होता है तथा ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ प्रकार के मद से रहित होता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि अन्य शास्त्रों में छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है परन्तु यहाँ आचार्य ने देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहकर अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित लक्षण का संग्रह नहीं किया है, तो इस शंका का समाधान यह है कि आगम के श्रद्धान से ही छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थों के श्रद्धान रूप लक्षण का संग्रह हो जाता है, क्योंकि **अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः**-'अबाधित' अर्थ का कथन करने वाला जो आप्त का वचन है वही आगम है। आगम का यह लक्षण शास्त्रकारों ने स्वीकृत किया है। इसलिए आगम के श्रद्धान में ही छहद्रव्य आदि का श्रद्धान संगृहीत हो जाता है।

विशेषार्थ—जैनशास्त्र प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगों में विभाजित हैं। प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में आचरण की प्रधानता से पदार्थ का कथन होता है। करणानुयोग में आत्मपरिणामों की प्रधानता से निरूपण होता है और द्रव्यानुयोग में तत्त्व-चिन्तन की प्रधानता से प्रतिपादन होता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न अनुयोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है। रत्नकरण्डक-श्रावकाचार चरणानुयोग का ग्रन्थ है। अतः इसमें आचरण की प्रधानता से सम्यग्दर्शन का लक्षण करते हुए कहा गया है कि परमार्थभूत आप्त, आगम और तपोभृत-देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन को निर्दोष रखने के लिए तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से दूर रहना चाहिए तथा उसके पूर्ण विकास के लिए आठ अङ्गों का पालन करना चाहिए।

करणानुयोग के ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन का लक्षण यह कहा गया है कि मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से श्रद्धागुण की जो निर्मल पर्याय प्रकट होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है कि अपने-अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों अथवा पञ्चास्तिकायों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत प्रमुखता से आत्मतत्त्व का वर्णन करने वाले अध्यात्म ग्रन्थों में पर पदार्थों से भिन्न शुद्ध आत्म तत्त्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त लक्षण विवक्षा भेद से पृथक्-पृथक् जान पड़ते हैं, तथापि वे पृथक्-पृथक् न होकर एक-दूसरे के साधक हैं। एक के प्राप्त होने पर दूसरे लक्षण स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं॥४॥

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह-

आप्तेनोत्सन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अन्वयार्थ–(आप्तेन) आप्त को **(उत्सन्न[१]-दोषेण)** अठारह दोषों से रहित वीतराग **(सर्वज्ञेन)** सर्वज्ञ और **(आगमेशिना)** आगम का स्वामी–हितोपदेशी **(नियोगेन)** नियम से **(भवितव्यम्)** होना चाहिए **(हि)** क्योंकि **(अन्यथा)** अन्य प्रकार से **(आप्तता)** आप्तपना/देवपना **(न भवेत्)** नहीं हो सकता।

लोकालोकालोकित करते पूर्ण ज्ञान से सहित रहें,
विरागता से भरित रहे हैं दोष अठारह रहित रहें।
जगहित के उपदेशक ये ही नियम रूप से आप्त रहें,
यही आप्तता नहीं अन्यथा जिन-पद में मम माथ रहे ॥५॥

टीका– 'आप्तेन' भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा। किंविशिष्टेन ? 'उत्सन्नदोषेण' नष्टदोषेण। तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्रविषयेऽशेषविशेषतः परिस्फुटपरिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यं। तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतु-भूतागमप्रतिपादकेन नियमेन[२]भवितव्यं। कुत एतदित्याह–'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।' 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत्॥ ५॥

आगे सम्यग्दर्शन के विषय रूप से कहे हुए आप्त का लक्षण कहते हैं–

टीकार्थ–जिसके क्षुधा, पिपासा आदि शारीरिक तथा रागद्वेषादिक आन्तरिक दोष नष्ट हो चुके हैं, जो समस्त पदार्थों को उनकी समस्त विशेषताओं के साथ स्पष्टरूप से जानता है तथा जो आगम का स्वामी है अर्थात् जिसकी दिव्यध्वनि को सुनकर गणधर द्वादशाङ्गरूप आगम की रचना करते हैं, इस तरह जो भव्य जीवों को हेय और उपादेय तत्त्वों का ज्ञान कराने वाले आगम का मूल प्रतिपादक है वही पुरुष आप्त-सच्चा देव हो सकता है। यह नियम है क्योंकि इन विशेषताओं के अभाव में आप्तपना नहीं हो सकता।

विशेषार्थ–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों के नष्ट होने से जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख या क्षायिक सम्यक्त्व तथा अनन्त बल ये अनन्तचतुष्टय प्रकट हुए हैं, वे आप्त कहलाते हैं। जो तीर्थंकर होकर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हुए हैं उनकी दिव्यध्वनि नियम से खिरती है। उसी दिव्यध्वनि के आधार पर गणधरदेव द्वादशाङ्ग श्रुत की रचना करते हैं। जो सामान्य पुरुष अरहंत अवस्था प्राप्त करते हैं उनकी दिव्यध्वनि खिरने का नियम नहीं है क्योंकि उनमें जो मूककेवली या अन्तकृत्केवली होते हैं उनके तो दिव्यध्वनि खिरने का प्रसङ्ग नहीं आता। जैनागम में अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी को देवसंज्ञा तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी को गुरुसंज्ञा दी गई है। देव के लक्षण में वीतरागता और सर्वज्ञता का होना अनिवार्य है। इन दोनों विशेषताओं के साथ जहाँ आगमेशिता-हितोपदेशकता का संग्रह किया गया है, वहाँ तीर्थंकर अरहंत

१. 'च्छि' पाठान्तरं घ.। २. नियोगेन, ख. ग.।

की अपेक्षा समझना चाहिए ॥५॥

अथ के पुनस्ते दोषा ये [१]तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह–

क्षुत्पिपासा - जरातङ्क - जन्मान्तक - भयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसके **(क्षुत्-पिपासाजरातङ्क-जन्मान्तक-भयस्मयाः)** भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, **(रागद्वेषमोहाः)** राग, द्वेष, मोह **(च)** और चिंता, अरति, निद्रा, आश्चर्य, स्वेद, रोष और खेद ये अठारह दोष **(न)** नहीं हैं **(सः)** वह **(आप्तः)** आप्त/सच्चा देव **(प्रकीर्त्यते)** कहा जाता है।

क्षुधा नहीं है तृषा नहीं है जरा जनन नहिं खेद नहीं,
रोग शोक नहिं राग रोष नहिं तथा मरण नहिं स्वेद नहीं।
निद्रा, चिन्ता, विस्मय नहिं हैं भीति अरति नहिं गर्व रहा,
मोह न जिनमें आप्त रहे वे जिनपद में जग सर्व रहा॥६॥

टीका–क्षुच्च बुभुक्षा। पिपासा च तृषा। जरा च वृद्धत्वं। आतङ्कश्च व्याधिः। जन्म च कर्मवशाच्चतु-र्गतिषूत्पत्तिः। अन्तकश्च मृत्युः। भयं चेहपरलोकात्राणागुप्तिमरण-वेदनाऽऽकस्मिकलक्षणं। स्मयश्च जातिकुलादिदर्पः रागद्वेषमोहाः प्रसिद्धाः। चशब्दाच्चिन्ताऽरतिनिद्राविस्मय[२]रोषस्वेदखेदा गृह्यन्ते। एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते। ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्न स्यात्। अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः। तथा हि। भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनेनोच्यते[३]–अत्र किमाहारमात्रं[४] साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता 'आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा' इत्यागमाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः। देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः संभवात्। अथ[५] मानसाहारात्तेषां तत्स्थिति-स्तर्हि[६] केवलिनां कर्मनोकर्माहारात् सास्तु। अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत् सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्यभावः स्यात्। अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयः किं न स्यात्। किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रिय[७] जनितत्वप्रसङ्गः। तथा हि–भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात्

१.येत्रोत् सन्ना घ.। २. अस्य स्थाने 'विषाद' इतिपाठः ख. ग.घ.। ३.जैनेनोच्यते ख–पुस्तके नास्ति। जैनेनं तदुच्यते घ. ४.णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो। ओजमणो हि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ॥ णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेण माणसो अमरे। कवलाहारो णर-पसु ओज्जो पक्खीण लेप्प-रुक्खाणं। विग्गहगइमावण्णा केवलिणो सम्मुहदो अजोगी य। सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा। ५. 'अथ' मानसाहारास्तेषां तत्र स्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात्' इति पाठो च पुस्तके नास्ति। ६. 'तर्हि' इति ख.ग. पुस्तकयोर्नास्ति। ७. तज्ज्ञानस्येन्द्रियजत्व- घ.।

अस्मदादिज्ञानवत्। अतो भगवतः केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रिय-ज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः। ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाविशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्वं किं न स्यात्। वेदनीय-सद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्नाः मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्।-'भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा', सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्? अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसङ्गात् कमनीयकामिन्यादि सेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्या-विशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत् परमप्रकर्ष-प्रसिद्धेर्वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरम-प्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात्, तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथा हि-एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुंक्ते, कदाचित् विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुंक्ते। कश्चित् पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति। किंच-बुभुक्षा-पीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद् भवेत् तदास्वादनं चास्य रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसङ्गात् केवलज्ञानाभावः स्यात्। केवलज्ञानाच्चेत् किंभोजनेन? दूरस्थस्यापि-त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात्। कथं चास्य केवलज्ञानसंभवो भुंजानस्य श्रेणीतः पतितस्य प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात्। अप्रमतो[१] हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुंजानोऽपीति महच्चित्रं। अस्तु तावज्ज्ञानसंभवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुंजीत अन्तरायप्रसङ्गात्। गृहस्था अप्यल्पसत्त्वास्तानि[२] पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति किंपुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तन्न कुर्यात्। तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीन[३] सत्त्वप्रसङ्गात्। क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामितास्य। न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत्। न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यं "क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना" इत्यभिधानात्। तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रपञ्चतः प्ररूपणात् ॥६॥

आगे, वे कौन से दोष हैं, जो आप्त में नष्ट हो जाते हैं, ऐसी आशंका उठाकर उन दोषों का वर्णन करते हैं-

टीकार्थ- क्षुधा भूख को कहते हैं, पिपासा प्यास को कहते हैं, जरा वृद्धावस्था को कहते हैं, वात, पित्त तथा कफ के विकार से होने वाले रोगों को व्याधि कहते हैं। कर्मों की अधीनता से चारों गतियों में उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है, अन्तक मृत्यु को कहते हैं, इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक के भेद से भय सात प्रकार का है, जाति, कुल आदि के गर्व को स्मय अथवा अहंकार कहते हैं, इष्ट वस्तुओं में प्रीति रूप परिणाम होना राग कहलाता है, अनिष्ट वस्तुओं में अप्रीति रूप परिणाम होना द्वेष कहलाता है, शरीरादिक परवस्तुओं में अहंबुद्धि करना मोह कहलाता है। श्लोक में आये हुए च शब्द से चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद इन सात दोषों का संग्रह पृथक् से होता है। इष्टवस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये तथा अनिष्ट

१. अप्रमत्तोऽपि ख.। २. सत्त्वानि ख.ग.। ३. हीनत्व ख.।

वस्तु का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिये परिणामों में जो विकलता होती है, उसे चिन्ता कहते हैं। अनिष्ट वस्तुओं का समागम होने पर जो अप्रसन्नता होती है, उसे अरति कहते हैं, निद्रा का अर्थ प्रसिद्ध है। इसके निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि के भेद से पाँच भेद होते हैं। आश्चर्य रूप परिणाम को विस्मय कहते हैं, नशा को मद कहते हैं, पसीना को स्वेद कहते हैं और थकावट को खेद कहते हैं। क्षुधा, पिपासा आदि सब मिलाने पर अठारह दोष होते हैं। ये सब दोष जिसमें नहीं हैं वही आप्त कहलाता है।

यहाँ कोई आशंका करता है कि आप्त भगवान् के भी क्षुधा होना चाहिए, क्योंकि क्षुधा का अभाव होने पर आहारादिक में प्रवृत्ति नहीं होगी और आहारादिक में प्रवृत्ति न होने से शरीर की स्थिति नहीं रह सकेगी। आप्त के शरीर की स्थिति है, अतः उससे आहार की भी सिद्धि होती है ? यहाँ निम्न प्रकार का अनुमान होता है– आप्त भगवान् की शरीर स्थिति आहारपूर्वक होती है क्योंकि वह शरीर स्थिति का कारण है, हमारे आदि की शरीर स्थिति के समान। जिस प्रकार हमारे आदि का शरीर आहार के बिना स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार आप्त भगवान् का शरीर भी आहार के बिना स्थिर नहीं रह सकता। चूँकि उनका शरीर देशोनपूर्वकोटि पूर्व वर्ष तक स्थिर रह सकता है। अतः उनके आहार अवश्य होगा और जब आहार होगा तब क्षुधा का मानना अनिवार्य हो जायेगा ?

इस आशंका के उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि आप्त भगवान् के आहार मात्र सिद्ध किया जा रहा है या कवलाहार ? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधनता दोष आता है, क्योंकि 'सयोगकेवली पर्यन्त के जीव आहारक हैं ऐसा आगम में स्वीकृत किया गया है और दूसरे पक्ष में देवों की शरीर स्थिति के साथ व्यभिचार आता है क्योंकि देवों के सदा कवलाहार का अभाव होने पर भी शरीर की स्थिति देखी जाती है। यदि यहाँ कोई यह कहे कि देवों के मानसिक आहार होता है उससे उनके शरीर की स्थिति देखी जाती है तो इसका उत्तर यह है कि केवली भगवान् के कर्म तथा नोकर्माहार होता है उससे उनके शरीर की स्थिति रह सकती है। यदि यहाँ यह कहा जावे कि आप्त का शरीर हमारे आदि के शरीर के समान मनुष्य का शरीर है इसलिये जिस प्रकार हमारे आदि का शरीर आहार के बिना नहीं रहता उसी प्रकार आप्त का शरीर भी आहार के बिना नहीं रहता ? इसका उत्तर यह है कि यदि आहार की अपेक्षा आप्त भगवान् और हमारे आदि के शरीर की तुलना की जाती है तो जिस प्रकार आप्त के शरीर में पसीना आदि का अभाव है उसी प्रकार हमारे आदि के शरीर में भी पसीना आदि का अभाव होना चाहिए क्योंकि मनुष्य शरीरत्व रूप हेतु दोनों में विद्यमान है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जावे कि हमारे आदि के शरीर में वह अतिशय नहीं पाया जाता जिससे कि पसीना आदि का अभाव होता है परन्तु व्याप्त भगवान् के यह अतिशय रहता है जिसके कारण उनके शरीर में पसीना आदि नहीं होता, तो उसका उत्तर यह है कि जब आप्त भगवान् के पसीना आदि के अभाव का अतिशय माना जाता है तब भोजन के अभाव का अतिशय क्यों नहीं हो सकता ? दूसरी बात यह है कि जो धर्म हमारे आदि में देखा जाता

है, वह यदि भगवान् में भी सिद्ध किया गया है तो जिस प्रकार हमारे आदि का ज्ञान इन्द्रियजनित है उसी प्रकार भगवान् का ज्ञान भी इन्द्रियजनित मानना चाहिए। इसके लिए निम्न प्रकार का अनुमान किया जा सकता है– भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानवत् अस्मदादिज्ञानवत् भगवान् का ज्ञान इन्द्रियजनित है क्योंकि वह ज्ञान है हमारे आदि के ज्ञान के समान। इस अनुमान से अरहंत भगवान् के केवलज्ञान रूप अतीन्द्रियज्ञान असंभव हो जावेगा और तब सर्वज्ञता के लिए जलाञ्जलि देनी पड़ेगी। यदि यह कहा जावे कि हमारे और उनके ज्ञान में ज्ञानत्व की अपेक्षा समानता होने पर भी उनका ज्ञान अतीन्द्रिय है तो इसका उत्तर यह है कि हमारे और उनके शरीर स्थिति की समानता होने पर भी उनकी शरीर स्थिति अकवलाहार पूर्वक क्यों नहीं हो सकती ?

अरहन्त भगवान् के असातावेदनीय का उदय रहने से बुभुक्षा–भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, इसलिए भोजनादि में उनकी प्रवृत्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस वेदनीय के साथ मोहनीय कर्म सहायक रहता है वही बुभुक्षा के उत्पन्न करने में समर्थ होता है। भोजन करने की इच्छा को बुभुक्षा कहते हैं। वह बुभुक्षा मोहनीयकर्म का कार्य है। अत: जिनके मोह का सर्वथा क्षय हो चुका है ऐसे अरहन्त भगवान् के वह कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा न माना जावेगा तो फिर रिरंसा–रमण करने की इच्छा भी उनके होना चाहिए। और उसके होने पर सुन्दर स्त्री आदि के सेवन का प्रसंग आ जावेगा। उसके आने पर अरहंत भगवान् की वीतरागता ही समाप्त हो जावेगी। यदि यह कहा जाये कि विपरीत भावनाओं के वश से रागादिक की हीनता का अतिशय देखा जाता है अर्थात् रागादिक के विरुद्ध भावना करने से रागादिक में ह्रास देखा जाता है। केवली भगवान् के रागादिक का ह्रास अपनी चरम सीमा को प्राप्त हो जाता है, इसलिए उनकी वीतरागता में बाधा नहीं आती ? इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा है तो उनके भोजनाभाव को परमप्रकर्षता क्यों नहीं हो सकती, क्योंकि भोजनाभाव की भावना से भोजनादिक में भी ह्रास का अतिशय देखा जाता है। जैसे जो पुरुष एक दिन में अनेक बार भोजन करता है वही पुरुष कभी विपरीत भावना के वश से एकबार भोजन करता है कोई पुरुष एक दिन के अन्तर से भोजन करता है और कोई पुरुष पक्ष, मास तथा वर्ष आदि के अन्तर से भोजन करता है।

दूसरी बात यह भी है कि अरहन्त भगवान् के जो बुभुक्षा सम्बन्धी पीड़ा होती है और उसकी निवृत्ति भोजन के रसास्वादन से होती है तो यहाँ पूछना यह है कि वह रसास्वादन उनके रसना इन्द्रिय से होता है या केवलज्ञान से ? यदि रसना इन्द्रिय से होता है ऐसा माना जाय कि तो मतिज्ञान का प्रसंग आने से केवलज्ञान का अभाव हो जायेगा। इस दोष से बचने के लिये यदि केवलज्ञान से रसास्वादन माना जाय तो फिर भोजन की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि केवलज्ञान के द्वारा तो तीन लोक के मध्य में रहने वाले दूरवर्ती रस का भी अच्छी तरह अनुभव हो सकता है। एक बात यह भी है कि भोजन करने वाले अरहन्त के केवलज्ञान हो भी कैसे सकता है क्योंकि भोजन करते समय वे श्रेणी से पतित

होकर प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती हो जावेंगे। जब अप्रमत्तविरत साधु, आहार की कथा करने मात्र से प्रमत्त हो जाता है, तब अरहन्त भगवान् भोजन करते हुए भी प्रमत्त न हो यह बड़ा आश्चर्य है। अथवा केवलज्ञान मान भी लिया जाय तो भी केवलज्ञान के द्वारा मांस आदि अशुद्ध द्रव्यों को देखते हुए वे कैसे भोजन कर सकते हैं, क्योंकि अन्तराय का प्रसंग आता है। अल्पशक्ति के धारक गृहस्थ भी जब मांसादिक को देखते हुए अन्तराय करते हैं तब अनन्तवीर्य के धारक अरहन्त भगवान् क्या अन्तराय नहीं करेंगे ? यदि नहीं करते हैं तो उनके उनसे भी हीन शक्ति का प्रसंग आता है। यदि अरहंत भगवान् के क्षुधा सम्बन्धी पीड़ा होती है तो उनके अनन्तसुख किस प्रकार हो सकता है ? जबकि वे अनन्तचतुष्टय के स्वामी नियम से होते हैं। जो अन्तराय से सहित है उसके ज्ञान के समान सुख की अनन्तता नहीं हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अन्तराय सहित ज्ञान में अनन्तता नहीं होती उसी प्रकार अन्तराय सहित अरहंत के सुख में अनन्तता नहीं हो सकती। क्षुधा पीड़ा ही नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोक में यह उक्ति प्रसिद्ध है–**क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना** क्षुधा के समान शरीर की पीड़ा दूसरी नहीं है। इस विषय का अधिक विस्तार करना व्यर्थ है क्योंकि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में विस्तार से इसका निरूपण किया गया है।

विशेषार्थ–आप्त–अरहन्त भगवान्, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित होते हैं इसलिये वीतराग कहलाते हैं। केवलज्ञान होते ही औदारिक शरीर परमौदारिक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उसमें से त्रस तथा बादर निगोदिया जीव पृथक् हो जाते हैं। उस पर वृद्धावस्था का कोई प्रभाव नहीं रहता। असातावेदनीय कर्म की उदीरणा–तीव्र उदय का अभाव होने से उनके क्षुधा, तृषा आदि की बाधा नहीं होती। मोहनीय कर्म का अभाव होने से राग, द्वेष, मोह, भय आदि दोष नहीं होते। दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से निद्रा नहीं होती। यद्यपि भुज्यमान–वर्तमान मनुष्यायु का सद्भाव है तथापि आगामी आयु का बन्ध न होने से उन्हें जन्मधारण नहीं करना पड़ता। उनके मृत्यु नहीं होती। किन्तु निर्वाण होता है। मृत्यु उसे कहते हैं जिसके बाद जन्मधारण करना पड़े और निर्वाण उसे कहते हैं जिसके होने पर फिर जन्म धारण न करना पड़े। अरहन्त भगवान् के क्षुधा, तृषा का अभाव होने से कवलाहार नहीं होता। कवलाहार के न होने पर भी लाभान्तराय कर्म के क्षय से प्रत्येक समय जो शुभ, सूक्ष्म, अनन्तपुद्गल परमाणुओं का लाभ होता है उसी के द्वारा उनका परमौदारिक शरीर देशोनकोटिवर्ष पूर्व तक स्थिर रह जाता है। आगम में आहार के छह भेद बतलाये गये हैं–१. नोकर्माहार, २. कर्माहार, ३. कवलाहार, ४. लेपाहार, ५. ओजाहार और ६. मानसाहार। इनमें अरहंत भगवान् के नोकर्माहार होता है, नारकियों के कर्माहार, देवों के मानसाहार, मनुष्य और पशुओं के कवलाहार, अण्डस्थ पक्षियों के ओज आहार और वृक्षादि वनस्पतियों के लेपाहार होता है। अरहन्त के कवलाहार क्यों नहीं होता है ? इसका विचार संस्कृत टीकाकार ने विस्तार से किया है ॥६॥

अथोक्तदोषैर्विवर्जितस्याप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह–

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः, सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥७॥

अन्वयार्थ–[सः आप्तः] वह आप्त **(परमेष्ठी)** परमेष्ठी–परम पद में स्थित **(परं-ज्योतिः)** परम ज्योति–केवलज्ञान से सहित **(विरागः)** राग से रहित **(विमलः)** विमल–मूल और उत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्म के नष्ट हो जाने से **(कृती)** कृतकृत्य **(सर्वज्ञः)** सर्वज्ञ **(अनादिमध्यान्तः)** आदि, मध्य तथा अन्त से रहित **(सार्वः)** सार्व–सर्वहितकर्ता और **(शास्ता)** हितोपदेशक **(उपलाल्यते)** कहा जाता है, ये सब आप्त के नाम हैं।

परमेष्ठी हैं परम ज्योतिमय पूर्ण-ज्ञान के धारी हैं,
विमल हुए कृतकृत्य हुए हैं वीतराग अविकारी हैं।
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं विश्व-विज्ञ जग हितकारी,
वे ही शास्ता कहलाते हैं सदुपदेश के अधिकारी ॥७॥

टीका–परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी'। परं निरावरणं परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ परंज्योतिः। 'विरागो' विगतो रागो भावकर्म यस्य। 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तर-कर्मप्रकृतिप्रपञ्चो यस्य। 'कृती' निःशेषहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः। 'सर्वज्ञो' यथावन्निखि-लार्थ-साक्षात्कारी। 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपप्राप्तप्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः। 'सार्वः' इहपर-लोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोष-परिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः। एतैः शब्दैरुक्तस्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते ॥७॥

आगे पूर्वोक्त दोषों से रहित आप्त की नामावली का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं–

टीकार्थ–आप्त–अरहन्त भगवान् को परमेष्ठी आदि कहते हैं। परमे तिष्ठतीति परमेष्ठी इस व्युत्पत्ति के अनुसार वे इन्द्रादिक के द्वारा वन्दनीय परमपद में स्थित रहते हैं इसलिए परमेष्ठी कहलाते हैं। **परंज्योतिर्यस्यासौ परंज्योतिः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार निरावरण केवलज्ञान से सहित होने के कारण परंज्योतिः कहलाते हैं। विगतो रागो यस्य स विरागः इस व्युत्पत्ति के अनुसार राग रूप भावकर्म के नष्ट हो जाने से विराग कहलाते हैं। विनष्टो मलो यस्य स विमलः इस व्युत्पत्ति के अनुसार मूलोत्तर प्रकृति रूप द्रव्यकर्म के नष्ट हो जाने से विमल कहे जाते हैं। कृतमनेनेति कृती इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त हेय और उपादेय तत्त्वों के विषय में विवेक-संपन्न होने के कारण कृती कहलाते हैं। सर्वं जानातीति सर्वज्ञः इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त पदार्थों के साक्षात्कारी होने से सर्वज्ञ कहलाते हैं। **न विद्यन्ते आदिमध्यान्ता यस्य सोऽनादिमध्यान्तः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वोक्त स्वरूप वाले आप्त के प्रवाह की अपेक्षा आदि, मध्य और अन्त से शून्य होने के कारण वे अनादिमध्यान्त कहे जाते हैं। सर्वभ्यो हितः सार्वः इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस लोक और परलोक का उपकार करने वाले मार्ग

को दिखलाने के कारण सार्व कहलाते हैं। शास्तीति शास्ता इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वापरविरोध आदि दोषों को बचाकर समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का उपदेश देने से शास्ता कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि इन परमेष्ठी आदि शब्दों के द्वारा पूर्वोक्त स्वरूप वाले आप्त का कथन होता है।

विशेषार्थ—यहाँ आप्त को जो आदि, मध्य और अन्त से रहित कहा है वह नाना आप्तों की अपेक्षा समझना चाहिए, क्योंकि सामान्य रूप से आप्त आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं अर्थात् अनादिकाल से होते आये हैं और अनन्त काल तक विद्यमान रहेंगे। जिसका आदि और अन्त नहीं होता उसका मध्य भी नहीं होता। एक जीव की अपेक्षा अरहन्त अवस्था सादि सान्त है और सिद्ध अवस्था सादि अनन्त है।

इस समय पठन-पाठन में चलने वाली टीकाओं में कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक की टीका हितोपदेशी के लक्षण रूप से की है पर वह ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि उसमें 'यः' और 'सः' पदों की योजना ऊपर से करनी पड़ती है। संस्कृत टीकाकार ने इसकी टीका आप्त की नामावली के रूप में ही की है ॥७॥

सम्यग्दर्शनविषयभूताप्तस्वरूपमभिधायेदानीं तद्विषयभूतागमस्वरूपमभिधातुमाह–

अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥८॥

अन्वयार्थ–[सः] वह **(शास्ता)** हितोपदेशक आप्त भगवान् **(रागैः विना)** राग रहित अर्थात् ख्याति, लाभ, पूजा आदि की अभिलाषा के बिना **(अनात्मार्थम्)** अपना प्रयोजन न होने पर भी **(सतः)** सज्जन–भव्यजीवों के **(हितं शास्ति)** हित को कहते हैं जैसे **(शिल्पिकर-स्पर्शात्)** बजाने वाले के हाथ के स्पर्श से **(ध्वनन्)** शब्द करता हुआ **(मुरजः)** मृदंग **(किम्)** क्या **(अपेक्षते)** अपेक्षा रखता है ? अर्थात् कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता।

भविक जनों का हित हो देते, सदुपदेश स्वयमेव विभो,
प्रतिफल की वांछा न रखते वीतराग जिनदेव प्रभो!
वाद्यकला में पण्डित शिल्पी मुरज बजाता, बजता है,
मुरज, माँगता नहीं कभी कुछ यही रही अचरजता है ॥८॥

टीका—'शास्ता' आप्तः। 'शास्ति' शिक्षयति। कान् ? 'सतः' अविपर्यस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान्। किं शास्ति ? 'हितं' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिकं। किमात्मनः किंचित्फलमभिलषन्नसौ शास्तीत्याह–'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति। ''परोपकाराय सतां हि चेष्टितं'' इत्यभिधानात्। स तथा शास्तीत्येतत् कुतोऽवगतमित्याह–'विना रागैः' यतो लाभपूजाख्यात्यभिलाषलक्षणपरैरागैर्विना शास्ति ततोऽनात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते।

अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह-ध्वनन्नित्यादि। शिल्पिकरस्पर्शाद्वादककराभिघातान्मुरजो मदलो ध्वनन् किमात्मार्थं किंचिदपेक्षते। नैवापेक्षते। अयमर्थः-यथा मुरजः परोपकारार्थमेव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति ॥८॥

सम्यग्दर्शन के विषयभूत आप्त का स्वरूप कहकर अब उसके विषयभूत आगम का स्वरूप कहने के लिये श्लोक कहते हैं-

टीकार्थ- आप्त भगवान्, चित्त विक्षेप आदि दोषों से रहित श्रेष्ठ भव्य जीवों को दिव्यध्वनि के द्वारा जो स्वर्गादिक तथा उनके साधनभूत सम्यग्दर्शनादि का उपदेश देते हैं वह लाभ, पूजा तथा ख्याति आदि की अभिलाषा रूप-राग के बिना ही देते हैं और उस उपदेश में उनका निज का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। मात्र परोपकार के लिए उनकी उपदेश में प्रवृत्ति होती है। जैसा कि कहा गया है- परोपकाराय सतां हि चेष्टितम् अर्थात् परोपकार के लिए ही सत्पुरुषों की चेष्टा होती है। राग तथा निज के प्रयोजन के बिना आप्त उपदेश कैसे देते हैं ? इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हुए कहते हैं कि शिल्पी के हाथ के स्पर्श से बजाने वाले मनुष्य के हाथ की चोट से शब्द करता हुआ मृदङ्ग क्या कुछ चाहता है ? नहीं चाहता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मृदङ्ग परोपकार के लिए नाना प्रकार के शब्द करता है उसी प्रकार आप्त भगवान् भी परोपकार के लिए ही शास्त्र-रचना करते हैं- दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश देते हैं।

विशेषार्थ-भव्य जीवों के भाग्य तथा अपने वचनयोग के कारण आप्त भगवान् की जो दिव्यध्वनि खिरती है उसी के आधार पर गणधरदेव शास्त्रों की रचना करते हैं इसलिए मूलकर्त्ता के रूप में आगम के रचयिता आप्त भगवान् माने जाते हैं। इस आगम की रचना में आप्त भगवान् के निज का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता और न उन्हें इस प्रकार का राग ही होता है। उनकी यह परिणति स्वयं होती है। इसके लिए समन्तभद्र स्वामी ने मृदङ्ग का दृष्टान्त दिया है अर्थात् जिस प्रकार मृदङ्ग राग तथा निज के प्रयोजन के बिना ही वादक के हाथ के आघात से शब्द करने लगता है उसी प्रकार आप्त भगवान् भी राग तथा निज के प्रयोजन के बिना ही वचन वर्गणा के निमित्त से उपदेश करने लगते हैं।[१] राग तथा निज प्रयोजन की इच्छा मोहकर्म के उदय में होती है। इस मोहकर्म का क्षय दशमगुणस्थान में हो चुकता है और दिव्यध्वनि तेरहवें गुणस्थान में खिरती है इसलिए दिव्यध्वनि में राग तथा निज के प्रयोजन की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती ॥८॥

---

१. ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं। अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं॥ ४४॥
''अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते।''- अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका (प्रवचनसार)

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह–

[१]आप्तोपज्ञ-मनुल्लङ्घ्य,- मदृष्टेष्ट-विरोधकं।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथ-घट्टनं ॥९॥

अन्वयार्थ–(आप्तोपज्ञम्) तीर्थंकर भगवान् के द्वारा कहा गया **(अनुल्लङ्घ्यम्)** उल्लंघन से रहित अर्थात् वादी प्रतिवादी से अजेय **(अदृष्टेष्ट-विरोधकम्)** प्रत्यक्ष और अनुमानादि के विरोध से रहित **(तत्त्वोपदेशकृत्)** तत्त्व का उपदेश करने वाला **(सार्वम्)** सबका हितकारी और **(कापथघट्टनम्)** मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाला **(शास्त्रम्)** शास्त्र कहा है अर्थात् उसे शास्त्र कहते हैं।

प्रत्यक्षादिक अनुमानादिक प्रमाण से अविरोधित हो,
वीतराग सर्वज्ञ कथित हो नहीं किसी से बाधित हो।
एकान्ती मत का निरसक हो सब जग का हितकारक हो,
अनेकान्तमय तत्त्व-प्रदर्शक शास्त्र वही अघहारक हो ॥९॥

टीका–'आप्तोपज्ञं' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः। अनुल्लंघ्यं यस्य तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रा[३]दीनामनुल्लंघ्यमादेयं। कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्यं यतः। 'अदृष्टेष्टविरोधकं' दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य। तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह–'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तत्त्वस्य च सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशकं[४] ततो दृष्टेष्टाविरोधकं। एवं विधमपि कस्मादवगतं ? यतः 'सार्वं' सर्वेभ्यो हितं सार्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्स्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत। एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह–'कापथघट्टनं' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं[५] सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सार्वमिति ॥९॥

अब वह शास्त्र कैसा होता है जिसकी रचना आप्त भगवान् के द्वारा हुई है यह बतलाते हुए शास्त्र का लक्षण लिखते हैं–

टीकार्थ–आप्तेन आदौ उपज्ञातमिति आप्तोपज्ञम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह शास्त्र सर्वप्रथम आप्त के द्वारा जाना गया है तथा आप्त के द्वारा ही कहा गया है इसलिए इन्द्रादिक देव उसका उल्लंघन नहीं करते किन्तु श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण करते हैं। अथवा कुछ प्रतियों में **तस्मादितरवादिना-मनुल्लंघ्यं** ऐसा पाठ भी है उसके अनुसार अन्य वादियों के द्वारा उल्लंघन करने के योग्य नहीं है। इष्ट का अर्थ प्रत्यक्ष है तथा अदृष्ट शब्द से अनुमानादि परोक्ष प्रमाणों का ग्रहण किया जाता है। आप्तप्रणीत शास्त्र, इन प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि परोक्ष प्रमाणों के विरोध से रहित है। जीव, अजीव आदि सात प्रकार के तत्त्वों का उपदेश करने वाला है अथवा अपने-अपने यथार्थ स्वरूप से सहित जीवपुद्गल

१. सिद्धसेनदिवाकरस्य न्यायावतारेऽपि नवम एवायं श्लोकः। ३. तस्मादितरवादिनां ख.। ४. प्रतिपादकं ख.। ५. निराकरणकारणं ख.।

आदि छह द्रव्यों का उपदेश करने वाला है। सर्वेभ्यो हितं सार्वं इस व्युत्पत्ति के अनुसार सब जीवों का हित करने वाला है और कुत्सितः पन्थाः कापथं तस्य घट्टनम् इस विग्रह के अनुसार कुत्सित मार्ग जो मिथ्यादर्शनादिक हैं उनका निराकरण करने वाला है। शास्त्र की यह सब विशेषाताएँ उसके आप्तप्रणीत होने पर ही सिद्ध हो सकती हैं।

विशेषार्थ—शास्त्र की प्रामाणिकता वक्ता की प्रामाणिकता पर निर्भर रहती है इसलिये यहाँ शास्त्र का पहला विशेषण दिया गया है कि वह आप्तोपज्ञ है। वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा सर्वप्रथम उपज्ञात तथा उपदिष्ट है। आप्त के वचन सर्वमान्य होने से अनुल्लंघनीय होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण की बाधा से रहित होते हैं, तत्त्वों का यथार्थ उपदेश करते हैं, प्राणिमात्र का हित करते हैं और संसार में प्रचलित मिथ्यामार्ग का निराकरण करते हैं। जो शास्त्र इन सभी विशेषताओं से सहित होता है वही सच्चा शास्त्र है और उसी के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ॥९॥

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह –

विषयाशा-वशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
[1]ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

अन्वयार्थ—जो **(विषयाशावशातीतः)** विषयों की आशाओं के वश से रहित **(निरारम्भः)** आरम्भों से रहित **(अपरिग्रहः)** परिग्रहों से रहित और **(ज्ञानध्यानतपोरक्तः**(रत्नः)**)** ज्ञान, ध्यान तथा तप में लवलीन हो **(सः)** वह **(तपस्वी)** गुरु **(प्रशस्यते)** प्रशंसनीय है।

विषयों से अति दूर हुए हैं कषायगण को चूर किया,
निरारम्भ हैं पूर्ण रूप से सकल संग को दूर किया।
ज्ञान-ध्यानमय तप में रत हो अपना जीवन बिता रहे,
महा-तपस्वी कहलाते वे हमें मनस्वी बता रहे ॥१०॥

टीका—विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता। तदतीतो विषयाकांक्षारहितः। 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः। 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः। 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यानतपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥१०॥

अब इसके बाद सम्यग्दर्शन के विषयभूत तपोभृत-गुरु का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ— स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयभूत माला तथा स्त्री आदि विषयों की आकांक्षा सम्बन्धी अधीनता जिनकी नष्ट हो गई है अर्थात् जिन्होंने इन्द्रिय विषयों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जो खेती आदि व्यापार का परित्याग कर चुके हैं, जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तप को ही जो रत्नों के समान श्रेष्ठ समझकर उन्हीं की प्राप्ति में लीन रहते हैं वही तपस्वी

१. 'ज्ञानध्यानतपोरक्त इत्यपि' प्रसिद्धः।

अर्थात् गुरु प्रशंसनीय होते हैं।

विशेषार्थ—गुरु का मुख्य कार्य ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण है अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाना; योग और कषाय जनित चंचलता को दूर कर धर्म तथा शुक्लध्यान में लीन होना है और अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश इन छह बाह्य तपों एवं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह अन्तरङ्ग तपों को शक्ति अनुसार धारण करना गुरु का प्रमुख कार्य है। इन कार्यों को रत्नों की तरह श्रेष्ठ समझकर इन्हीं के संचय में वे रातदिन लीन रहते हैं। अथवा 'रत्नः' के स्थान पर रक्तः पाठ भी मिलता है। उस पक्ष में यह अर्थ होता है कि वे ज्ञान, ध्यान और तप में रंगे होते हैं– अपनी पूर्णशक्ति इन्हीं कार्यों में लगाते हैं परन्तु इन तीनों में लीनता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि परिग्रह विद्यमान रहता है। क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य, सम्पदा आदि अचेतन और दासीदास तथा वाहन आदि सचेतन के भेद से बाह्य परिग्रह दो अथवा दस प्रकार का है तथा मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद के भेद से अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है। ज्ञान, ध्यान और तप में लीनता प्राप्त करने के लिए गुरु को इन सभी प्रकार के परिग्रहों का पूर्ण त्याग करना पड़ता है। यह अपरिग्रह दशा तब तक नहीं हो सकती जब तक कि उस परिग्रह को बढ़ाने वाले खेती तथा व्यापार आदि आरम्भों का त्याग नहीं किया जाता, इसलिये अपरिग्रह दशा प्राप्त करने के लिए गुरु को सब प्रकार के आरम्भों का त्याग करना पड़ता है। यह निरारम्भ दशा भी तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयों की अधीनता से मुक्त नहीं हुआ जाता। स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों को मिलाकर सब विषयों की संख्या अट्ठाईस होती है अर्थात् आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार के रस, दो प्रकार के गन्ध, पाँच प्रकार के वर्ण, सात प्रकार के स्वर और मन का विषय एक इस तरह अट्ठाईस प्रकार के विषय हैं– इनके प्राप्त करने की आकांक्षा को विषयाशा कहते हैं। निरारम्भ दशा प्राप्त करने के लिए उस विषयाशा की अधीनता से दूर रहना पड़ता है। अथवा जब तक विषयों की आशा नहीं छूटती तब तक आरम्भ नहीं छूटता, जब तक आरम्भ नहीं छूटता, तब तक परिग्रह नहीं छूटता और जब तक परिग्रह नहीं छूटता तब तक ज्ञान, ध्यान, तप में लीनता नहीं हो सकती। अतएव इनमें लीनता प्राप्त करने के लिए गुरु को सर्वप्रथम विषयों की आकांक्षा का परित्याग करना होता है। जैनागम में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पञ्चेन्द्रिय दमन, छह आवश्यक और भूमिशयन आदि शेष सात गुण इन अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करने वाले गुरु को ही सद्गुरु माना गया है। उसी की श्रद्धा से ही सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह सम्यग्दर्शन में विषयभूत देव, शास्त्र और गुरु का सामान्य स्वरूप कहा है ॥१०॥

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशंकितत्वगुणस्वरूपं प्ररूपयन्नाह–

इदमेवेदृशमेव, तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥

अन्वयार्थ— **(तत्त्वं)** जीवादि सात तत्त्व व देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप **(इदम्)** यह **(एव)** ही है **(ईदृशम्)** ऐसा **(एव)** ही है **(अन्यत्)** अन्य **(न)** नहीं है और **(अन्यथा)** अन्य प्रकार भी **(न)** नहीं है **(इति)** इस तरह **(सन्मार्गे)** देव, शास्त्र, गुरु के प्रवाह रूप समीचीन मोक्षमार्ग के विषय में **(आयसाम्भोवत्)** लोहे की तलवार आदि की धार पर चढ़े हुए लोहे के पानी के समान **(अकम्पा)** अटल **(रुचिः)** श्रद्धा **(असंशया)** संशय रहित/निःशङ्कित अङ्ग है।

तत्त्व रहा जो यही रहा है इसी तरह ही तथा रहा,
नहीं अन्य भी तथा रहा है नहीं अन्यथा यथा रहा।
खड्ग धार पर थित जल-कण सम अचल सुपथ में रुचि करना,
शंका के बिन निःशंक बनकर समदर्शन को शुचि करना ॥११॥

टीका—'रुचिः' सम्यग्दर्शनं। 'असंशया' निःशंकितत्वधर्मोपेता। किंविशिष्टता सती ? 'अकम्पा' निश्चला। किंवत् ? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायसं तच्च तदम्भश्च पानीयं तदिव तद्वत खड्गादिगत-पानीयवदित्यर्थः क्व[1] साकम्पेत्याह-'संमार्गे संसार-समुद्रोत्तरणार्थं सद्भिर्मृग्यते अन्विष्यत इति संमार्ग आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन्-केनोल्लेखेनेत्याह-'इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षणं तत्त्वं। 'ईदृशमेव' उक्तप्रकारेणैव लक्षणेन लक्षितं। 'नान्यत्' एतस्माद्भिन्नं न। 'न चान्यथा' उक्तलक्षणादन्यथा परपरिकल्पित-लक्षणेन लक्षितं, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन ॥११॥

अब सम्यग्दर्शन के निःशंकितत्व नामक गुण का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं।

टीकार्थ— ''सद्भिः मृग्यते अन्विष्यते इति सन्मार्गः आप्तागमगुरुप्रवाहः तस्मिन्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संसार समुद्र से पार होने के लिये सत् पुरुषों के द्वारा जिसकी खोज की जाय वह सन्मार्ग है। इस तरह सन्मार्ग का अर्थ आप्त, आगम और गुरु का प्रवाह है अथवा 'संश्चासौ मार्गः च सन्मार्गः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मोक्ष का समीचीन मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। रुचि का अर्थ सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा है, क्योंकि श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रतीति ये सब सम्यग्दर्शन के नामान्तर कहे जाते हैं। जिस प्रकार तलवार आदि पर चढ़ाया हुआ लोहे का पानी अकम्प-निश्चल होता है उसी तरह सन्मार्ग के विषय में तत्त्व-आप्त, आगम और तपस्वी अथवा जीवाजीवादि का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है और अन्य प्रकार नहीं है ऐसी जो अकम्प-निश्चल श्रद्धा है वही सम्यग्दर्शन का निःशङ्कितत्वगुण अथवा निःशङ्कितत्व अङ्ग कहलाता है।

विशेषार्थ— इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन का विषय आप्त, आगम और गुरु को माना गया है तथा

---

१. क्व सा अकम्पेत् याह घ.।

ग्रन्थान्तरों में जीव, अजीव आदि तत्त्वों को सम्यग्दर्शन का विषय बताया गया है इसलिये 'तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है।' इस प्रकार की जो दृढ़ श्रद्धा है वही सम्यग्दर्शन का निःशङ्कितत्व नाम का गुण है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा साध्य पदार्थों के विषय में तो संशय होता नहीं है किन्तु सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों के विषय में कदाचित् संशय की सम्भावना रहती है। पर सम्यग्दृष्टि मनुष्य ऐसे पदार्थों के विषय में आगम को प्रमाण मानकर संशय को उत्पन्न नहीं होने देता। वह ऐसे पदार्थों को वीतराग-सर्वज्ञ-देव की आज्ञामात्र से स्वीकृत करता है। सम्यग्दृष्टि जीव की यह श्रद्धाविषयक दृढ़ता तलवार आदि पर चढ़ाये हुए लोहे के पानी के समान निश्चल रहती है, वह किसी भी प्रकार के लौकिक और पारलौकिक प्रलोभनों से विचलित नहीं होती। कुछ ग्रन्थकारों ने सात प्रकार के भयों से सन्मार्ग विषयक श्रद्धा में चंचलता नहीं होने को सम्यग्दर्शन का निःशङ्कितत्वगुण माना है[१]॥११॥

इदानीं निष्कांक्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह–

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥१२॥

अन्वयार्थ–(कर्मपरवशे) कर्मों के आधीन **(सान्ते)** अन्तसहित/नश्वर **(दुःखैः)** दुःखों से **(अन्तरितोदये)** अन्तर को प्राप्त उदय वाले/बाधित **(च)** और **(पापबीजे)** पाप के कारणभूत **(सुखे)** इन्द्रियजनित सांसारिक सुख में **(अनास्था)** आस्था नहीं होने रूप **(श्रद्धा)** श्रद्धा **(अनाकाङ्क्षणा)** आकाङ्क्षा रहित/निःकांक्षित अङ्गरूप **(स्मृता)** स्मरण की गई है।

कर्मों पर जो निर्धारित है स्वभाव जिसका सान्त रहा,
सुख-सा दिखता किन्तु दुःख से भरा हुआ निर्भ्रान्त रहा।
पाप बीज है इन्द्रिय-सुख यह इसमें अभिरुचि ना करना,
अनाकांक्षमय अंग रहा है समदर्शन का सुख झरना ॥१२॥

टीका–'अनाकांक्षणा स्मृता' निष्कांक्षितत्त्वं निश्चितं। कासौ ? 'श्रद्धा'। कथंभूता ? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां। अथवा न आस्था अनास्था। तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्था श्रद्धा सा [२]चाप्यनाकांक्षणेति स्मृता। क्व अनास्थाऽरुचिः? 'सुखे' वैषयिके। कथंभूते ? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते। तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने। तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तरित उदयः प्रादुर्भावो, यस्य। तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे ॥१२॥

---

१. सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ॥२३॥ पुरुर्षाथसिद्ध्युपाय

२. सा चानाकाङ्क्षणोति घ.।

अब सम्यग्दर्शन में निःकांक्षितत्व गुण को दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–अनास्था-श्रद्धा का व्याख्यान दो प्रकार का है। ''न विद्यते आस्था शाश्वत-बुद्धिर्यस्यां सा अनास्था'' जिसमें नित्यत्व की बुद्धि नहीं है, ऐसा समासकर अनास्था को श्रद्धा का विशेषण बनाया गया है।

इस पक्ष में अनास्था और श्रद्धा इन दोनों पदों को असमस्त-समास रहित स्वीकृत किया गया है। और दूसरे पक्ष में 'न आस्था अनास्था अरुचिरित्यर्थः', 'तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्था श्रद्धा' – अरुचि में अथवा अरुचि के द्वारा होने वाली श्रद्धा, ऐसा समास कर अनास्था और श्रद्धा इन दोनों पदों को समस्त-समास सहित स्वीकृत किया है। इसका अर्थ होता है–अरुचिपूर्वश्रद्धा। विषयसम्बन्धी सुख कर्मों के अधीन है-कर्मों की उदयादि अवस्था के अनुसार होता है, अन्त से सहित है, इसका उदय मानसिक तथा शारीरिक दुःखों से मिला रहता है अथवा इसका उदय उपर्युक्त दुःखों से बाधित रहता है, तथा पाप का कारण है-अशुभ कर्मों के बन्ध का निमित्त है ऐसे सुख में जो शाश्वत बुद्धि से रहित श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन का निःकांक्षितत्व गुण है अथवा उपर्युक्त विषय सम्बन्धी सुख में जो अरुचि पूर्ण श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन का निःकांक्षितत्व नाम का गुण है।

विशेषार्थ– सम्यग्दर्शन धारण कर उसके फल स्वरूप किसी सांसारिक सुख की आकांक्षा नहीं रखना सम्यग्दर्शन का निःकांक्षितत्वगुण है। इस गुण का धारक जीव विचार करता है कि मैं जिस सांसारिक सुख की आकांक्षा करता हूँ वह मेरे अधीन न होकर कर्मों के अधीन है, कर्मों के तीव्र, मन्द उदय के समय घटता-बढ़ता रहता है। अन्त से सहित है, संसार में इन्द्र और चक्रवर्ती के सुख की प्रधानता है परन्तु वह भी अवधिपूर्ण होने पर नष्ट हो जाता है। इस सांसारिक सुख के बीच में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःख मिश्रित हैं अथवा बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। साथ ही पापबन्ध का कारण है[१] इसलिए उसे अशाश्वत-अनित्य समझकर उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए। अथवा इस अस्वाधीन-विनश्वर सुख की क्या इच्छा करना है। मेरा लक्ष्य तो मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करने का है। इस सांसारिक सुख के प्रलोभन से मुझे दूर रहना चाहिए। ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि जीव अपने निःकांक्षितत्व गुण को सबल बनाता है[२]॥ १२॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुणं सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह–

---

१. सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकरणं विसमं।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ ७६॥ प्रवचनसार

२. इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत्॥२४॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥१३॥

अन्वयार्थ—(स्वभावतः) स्वभाव से **(अशुचौ)** शुचिता रहित अपवित्र किन्तु **(रत्नत्रय-पवित्रिते)** रत्नत्रय से पवित्र **(काये)** शरीर में **(निर्जुगुप्सा)** ग्लानि रहित **(गुणप्रीतिः)** गुणों में प्रेम होना **(निर्विचिकित्सिता)** ग्लानि रहितपना/निर्विचिकित्सा **(मता)** मानी गई है।

स्वभाव से ही अशुचिधाम हो रहा अचेतन यह तन हो,
रतनत्रयी का योग प्राप्त कर पूज्य पूत पुनि पावन हो।
ग्लानि नहीं हो मुनि-मुद्रा से गुण-गण के प्रति प्रीति रहे,
निर्विचिकित्सक अंग यही है समदर्शन की रीति रहे ॥१३॥

टीका—'निर्विचिकित्सता मता' अभ्युपगता। कासौ ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभावः। क्व ? काये। किंविशिष्टे? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते। इत्थंभूतेऽपि काये 'रत्नत्रयपवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यतां नीते। कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह—'गुणप्रीतिः' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्ति-साधकत्वलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यशरीरमेवेदं मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुरागः ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति ॥१३॥

अब सम्यग्दर्शन के निर्विचिकित्सा गुण का निरूपण करते हुए कहते हैं—

टीकार्थ—'निर्गता विचिकित्सा यस्मात् स निर्विचिकित्सः, तस्य भावो।' निर्विचिकित्सता इस विग्रह के अनुसार विचिकित्सता—ग्लानि को कहते हैं, जो ग्लानि से रहित है उसे निर्विचिकित्स कहते हैं और उसका जो भाव है उसे निर्विचिकित्सता कहते हैं। मनुष्य का यह शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है अर्थात् माता-पिता के रज वीर्यरूप अशुद्ध उपादान से निर्मित होने के कारण अपवित्र है। परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के द्वारा पवित्रता को प्राप्त कराया जाता है—पूज्यता को प्राप्त कराया जाता है। ऐसे शरीर में गुण के कारण अर्थात् 'यह मनुष्य का शरीर ही रत्नत्रय के आधारभूत मोक्ष का साधक है, अन्य देवादिक का शरीर मोक्ष का साधक नहीं है। इस विशिष्ट गुण के कारण जो ग्लानि रहित प्रीति होती है वह 'निर्विचिकित्सता' नामक गुण माना गया है।

विशेषार्थ—मनुष्य का अपवित्र शरीर भी रत्नत्रय के द्वारा पूज्यता को प्राप्त हो जाता है। यह विचार कर मुनियों के मलिन शरीर में ग्लानि नहीं करना, किन्तु 'मोक्ष की प्राप्ति इसी शरीर से होती है अन्य देवादिक के शरीर से नहीं, इस गुण के कारण उसमें प्रीति रखना निर्विचिकित्सा' गुण है। 'जुगुप्सा' यह नोकषाय का एक भेद है, इसके उदय से मलिन पदार्थों में ग्लानि होती है। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थ के बाह्य रूप की ओर दृष्टि न देकर उसके अन्तरङ्गरूप की ओर दृष्टि देता है। इस अन्तर्दृष्टि के कारण ही वह शरीर के ग्लानि जनक रूप से विमुख हो उसके गुणों में प्रीति रखता है[१]॥१३॥

---

१. क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु। द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह–

कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्ति-रनुत्कीर्ति-रमूढा दृष्टिरुच्यते ॥१४॥

अन्वयार्थ–(दुःखानां) दुःखों के **(पथि कापथे)** मार्गस्वरूप मिथ्यादर्शनादि-रूप कुमार्ग में और **(कापथस्थे अपि)** कुमार्ग में स्थित जीव में भी **(असम्मतिः)** मानसिक सम्मति से रहित **(अनुत्कीर्तिः)** वाचनिक प्रशंसा से रहित और **(असम्पृक्तिः)** शारीरिक सम्पर्क से रहित है वह **(अमूढा दृष्टिः)** मूढ़ता रहित श्रद्धा/अमूढ़दृष्टि अङ्ग **(उच्यते)** कहा जाता है।

भटकाने वाले कुत्सित पथ दुखदायक जो बने हुए,
विषयों में अति सने हुए हैं पथिक कुपथ के तने हुए।
तन,मन,वच से इनकी सेवा अनुमति थुति भी नहीं करना,
यही दृष्टि है अमूढ़पन की प्राप्त करो शिव-सुख वरना॥१४॥

टीका–अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शनं। का ? 'असम्मतिः' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयःसाधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ। क्व ?'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ। कथंभूते ? 'पथि' मार्गे। केषां ?'दुःखानां'। न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथस्थेऽपि' मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे। तथा 'असंपृक्तिः' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नखच्छोटिकादिना[1] अङ्गुलिचालनेन शिरोधूननेन वा प्रशंसा यत्र। 'अनुत्कीर्तिः' न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा संस्तवनं यत्र। मनोवाक्कायै-र्मिथ्यादर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणममूढं सम्यग्दर्शनमित्यर्थः ॥१४॥

आगे सम्यग्दर्शन के अमूढदृष्टित्वगुण को प्रकट करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–'कुत्सितः पन्थाः कापथम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कापथ का अर्थ कुमार्ग होता है। मिथ्यादर्शनादिक, संसार के मार्ग होने से कुमार्ग कहलाते हैं, ऐसे कुमार्ग में तथा इस कुमार्ग में स्थित मिथ्यादर्शनादि के आधारभूत किसी जीव के विषय में मन से ऐसी सम्मति नहीं करना कि यह कल्याण का मार्ग है, शरीर से-नखों की चुटकी बजाकर, अंगुलियाँ चलाकर अथवा मस्तक हिलाकर उसकी प्रशंसा नहीं करना तथा वचन से उसकी स्तुति नहीं करना अमूढ़दृष्टि गुण कहलाता है।

विशेषार्थ–लौकिक चमत्कारपूर्ण कुमार्ग में और कुमार्ग में स्थित होने पर भी फलते-फूलते हुए किसी कुमार्गस्थ-मिथ्यादृष्टिजीव को देखकर उसके विषय में मन में ऐसा भाव नहीं लाना कि यह मार्ग अच्छा है अथवा इस मार्ग का पालन करने वाला मनुष्य अच्छा है, शरीर से उसकी प्रशंसा नहीं करना और वचन से उसकी स्तुति नहीं करना अमूढ़दृष्टित्व नामक गुण है। सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धालु तो होता है पर अन्धश्रद्धालु नहीं होता। वह प्रत्येक कार्य, विचारपूर्वक ही करता है। किसी मिथ्यामार्गी

१. नखच्छोटिकादिना प्रशंसा घ.।

जीव को फलता-फूलता हुआ देखकर वह ऐसा विचार करता है कि इसका यह वैभव पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म का फल है न कि वर्तमान में सेवित मिथ्यामार्ग का, इस मिथ्यामार्ग की उपासना का फल जब इसे प्राप्त होगा तब इसकी भी संकटापन्न दशा होगी और समीचीन मार्ग का आश्रय करने पर भी अपनी वर्तमान काल की संकटापन्न दशा को देखकर ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि समीचीन मार्ग का आश्रय करना व्यर्थ है। किन्तु ऐसा विचार करना चाहिए कि इस समय मेरे पूर्वोपार्जित पापकर्म का फल चल रहा है, उसी के कारण मेरी संकटापन्न दशा है। समीचीन मार्ग के आश्रय का फल तो सुख रूप ही होता है, दुःख रूप नहीं[१]॥ १४॥

अथोपगूहनगुणं तस्य प्रतिपादयन्नाह–

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनं ॥१५॥

अन्वयार्थ–(स्वयं) स्वभाविकरूप से **(शुद्धस्य मार्गस्य)** शुद्ध/पवित्र रत्नत्रयरूप मार्ग की **(बालाशक्तजनाश्रयां)** अज्ञानी तथा असमर्थ मनुष्यों के आश्रय से होने वाली **(वाच्यतां)** निन्दा को **(यत्)** जो **(प्रमार्जन्ति)** प्रमार्जित करते हैं–दूर करते हैं **(तत्)** उनके उस निन्दा के दूर करने को अर्थात् प्रमार्जन को **(उपगूहनं)** दोष छिपाने रूप/उपगूहन गुण **(वदन्ति)** कहते हैं।

स्वयं रहा शुचितम शिव-पथ जिस पर चलते बिन होश कभी,
अज्ञ तथा निर्बल जन यदि वे करते हैं कुछ दोष कभी।
उनके उन दोषों को ढँकना कभी प्रकाशित नहिं करना,
उपगूहन दृग अंग रहा है अनंग-सुख-प्रद, उर धरना ॥१५॥

टीका–तदुपगूहनं वदन्ति यत्प्रमार्जन्ति निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः। कां ?'वाच्यतां' दोषं। कस्य ?'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य। किंविशिष्टस्य ?'स्वयंशुद्धस्य' स्वभावतो निर्मलस्य। कथंभूतां ?'बालाशक्तजनाश्रयां' बालोऽज्ञः, अशक्तो व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थः स चासौ जनश्च स आश्रयो यस्याः। अयमर्थः–हिताहितविवेकविकलं व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत्प्रच्छादनं तदुपगूहनमिति॥ १५॥

इसके आगे सम्यग्दर्शन के उपगूहनगुण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–रत्नत्रय रूप मोक्ष का मार्ग स्वभाव से निर्मल है परन्तु कदाचित् अज्ञानी अथवा व्रतादिके आचरण करने में असमर्थ मनुष्यों के द्वारा उसमें यदि कोई दोष उत्पन्न होता है-लोकापवाद का अवसर आता है तो सम्यग्दृष्टि जीव उनका निराकरण करते हैं अर्थात् उस दोष को छिपाते हैं, उनकी

१. लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्॥२६॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

इस क्रिया को उपगूहनगुण कहते हैं। जो हित और अहित के विवेक से रहित है, ऐसे अज्ञानी जीव को बाल कहते हैं तथा बाल्यावस्था, वृद्धावस्था या रुग्णावस्था के कारण जो व्रतों का निरतिचार पालन करने में असमर्थ है उसे अशक्त कहते हैं। ऐसे बाल और अशक्त मनुष्यों के आश्रय से रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक पुरुष में आए हुए दोष का प्रच्छादन करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है।

विशेषार्थ—धर्म और धर्म के धारक जीवों की निन्दा से दूर रहना सम्यग्दृष्टि का प्रमुख कर्त्तव्य है। सम्यग्दृष्टि जीव कभी किसी को गिराने का अभिप्राय नहीं रखता। धर्मात्मा जीवों का यदि कोई दोष उसकी दृष्टि में आता है तो उन्हें प्रेमपूर्वक एकान्त में समझाकर उस दोष को दूर करने का प्रयत्न करता है। यदि इस प्रकार का प्रयत्न करने पर भी कोई धृष्टतावश अपना दोष नहीं छोड़ता है तो मार्ग की रक्षा के लिए उसके उस दोष को प्रकट भी करता है। इस अंग का दूसरा नाम उपबृंहण भी है जिसका अर्थ आत्मगुण की वृद्धि करना होता है[१]॥१५॥

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह –

दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः, स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(धर्मवत्सलैः) धर्मस्नेही जनों के द्वारा **(दर्शनात्)** सम्यग्दर्शन से **(वा)** अथवा **(चरणात्)** सम्यक्चारित्र से **(अपि)** भी **(चलताम्)** विचलित होते हुए पुरुषों का **(प्रत्यवस्थापनम्)** फिर से पहले की तरह स्थिर करने को **(प्राज्ञैः)** विद्वानों के द्वारा **(स्थितीकरणम्)** स्व-पर को स्थिर करने रूप/स्थितीकरण अंग **(उच्यते)** कहा जाता है।

समदर्शन या पावन चारित यद्यपि पालन करते हैं,
खेद कभी यदि उनसे गिरते बाधक कारण घिरते हैं।
धर्म-प्रेम से विज्ञ उन्हें बस पूर्व-स्थिती पर फिर लाते,
स्थितीकरण दृग अंग वही है अपनाते निज घर जाते ॥१६॥

टीका—'स्थितीकरणं' अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थितकरणं[२] स्थितीकरणमुच्यते। कैः ? प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः किं तत् ? 'प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं। केषां ? 'चलतां'। कस्मात् ? दर्शनाच्चरणाद्वापि। कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनं ? 'धर्मवत्सलैः' धर्मवात्सल्ययुक्तैः ॥१६॥

अब इसके बाद सम्यग्दर्शन के स्थितीकरण गुण को दिखलाते हुए कहते हैं–

---

१. धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२. स्थितस्य करणं, घ.।

टीकार्थ—स्थितीकरणम् में जो च्वि प्रत्यय हुआ है वह 'अभूत तद्भाव' अर्थ में हुआ है इसलिए अस्थितस्य स्थितिकरणं स्थितीकरणं ऐसा उसका विग्रह होता है। अस्थिति–दर्शन आदि से विचलित होते हुए पुरुष का फिर से स्थित कर देना स्थितीकरण है। कोई जीव बाह्य आचरण का यथायोग्य पालन करता हुआ भी दर्शन–श्रद्धा से भ्रष्ट है, कोई जीव श्रद्धा से दृढ़ होता हुआ भी शारीरिक अशक्ति या प्रमाद के कारण बाह्य आचरण से भ्रष्ट है और कोई जीव कर्मोदय की तीव्रता के कारण श्रद्धा और आचरण दोनों से भ्रष्ट है। इन तीनों प्रकार के जनों का, धर्म से स्नेह रखने वाले पुरुषों के द्वारा फिर से उसी धर्म में स्थित किया जाना स्थितीकरण गुण कहलाता है।

विशेषार्थ—धर्म से स्नेह रखने वाले पुरुष सदा इस बात का ध्यान रखते हैं कि हमारा कोई सहधर्मीबन्धु, धर्म की श्रद्धा और आचरण से विचलित तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसा आभास उन्हें मिलता है तो वे पूर्ण प्रयत्न से अर्थात् उपदेश से, शारीरिक सेवा से और धनादिक की सहायता से उस विचलित होते हुए बन्धु को फिर से धर्म में स्थित करते हैं। उनकी इस क्रिया को स्थितीकरण गुण कहते हैं। इस स्थितीकरण गुण के द्वारा ही सहधर्मी बन्धुओं का संगठन स्थिर रहता है। यह स्थितीकरण गुण दूसरों के लिए ही नहीं है किन्तु अपने लिए भी है। परीषह या उपसर्ग के कारण कदाचित् अपने परिणाम धर्म से विचलित हो रहे हों तो उस समय परीषह और उपसर्ग सहन करने वाले पूर्व पुण्य पुरुषों के चरित्र का स्मरण कर अपने आपका भी स्थितीकरण करना चाहिए[१]॥१६॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्रकटयन्नाह–

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव,-सनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

अन्वयार्थ—(स्वयूथ्यान्प्रति) अपने सहधर्मी बन्धुओं के समूह के प्रति **(सद्भावसनाथा)** सद्भावनाओं से सहित **(अपेतकैतवा)** मायाचार रहित **(यथायोग्यम्)** उनकी योग्यता के अनुसार **(प्रतिपत्तिः)** पूजा आदर–सत्कार **(वात्सल्यम्)** आपसी सौहार्दरूप/वात्सल्य अङ्ग **(अभिलप्यते)** कहा जाता है।

कुटिल भाव बिन जटिल भाव बिन साधर्मी से प्यार करो,
तरल भाव से सरल भाव से नित समुचित व्यवहार करो।
यथायोग्य उनका विनयादिक करना भी कर्त्तव्य रहा,
रहा यही वात्सल्य अंग है उज्ज्वल हो भवितव्य अहा ॥१७॥

---

१. कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

टीका–'वात्सल्यं' सधर्मिणि स्नेहः। 'अभिलप्यते' प्रतिपाद्यते। कासौ ? 'प्रतिपत्तिः' पूजाप्रशंसादिरूपा। कथं ? 'यथायोग्यं' योग्यानतिक्रमेण अञ्जलिकरणाभिमुखगमनप्रशंसावचनोपकरण-सम्प्रदानादिलक्षणा। कान् प्रति ? 'स्वयूथ्यान् जैनान् प्रति। कथंभूता? 'सद्भावसनाथा' सद्भावेनावक्रतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यर्थः। अत एव 'अपेतकैतवा' अपेतं विनष्टं कैतवं माया यस्याः ॥१७॥

आगे सम्यग्दर्शन के वात्सल्यगुण का स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–स्वयूथे भवाः स्वयूथ्यास्तान् इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपने सहधर्मी भाइयों के समूह में जो रहते हैं उन्हें स्वयूथ्य कहते हैं। ऐसे लोगों के प्रति सद्भाव से सहित अर्थात् सरलता से सहित मनोयोग पूर्वक और मायाचार से रहित उनकी योग्यता के अनुसार जो प्रतिपत्ति होती है– हाथ जोड़ना, सम्मुख जाना, प्रशंसा के वचन कहना तथा उपकरण आदि के देने रूप जो प्रवृत्ति होती है वह वात्सल्य गुण कहलाता है। वत्सलस्य भावो वात्सल्यं इस व्युत्पत्ति के अनुसार वात्सल्य का अर्थ सहधर्मी भाइयों के प्रति धार्मिक स्नेह का होना है।

विशेषार्थ–सहधर्मी भाइयों के प्रति कपटरहित आन्तरिक स्नेह होना वात्सल्य गुण है। इस गुण के कारण, जब कोई सहधर्मी बन्धु अपने समीप आता है तब उसे हाथ जोड़ना, सन्मुख जाकर स्वागत करना, प्रशंसा के वचन कहना, पिच्छिका-कमण्डलु, शास्त्ररूप उपकरण देना आदि सम्मान सूचक प्रवृत्ति होती है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि भी अपने सहधर्मी बन्धुओं के सुख-दुःख में सम्मिलित होकर उनके प्रति हार्दिक स्नेह प्रकट करता है। उन पर कदाचित् कोई संकट आता है तो शक्ति भर उस संकट का निवारण करता है। परस्पर के प्रेमभाव से अपने संगठन को सुदृढ़ रखता है[१]॥१७॥

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाह–

अज्ञानतिमिर-व्याप्ति,-मपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासन-माहात्म्य,-प्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

अन्वयार्थ–(अज्ञानतिमिरव्याप्तिम्) अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को **(अपाकृत्य)** दूरकर **(यथायथम्)** जैसे-तैसे अपनी शक्ति के अनुसार **(जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः)** जिनशासन के माहात्म्य को प्रकट करना **(प्रभावना)** प्रभाव दिखाने रूप/प्रभावना अङ्ग **(स्यात्)** है।

अन्धकार अज्ञानमयी जब फैल रहा हो कभी कहीं,
उसे मिटाना यथायोग्य निज-शक्ति छुपाना कभी नहीं।
जिन-शासन की महिमा की हो और प्रसारण सुखद कहाँ?
प्रभावना दृग अंग यही है पाप रहे फिर दुखद कहाँ ? ॥१८॥

---

१. अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥२९॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

टीका—'प्रभावना' स्यात्। कासौ ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः' 'जिनशासनस्य माहात्म्य-प्रकाशस्तु[१] [२]तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरणं। कथं ? 'यथायथं स्नपनदानपूजा-विधानतपोमन्त्रतन्त्रादिविषये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण। किंकृत्वा ? 'अपाकृत्य' निराकृत्य। कां ? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिं' जिनमतात्परेषां यत्स्नपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं [३]प्रसरम् ॥१८॥

अब सम्यग्दर्शन के प्रभावना गुण का निरूपण करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ—जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों में, अभिषेक, दान, पूजाविधान, तप, मन्त्र तथा तन्त्र आदि के विषय में जो अज्ञान रूप अन्धकार फैल रहा है उसे अपनी शक्ति का उल्लंघन न कर दूर करते हुए जिनशासन की महिमा प्रकट करना–उसके तप तथा ज्ञान आदि का अतिशय बतलाना प्रभावना अंग है।

विशेषार्थ—अन्य लोगों के, जिनधर्म विषयक अज्ञान को दूर कर उन्हें धर्म का वास्तविक ज्ञान कराना प्रभावना है। आज देव, शास्त्र और गुरु के स्वरूप को लेकर जनसाधारण में अज्ञान छाया हुआ है। रागी, द्वेषी देवों की आराधना की जाती है, वीतराग जिनेन्द्र देव की नग्न मूर्ति का विरोध किया जाता है, जिन शास्त्रों में वर्णित अहिंसा धर्म का उपहास किया जाता है और नग्नमुद्रा के धारक निर्ग्रन्थ गुरुओं के नगरप्रवेश आदि पर आपत्ति की जाती है। इन सबका मूल कारण अज्ञानभाव है। सम्यग्दृष्टि जीव लोगों के इस अज्ञानभाव को दूरकर जिनशासन की महिमा को प्रकट करता है। साथ ही इस बात का ध्यान रखता है कि हमारा कोई आचरण ऐसा न हो कि उसके कारण जैनधर्म का अपवाद होने का प्रसंग आ जावे। वह सदा ऐसा आचरण करता है कि उसे देखकर लोग जैनधर्म के प्रति आस्थावान् होते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष रत्नत्रय के तेज से आत्मा को प्रभावित करता है और दान, तप, जिनपूजा और विद्या के अतिशय से जिनधर्म की प्रभावना बढ़ाता है[४]॥१८॥

इदानीमुक्तानिःशंकितत्वाद्यष्टगुणानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह–

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे, ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवती मता ॥१९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो, वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥२०॥

अन्वयार्थ–(तावत्) क्र म से **[प्रथमे]** पहले अङ्ग में **(अञ्जनचौरः)** अञ्जन चोर **(ततः)**

---

१. घ पुस्तके तु' नास्ति। २. सम्पादनादिलक्षणा ख.। ३. पुष्पमध्यगतः पाठः क -पुस्तके नास्ति।
४. आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥ ३०॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

तदनन्तर/दूसरे अंग में **(अनन्तमतिः)** अनन्तमति **(स्मृता)** स्मरण की गई है **(तृतीये)** तीसरे अंग में **(उद्वायनः)** उद्वायन नाम का राजा **(अपि)** और **(तुरीये)** चौथे अंग में **(रेवती)** रेवती रानी **(मता)** मानी गयी है। **(ततः अन्यः)** उससे भिन्न/पाँचवें अंग में **(जिनेन्द्रभक्तः)** जिनेन्द्रभक्त सेठ **(ततः परः)** उससे आगे/छठवें अंग में **(वारिषेणः)** वारिषेण राजकुमार **(शेषयोः)** शेष दो/सातवें और आठवें अंग में **(विष्णुः)** विष्णुकुमारमुनि **(च)** और **(वज्रनामा)** वज्रकुमार नामक मुनि **(लक्ष्यताम्)** प्रसिद्धि को **(गतौ)** प्राप्त हुए।

प्रथम अंग निःशंकित में वह प्रसिद्ध अंजन चोर महा,
निःकांक्षित में अनन्तमति यश फैल रहा चहुँ ओर यहाँ।
निर्विचिकित्सित में उद्वायन ख्यात हुआ कृतकाम हुआ,
अडिग रेवती अमूढ़पन में ख्यात उसी का नाम हुआ ॥१९॥

अंग पाँचवें उपगूहन में नामी जिनेन्द्र-भक्त रहे,
स्थितीकरण के पालन में वर वारिषेण अनुरक्त रहे।
इसी भाँति वात्सल्य अंग में विष्णु-मुनि विख्यात रहे,
ख्यात हुए हैं प्रभावना में वज्र मुनीश्वर ज्ञात रहे ॥२०॥

टीका—तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशंकितत्वादीन्यष्टाङ्गान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशंकितत्वेऽङ्गस्वरूपे तावल्लक्ष्यतां दृष्टान्ततां गतोऽञ्जनचोरः स्मृतो निश्चितः। द्वितीयेऽङ्गे-निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यतां गता मता। तृतीयेऽङ्गे निर्विचिकित्सत्वे उद्वायनो लक्ष्यतां गतो मतः। तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यतां गता मता। ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यतां गतो मतः। ततो जिनेन्द्रभक्तात्परो वारिषेणः स्थितीकरणे लक्ष्यतां गतो मतः। विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमारः शेषयोर्वात्सल्यप्रभावनयोर्लक्ष्यतां गतौ मतौ। गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्ता[१]त्मव्यक्तिबहुत्वापेक्षया ॥१९-२०॥

अब ऊपर कहे हुए निःशंकितत्वादि आठ गुणों के मध्य में कौन पुरुष किस गुण के द्वारा प्रसिद्ध हुआ है। यह दिखलाते हुए दो श्लोक कहते हैं—

टीकार्थ— सम्यग्दर्शन के जो निःशंकितत्व आदि आठ अंग कहे गये हैं उनमें से पहले निःशंकित अंग में अंजनचोर, दूसरे निःकांक्षित अंग में अनन्तमती रानी, तीसरे निर्विचिकित्सा अंग में उद्वायन राजा, चौथे अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती रानी, पाँचवें उपगूहन अंग में जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठवें स्थितीकरण अंग में वारिषेण, सातवें वात्सल्य अंग में विष्णुकुमार मुनि और आठवें प्रभावना अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

---

२. दृष्टान्तमतोक्तत्वाद व्यक्ति घ.।

तत्र निःशंकितत्वेऽञ्जनचोरो दृष्टान्ततां गतोऽस्य कथा

यथा–धन्वन्तरिविश्वलोमौ सुकृत[१]कर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ संजातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो [२]यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवासः कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततोऽमितप्रभवदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठन्तु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोऽपि न चलितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनी विद्या दत्ता, तस्मै, [३]कथितं च तवेयं सिद्धाऽन्यस्य च पञ्चनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति। सोमदत्त–वटुकेन चैकदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्टः–क्व भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति। तेनोक्तमकृत्रिमचैत्यालयवन्दनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि। ममेत्थं विद्यालाभः संजात इति कथिते तेनोक्तं मम विद्यां देहि येन त्वया सह पुष्पादिकं गृहीत्वा वन्दनाभक्तिं करोमीति। ततः श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्तः। तेन च कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपादं दर्भशिक्यं बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गन्धपुष्पादिकं दत्त्वा शिक्यमध्ये प्रविश्य षष्ठोपवासेन पञ्चनमस्कारानुच्चार्य छुरिकयैकैकं पादंछिंदताऽधो जाज्वल्यमानप्रहरणसमूहमालोक्य भीतेन तेन संचिन्तितं–यदिश्रेष्ठिनो वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शंकितमना बारंबारं चटनोत्तरणं करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालस्य राज्ञः कनकाराज्ञीहारं दृष्ट्वाञ्जनसुन्दर्या विलासिन्या रात्रावागतोऽञ्जनचोरो भणितः। यदि मे कनकाराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्त्ता त्वं नान्यथेति। ततो गत्वा रात्रौ हारं चोरयित्वाञ्जनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोऽङ्गरक्षैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो[४] हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः वटतले वटुकं दृष्ट्वा तस्मान्मन्त्रं गृहीत्वा निःशंकितेन तेन विधिनैकवारेण सर्वशिक्यं छिन्नं शास्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणितं–ममादेशं देहीति। तेनोक्तं–जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मां नयेति। ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः[५]। पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा तेन भणितं–यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेहीति। ततश्चारण–मुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलासे केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः।

निःशंकित अंग में प्रसिद्ध अञ्जन चोर की कथा

धन्वन्तरि और विश्वलोमा पुण्यकर्म के प्रभाव से अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नाम के देव हुए। अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ ने एक दूसरे की धर्मपरीक्षा करने के लिए पृथ्वी लोक पर आये। तदनन्तर उन्होंने यमदग्नि ऋषि को तप से विचलित किया। मगध देश के राजगृह नगर में जिनदत्त सेठ उपवास का नियम लेकर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में कायोत्सर्ग से स्थित था। उसे देखकर अमितप्रभ देव ने विद्युत्प्रभ से कहा कि हमारे मुनि की बात तो दूर रही, इस गृहस्थ को ही तुम ध्यान से विचलित करो। तदनन्तर विद्युत्प्रभ देव ने उस पर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये, फिर भी वह ध्यान

---

१. स्वकृत घ.। २. जमदग्नि घ.। ३. तस्मै नास्ति घ पुस्तके। ४. गृहीस्थमाणः इति पाठान्तरम्। ५. धृत इत्यन्यत्र।

से विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर प्रातःकाल अपनी माया को समेटकर विद्युत्प्रभ ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे आकाशगामिनी विद्या दी। विद्या प्रदान करते समय उससे कहा कि तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो चुकी है, यह विद्या दूसरों के लिए पञ्चनमस्कार मन्त्र की अर्चना और आराधना की विधि से सिद्ध होगी। जिनदत्त के यहाँ सोमदत्त नाम का एक ब्रह्मचारी वटु रहता था, जो जिनदत्त के लिए फूल लाकर देता था। एक दिन उसने जिनदत्त सेठ से पूछा कि आप प्रातःकाल ही उठकर कहाँ जाते हैं? सेठ ने कहा कि मैं अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना भक्ति करने के लिये जाता हूँ। ''मुझे इस प्रकार से आकाशगामिनी विद्या का लाभ हुआ है'' सेठ के ऐसा कहने पर सोमदत्त वटु ने कहा कि मुझे भी यह विद्या देओ, जिससे मैं भी तुम्हारे साथ पुष्पादिक लेकर वन्दना भक्ति करूँगा। तदनन्तर सेठ ने उसके लिए विद्या सिद्ध करने की विधि बतलाई।

सोमदत्त वटु ने कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में वटवृक्ष की पूर्व-दिशा वाली शाखा पर एक सौ आठ रस्सियों का एक मूँज का सींका बाँधा। उसके नीचे सब प्रकार के पैने शस्त्र ऊपर की ओर मुखकर रक्खे। पश्चात् गन्ध, पुष्प आदि लेकर सींके के बीच प्रविष्ट हो उसने वेला-दो दिन के उपवास का नियम लिया। फिर पञ्चनमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर छुरी से सींके की एक-एक रस्सी को काटने के लिये तैयार हुआ। परन्तु नीचे चमकते हुए शस्त्रों के समूह को देखकर वह डर गया तथा विचार करने लगा कि यदि सेठ के वचन असत्य हुए तो मरण हो जावेगा। इस प्रकार शंकित चित्त होकर वह सींके पर बार-बार चढ़ने और उतरने लगा।

उसी समय राजगृही नगरी में एक अञ्जन चोर और सुन्दरी नाम की वेश्या रहती थी। एक दिन उसने कनक प्रभ राजा की कनका रानी का हार देखा। रात्रि को जब अञ्जन चोर उस वेश्या के यहाँ गया तब उसने कहा कि यदि तुम मुझे कनकारानी का हार दे सकते हो तो मेरे भर्ता बन सकते हो अन्यथा नहीं। तदनन्तर अञ्जन चोर रात्रि में हार चुराकर भाग रहा था कि हार के प्रकाश से वह पहचान लिया गया। अंगरक्षकों और कोटपाल ने उसे पकड़ना चाहा परन्तु वह हार छोड़कर भाग गया। वटवृक्ष के नीचे सोमदत्त वटुक को देखकर उसने उससे सब समाचार पूछा तथा उससे मन्त्र लेकर वह सींके पर चढ़ गया। उसने निःशंकित होकर उस विधि से एक ही बार में सींके की सब रस्सियाँ काट दीं। ज्यों ही वह शस्त्रों के ऊपर गिरने लगा त्यों ही विद्या सिद्ध हो गई। सिद्ध हुई विद्या ने उससे कहा कि मुझे आज्ञा दो। अञ्जन चोर ने कहा कि मुझे जिनदत्त सेठ के पास ले चलो। उस समय जिनदत्त सेठ सुदर्शन मेरु के चैत्यालय में स्थित था। विद्या ने अञ्जन चोर को ले जाकर सेठ के सामने खड़ा कर दिया। अपना पिछला वृत्तान्त कह कर अञ्जन चोर ने सेठ से कहा कि आपके उपदेश से मुझे जिस प्रकार यह विद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार परलोक की सिद्धि के लिये भी आप मुझे उपदेश दीजिये। तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराज से दीक्षा लेकर उसने कैलाश पर्वत पर तप किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वहीं से मोक्ष प्राप्त किया।

निःकाङ्क्षितत्वेऽनन्तमतीदृष्टान्तोऽस्याः कथा

अङ्गदेशे चम्पानगर्य्यां राजा वसुवर्द्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती। श्रेष्ठी प्रियदत्तस्तद्भार्या अङ्गवती-पुत्र्यनन्तमती। नन्दीश्वराष्टम्यां श्रेष्ठिना धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतं। क्रीडयाऽनन्त-मती च ग्राहिता। अन्यदा सम्प्रदानकालेऽनन्तमत्योक्तं-तात! मम त्वया ब्रह्मचर्यं दापितमतः किं विवाहेन? श्रेष्ठिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्मचर्यं दापितं। ननु तात! धर्मे व्रते का क्रीड़ा। ननु पुत्रि! नन्दीश्वराष्टदिनान्येव व्रतं तव न सर्वदा दत्तं। सोवाच ननु तात! तथा भट्टारकैरविवक्षितत्वादिति। इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षां कुर्वन्ती स्थिता यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आन्दोलयन्ती विजयार्द्ध-दक्षिणश्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुण्डल-मण्डितनाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सहगगनतले गच्छता दृष्टा। किमनया विना जीवितेनेति संचित्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपन्ती तेन सा नीता। आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्याः[1] समर्प्य महाटव्यां मुक्ता। तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामि मामिच्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छतीं भोक्तुमारब्धा। व्रतमाहात्म्येन वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गः कृतः। देवता काचिदियमिति भीतेन तेनावासितसार्थपुष्पकनाम्नः सार्थवाहस्य समर्पिता। सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तया वांछितः। तेन चानीयायोध्याया कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता। ततस्तया सिंहराजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्धा। नगरदेवतया तद्व्रत-माहात्म्येन तस्योपसर्गः कृतः। तेन च भीतेन गृहान्निःसारिता। रुदती सखेदं सा कमलश्रीक्षांतिकया[2] श्राविकेति मत्वाऽतिगौरवेण धृता। अथानन्तमतीशोकविस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहुसहायो वन्दना-भक्तिं कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजश्यालकजिनदत्तश्रेष्ठिनो गृहे संध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीहरणवार्तां कथितवान्। प्रभाते तस्मिन् वन्दनाभक्तिं कर्तुं गते अतिगौरवितप्राघूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं ग्रहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षांतिका[3]श्राविका जिनदत्तभार्यया आकारिता। सा च सर्वं कृत्वा वसतिकां गता। वन्दनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्यानन्तमती स्मृत्वा गह्वरित-हृदयेन। गद्गदितवचनेनाश्रुपातं-कुर्वता भणितं-यथा गृहमण्डनं कृतं तां मे दर्शयेति। ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सवः कृतः। अनन्तमत्या चोक्तं तात! इदानीं मे तपो दापय, दृष्टमेकस्मिन्नेव भवे संसारवैचित्र्यमिति। ततः कमलश्रीक्षांतिकापार्श्वे[4] तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे देवो जातः॥२॥

निकांक्षित अंग में प्रसिद्ध अनन्तमती की कथा

अंगदेश की चम्पानगरी में राजा वसुवर्धन रहते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उसी नगर में प्रियदत्त नाम का सेठ था, उसकी स्त्री का नाम अंगवती था और दोनों के अनन्तमती नाम की

---

१. विद्यायाः घ.। २. कंतिका घ.। ३. कंतिका घ.। ४. कंतिका घ.।

पुत्री थी। एक बार नन्दीश्वर-अष्टाह्निक पर्व की अष्टमी के दिन सेठ ने धर्मकीर्ति आचार्य के पादमूल में आठ दिन तक का ब्रह्मचर्य व्रत लिया। सेठ ने क्रीड़ावश अनन्तमती को भी ब्रह्मचर्य व्रत दिलवा दिया।

अन्य समय जब अनन्तमती के विवाह का अवसर आया तब उसने कहा कि पिताजी! आपने तो मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, इसलिये विवाह से क्या प्रयोजन है ? सेठ ने कहा-मैंने तो तुझे क्रीड़ावश ब्रह्मचर्य दिलाया था। अनन्तमती ने कहा कि व्रतरूप धर्म के विषय में क्रीड़ा क्या वस्तु है ? सेठ ने कहा-पुत्री! नन्दीश्वर पर्व के आठ दिन के लिये ही तुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, न कि सदा के लिये। अनन्तमती ने कहा कि पिताजी भट्टारक महाराज ने तो वैसा नहीं कहा था। इस जन्म में मेरा विवाह त्याग है। ऐसा कहकर वह समस्त कलाओं के विज्ञान की शिक्षा लेती हुई रहने लगी।

एक बार जब वह पूर्ण यौवनवती हो गई तब चैत्र मास में अपने घर के उद्यान में झूला झूल रही थी। उसी समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित किन्नरपुर नगर में रहने वाला कुण्डलमण्डित नामक विद्याधरों का राजा अपनी सुकेशी नामक स्त्री के साथ आकाश में जा रहा था। उसने उस अनन्तमती को देखा। देखते ही वह विचार करने लगा कि इसके बिना जीवित रहने से क्या प्रयोजन है ? ऐसा विचार कर वह अपनी स्त्री को तो घर छोड़ आया और शीघ्र ही आकर विलाप करती हुई अनन्तमती को हर ले गया। जब वह आकाश में जा रहा था तब उसने अपनी स्त्री सुकेशी को वापस आते देखा। देखते ही वह भयभीत हो गया और उसने पर्णलघु विद्या देकर अनन्तमती को महाअटवी में छोड़ दिया। वहाँ उसे रोती देख भीम नामक भीलों का राजा अपनी वसति में ले गया और कहा कि ''मैं तुम्हें प्रधान रानी का पद देता हूँ तुम मुझे चाहो'' ऐसा कहकर रात्रि के समय उसके न चाहने पर भी उपभोग करने के लिए उद्यत हुआ। व्रत के माहात्म्य से वन देवता ने उस भीलों के राजा की अच्छी पिटाई की। ''यह कोई देवी है'' ऐसा समझकर भीलों का राजा डर गया और उसने वह अनन्तमती बहुत से बनिजारों के साथ ठहरे हुए पुष्पक नामक प्रमुख बनिजारे के लिये दे दी। प्रमुख बनिजारे ने लोभ दिखाकर विवाह करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु अनन्तमती ने उसे स्वीकृत नहीं किया। तदनन्तर वह बनिजारा उसे लाकर अयोध्या की कामसेना नाम की वेश्या को सौंप गया। कामसेना ने उसे वेश्या बनाना चाहा, पर वह किसी भी तरह वेश्या नहीं हुई। तदनन्तर उस वेश्या ने सिंहराज नामक राजा के लिये वह अनन्तमती दिखलाई और वह राजा रात्रि में उसे बलपूर्वक सेवन करने के लिये उद्यत हुआ, परन्तु उसके व्रत के माहात्म्य से नगर देवता ने राजा के ऊपर उपसर्ग किया, जिससे डरकर उसने उसे घर से निकाल दिया।

खेद के कारण अनन्तमती रोती हुई बैठी थी कि कमलश्री नाम की आर्यिका ने ''यह श्राविका है'' ऐसा मानकर बड़े सम्मान के साथ उसे अपने पास रख लिया। तदनन्तर अनन्तमती का शोक भुलाने के लिये प्रियदत्त सेठ बहुत से लोगों के साथ वन्दना भक्ति करता हुआ अयोध्या गया और

अपने साले जिनदत्त सेठ के घर संध्या के समय पहुँचा। वहाँ उसने रात्रि के समय पुत्री के हरण का समाचार कहा। प्रातःकाल होने पर सेठ प्रियदत्त तो वन्दना भक्ति करने के लिये गये। इधर जिनदत्त सेठ की स्त्री ने अत्यन्त गौरवशाली पाहुने के निमित्त उत्तम भोजन बनाने और घर में चौक पूरने के लिये कमलश्री आर्यिका की श्राविका को बुलवा लिया। वह श्राविका सब काम करके अपनी वसतिका में चली गई। वन्दना भक्ति करके जब प्रियदत्त सेठ वापस आये तब चौक देखकर उन्हें अनन्तमती का स्मरण हो आया, उनके हृदय पर गहरी चोट लगी। गद्गद् वचनों से अश्रुपात करते हुए उन्होंने कहा कि जिसने यह चौक पूरा है उसे मुझे दिखलाओ। तदनन्तर वह श्राविका बुलाई गई। पिता और पुत्री का मेल होने पर जिनदत्त सेठ ने बहुत भारी उत्सव किया। अनन्तमती ने कहा कि पिताजी! अब मुझे तप दिला दो, मैंने एक ही भव में संसार की विचित्रता देख ली है। तदनंतर कमलश्री आर्यिका के पास दीक्षा लेकर उसने बहुत काल तप किया। अन्त में संन्यासपूर्वक मरणकर उसकी आत्मा सहस्रार स्वर्ग में देव हुई।

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टान्तोऽस्य कथा

एकदा सौधर्मेन्द्रेण निजसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भरते [१]वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायन-महाराजस्य निर्विचिकित्सितगुणः प्रशंसितस्तं परीक्षितुंवासवदेव उदुम्बरकुष्ठकुथितं मुनिरूपं विकृत्य तस्यैव हस्तेन विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वातिदुर्गन्धं बहुवमनं कृतवान्। दुर्गन्धभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्देव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितं, हाहा! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निन्दयतस्तं च प्रक्षालयतो मायां परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्गं गतः। उद्दायनमहाराजो वर्द्धमानस्वामिपादमूले तपोगृहीत्वा मुक्तिं गतः। प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव ॥३॥

निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कथा

एक बार अपनी सभा में सम्यग्दर्शन के गुणों का वर्णन करते हुए सौधर्मेन्द्र ने वत्स देश के रौरकपुर नगर के राजा उद्दायन के निर्विचिकित्सक गुण की बहुत प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करने के लिये एक वासव नाम का देव आया। उसने विक्रिया से एक ऐसे मुनि का रूप बनाया जिसका शरीर उदुम्बर कुष्ठ से गलित हो रहा था। उस मुनि ने विधिपूर्वक खड़े होकर उसी राजा उद्दायन के हाथ से दिया हुआ समस्त आहार और जल माया से ग्रहण किया। पश्चात् अत्यन्त दुर्गन्धित वमन कर दिया। दुर्गन्ध के भय से परिवार के सब लोग भाग गये, परन्तु राजा उद्दायन अपनी रानी प्रभावती के साथ मुनि की परिचर्या करता रहा। मुनि ने उन दोनों के ऊपर वमन कर दिया। ''हाय-हाय मेरे द्वारा विरुद्ध आहार दिया गया है'' इस प्रकार अपनी निन्दा करते हुए राजा ने मुनि का प्रक्षालन किया। अन्त में देव अपनी माया को समेटकर असली रूप में प्रकट हुआ और पहले का सब समाचार कहकर तथा

१. कच्छदेशे क. ग. घ.।

राजा की प्रशंसा कर स्वर्ग चला गया। उद्दायन महाराज वर्धमान स्वामी के पादमूल में तप ग्रहण कर मोक्ष गये और रानी प्रभावती तप के प्रभाव से ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई।

अमूढदृष्टित्वे रेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा

विजयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः। चन्द्रशेखरपुत्राय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियती विद्या दधानो दक्षिणमथुरायां गत्वा गुप्त्याचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरायां चलितेन गुप्त्याचार्यः पृष्टः किं कस्य कथ्यते[१]? भगवतोक्तं सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या आशीर्वादश्च कथनीयः। त्रिपृष्टेनापि[२] तेन एतावदेवोक्तं। ततः क्षुल्लकेनोक्तं। भव्यसेनाचार्यस्यैकादशाङ्गधारिणोऽन्येषां च नामापि भगवान् न गृह्णाति तत्र किञ्चित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेभट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिकां गतः। तत्र गतस्य च[३] भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतां कुण्डिकां गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणाङ्कुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शितः। तं दृष्ट्वा ''आगमे किलैते जीवाः कथ्यन्ते'' इति भणित्वा तत्रारुचिं[४] कृत्वा तृणोपरि गतः शौचसमये कुण्डिकायां जलं नास्ति तथा विकृतिश्च क्वापि न दृश्यतेऽतोऽत्र स्वच्छसरोवरे प्रशस्तमृत्तिकया शौचं कृतवान्। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतं। ततोऽन्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्मुखं यज्ञोपवीताद्युपेतं देवासुरवन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शितं। तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च जना गताः। रेवती तु कोऽयं ब्रह्मनाम देवः इति भणित्वा लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। एवं दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च गदाशंखादिधारकं वासुदेवरूपं। पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूट-गौरीगणोपेतं शंकररूपं। उत्तरस्यां दिशि समवशरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थितं तीर्थंकरदेवरूपं दर्शितं। तत्र च सर्वलोका गताः। रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थङ्करा जिनागमे कथिताः। ते चातीताः कोऽप्ययं मायावीत्युक्त्वा स्थिता। अन्यदिने चर्यावेलायां व्याधिक्षीण-शरीरक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीपमार्गे मायामूर्च्छया पतितः। रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमारब्धः। तेन च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं कृतं। तदपनीय हा! विरूपकं मयोऽपथ्यं दत्तमिति रेवत्या वचनमाकर्ण्य तोषान्मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दयित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा लोकमध्ये तु अमूढदृष्टित्वं तस्या उच्चैः प्रशस्य स्वस्थाने गतः। वरुणो राजा शिवकीर्तिपुत्राय राज्यं दत्वा तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः। रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे देवी बभूव ॥४॥

अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी सम्बन्धी मेघकूट नगर का राजा चन्द्रप्रभ, अपने चन्द्रशेखर पुत्र

१. कथते ख.। २. त्रिःपृष्टेनाप्येतावदेनोक्तं घ.। ३. 'च' नास्ति घ पुस्तके। ४. आगमे।

के लिये राज्य देकर, परोपकार तथा वन्दना-भक्ति के लिये कुछ विद्याओं को धारण करता हुआ दक्षिण मथुरा गया और वहाँ गुप्ताचार्य के समीप क्षुल्लक हो गया। एक समय वह क्षुल्लक, वन्दना-भक्ति के लिये उत्तर मथुरा की ओर जाने लगा। जाते समय उसने गुप्ताचार्य से पूछा कि क्या किसी से कुछ कहना है। भगवान् गुप्ताचार्य ने कहा कि सुव्रत मुनि को वन्दना और वरुण-राजा की महारानी रेवती के लिये आशीर्वाद कहने के योग्य है। क्षुल्लक ने तीन बार पूछा फिर भी उन्होंने इतना ही कहा। तदनन्तर क्षुल्लक ने कहा कि वहाँ ग्यारह अंग के धारक भव्यसेनाचार्य तथा अन्य धर्मात्मा लोग भी रहते हैं उनका आप नाम भी नहीं लेते हैं। उसमें कुछ कारण अवश्य होगा ऐसा विचार कर क्षुल्लक उत्तर मथुरा गया। वहाँ जाकर उसने सुव्रत मुनि के लिए गुप्ताचार्य की वन्दना कही। सुव्रत मुनि ने परम वात्सल्य भाव दिखलाया। उसे देखकर वह भव्यसेन की वसतिका में गया। क्षुल्लक के वहाँ पहुँचने पर भव्यसेन ने उससे संभाषण भी नहीं किया। भव्यसेन, शौच के लिये बाहर जा रहे थे सो क्षुल्लक उनका कमण्डलु लेकर उनके साथ बाह्य भूमि में गया और विक्रिया से उसने आगे ऐसा मार्ग दिखाया जो कि हरे-हरे कोमल तृणों के अंकुरों से आच्छादित था। उस मार्ग को देखकर क्षुल्लक ने कहा भी कि आगम में ये सब जीव कहे गये हैं। भव्यसेन आगम पर अरुचि-अश्रद्धा दिखाते हुए तृणों पर चले गये। क्षुल्लक ने विक्रिया से कमण्डलु का पानी सुखा दिया। जब शुद्धि का समय आया तब कमण्डलु में पानी नहीं है तथा कहीं कोई विक्रिया भी नहीं दिखाई देती है यह देख वे आश्चर्य में पड़ गये। तदनन्तर उन्होंने स्वच्छ सरोवर में उत्तम मिट्टी से शुद्धि की। इन सब क्रियाओं से उन्हें मिथ्यादृष्टि जानकर क्षुल्लक ने भव्यसेन का अभव्यसेन नाम रख दिया।

तदनन्तर दूसरे दिन पूर्व दिशा में पद्मासन पर स्थित, चारमुखों से सहित, यज्ञोपवीत आदि से युक्त तथा देव और दानवों से वन्दित ब्रह्मा का रूप दिखाया। राजा तथा भव्यसेन आदि लोग वहाँ गये परन्तु रेवती रानी लोगों से प्रेरित होने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि यह ब्रह्म नाम का देव कौन है ? इसी प्रकार दक्षिण दिशा में गरुड़ के ऊपर आरूढ़, चार भुजाओं से सहित तथा गदा, शंख आदि के धारक नारायण का रूप दिखाया। पश्चिम दिशा में बैल पर आरूढ़ तथा अर्ध चन्द्र, जटाजूट, पार्वती और गणों से सहित शंकर का रूप दिखाया। उत्तर दिशा में समवसरण के मध्य में आठ प्रातिहार्यों से सहित, सुर, नर, विद्याधर और मुनियों के समूह से वन्द्यमान, पर्यंकासन से स्थित तीर्थंकर देवता का रूप दिखाया। वहाँ सब लोग गये, परन्तु रेवती रानी लोगों के द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि नारायण नौ ही होते हैं, रुद्र ग्यारह ही होते हैं और तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं ऐसा जिनागम में कहा गया है। और वे सब हो चुके हैं यह तो कोई मायावी है।

दूसरे दिन चर्या के समय उसने एक ऐसे क्षुल्लक का रूप बनाया, जिसका शरीर बीमारी से क्षीण हो गया था। वह रेवती रानी के घर के समीपवर्ती मार्ग में मायामयी मूर्च्छा से पड़ रहा। रेवती रानी ने जब यह समाचार सुना तब वह भक्तिपूर्वक उठाकर ले गई, उसका उपचार किया और पथ्य कराने

के लिए उद्यत हुई। उस क्षुल्लक ने सब आहार कर दुर्गन्ध से युक्त वमन कर दिया। रानी ने वमन को दूर कर कहा कि हाय मैंने प्रकृति के विरुद्ध अपथ्य आहार दिया। रेवती रानी के उक्त वचन सुनकर क्षुल्लक ने संतोष से सब माया को संकोच कर उसे गुप्ताचार्य को परोक्ष वन्दना कराकर उनका आशीर्वाद कहा और लोगों के बीच उसकी अमूढ़दृष्टिता की खूब प्रशंसा की। यह सब कर क्षुल्लक अपने स्थान पर चला गया। राजा वरुण शिवकीर्ति पुत्र के लिये राज्य देकर तथा तप ग्रहण कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ तथा रेवती रानी भी तप कर ब्रह्म स्वर्ग में देव हुई।

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो[१] राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्त-व्यसनाभिभूतस्तथाभूत-तस्करपुरुषसेवितः। पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोयुक्तपार्श्वनाथप्रतिमाछत्रत्रयोपरि विशिष्टतरानर्घ्यवैडूर्यमणिं पारम्पर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाः तं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति। इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणः क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गतः। तमाकर्ण्य गत्वाऽलोक्य वन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य च क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेवं दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः। एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थितः। स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरणनयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्द्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः। मणितेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्धः। तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान्। कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता। ततस्तेयस्य वचनं[२] प्रमाणं कृत्वा गताः। स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्घाटितः। एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञान-पुरुषादायतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्त्तव्यं॥ ५॥

उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्त सेठ की कथा

सुराष्ट्र देश के पाटलिपुत्र नगर में राजा यशोधर रहता था। उसकी रानी का नाम सुसीमा था। उन दोनों के सुवीर नाम का पुत्र था। सुवीर सप्तव्यसनों से अभिभूत था तथा ऐसे ही चोर पुरुष उसकी सेवा करते थे। उसने कानों कान सुना कि पूर्व गौड़ देश की ताम्रलिप्त नगरी में जिनेन्द्रभक्त सेठ के सतखण्डा महल के ऊपर अनेक रक्षकों से सहित श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा के ऊपर जो छत्रत्रय लगा है उस पर एक विशेष प्रकार का अमूल्य वैडूर्यमणि संलग्न है। लोभवश उस सुवीर ने अपने पुरुषों से पूछा कि क्या कोई उस मणि को लाने में समर्थ है ? सूर्य नामक चोर ने गला फाड़कर कहा कि यह तो क्या है, मैं इन्द्र के मुकुट का मणि भी ला सकता हूँ। इतना कहकर वह कपट से क्षुल्लक बन गया और अत्यधिक कायक्लेश से ग्राम तथा नगरों में क्षोभ करता हुआ क्रम से ताम्रलिप्त नगरी

१. यशोध्वजो घ.। २. तस्य प्रणामं कृत्वा घ.।

पहुँच गया। प्रशंसा से क्षोभ को प्राप्त हुए जिनेन्द्र भक्त सेठ ने जब सुना तब वहाँ जाकर दर्शन कर, वन्दना कर तथा वार्तालाप कर उस क्षुल्लक को अपने घर ले आया। उसने पार्श्वनाथ देव के उसे दर्शन कराये और माया से न चाहते हुए भी उसे मणि का रक्षक बनाकर वहीं रख लिया।

एक दिन क्षुल्लक से पूछकर सेठ समुद्र यात्रा के लिये चला और नगर से बाहर निकलकर ठहर गया। वह चोर क्षुल्लक घर के लोगों को सामान ले जाने में व्यग्र जानकर आधी रात के समय उस मणि को लेकर चलता बना। मणि के तेज से मार्ग में कोतवालों ने उसे देख लिया और पकड़ने के लिये उसका पीछा किया। कोतवालों से बचकर भागने में असमर्थ हुआ वह चोर क्षुल्लक सेठ की ही शरण में जाकर कहने लगा कि मेरी रक्षा करो रक्षा करो। कोतवालों का कल-कल शब्द सुनकर तथा पूर्वापर विचार कर सेठ ने जान लिया कि यह चोर है परन्तु धर्म का उपहास बचाने के लिये उसने कहा कि यह मेरे कहने से ही रत्न लाया है, आप लोगों ने अच्छा नहीं किया जो इस महा तपस्वी को चोर घोषित किया। तदनन्तर सेठ के वचन को प्रमाण मानकर कोतवाल चले गये और सेठ ने उसे रात्रि के समय निकाल दिया। इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टियों को भी असमर्थ और अज्ञानी जनों से आये हुए धर्म के दोष का आच्छादन करना चाहिये।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेणः उत्तमश्रावकः चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवासः श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितः। तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या[१] परिहितो दिव्यो हारो दृष्टः। ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता। रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्युच्चौरेणोक्तं प्रिये ! किमेवं स्थितासीति। तयोक्तं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या[२] हारं यदि मे ददासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नान्यथेति श्रुत्वा तां समुदीर्य अर्द्धरात्रे गत्वा निजकौशलेन तं हारं चोरयित्वा निर्गतः। तदुद्योतेन चौरोऽय-मिति ज्ञात्वा गृहरक्षकैः कोट्टयपालैश्च ध्रियमाणो पलायितुमसमर्थो वारिषेणकुमारस्याग्रे तं हारं धृत्वाऽदृश्यो भूत्वा स्थितः। कोट्टपालैश्च तं तथालोक्यश्रेणिकस्य कथितं-देव! वारिषेणश्चौर इति। तं श्रुत्वा तेनोक्तं मूर्खस्यास्य मस्तकं गृह्यतामिति। मातङ्गेन योऽसिः शिरोग्रहणार्थं वाहितः स कण्ठे तस्य पुष्पमाला बभूव। तमतिशयमाकर्ण्य श्रेणिकेन गत्वा वारिषेणः क्षमांकारितः लब्धाभयप्रदानेन विद्युच्चौरेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहं नेतुमारब्धः। तेन चोक्तं मया पाणिपात्रे भोक्तव्यमिति। ततोऽसौ सूरसेन[३] मुनिसमीपे मुनिरभूत्। एकदा राजगृहसमीपे पलाशकूटग्रामे चर्यायां स प्रविष्टः। तत्र श्रेणिकस्य, योऽग्निभूतिमन्त्री तत्पुत्रेण पुष्पडालेन स्थापितं चर्यां कारयित्वा स सोमिल्लां निजभार्यां पृष्ट्वा[४] प्रभुपुत्रत्वाद्बालासखित्वाच्च स्तोकं मार्गानुव्रजन कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गतः। आत्मनो व्याघुटनार्थं

१. ज्येष्ठिना घ.। २. श्रेष्ठिनो हारं घ.। ३. सूरदेवमुनि घ.। ४. दृष्ट्वा घ.।

क्षीरवृक्षादिकं दर्शयन् मुहुर्मुहुर्वन्दनां कुर्वन् हस्ते धृत्वा नीतो विशिष्टधर्मश्रवणं कृत्वा वैराग्यं नीत्वा तपो ग्राहितोऽपि सोमिल्लां न विस्मरति। तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रां कृत्वा वर्द्धमानस्वामिसमवसरणं गतौ। तत्र वर्द्धमानस्वामिन पृथिव्याश्च सम्बन्धिगीतं देवैर्गीयमानंपुष्प[1]डालेन श्रुतं। यथा–

मइलकुचेली दुम्मनी नहिं[2] पविसियएण।

कह जीवेसइ धणिय, घर [3]उज्झंते हियएण।

एतदात्मनः सोमिल्लायाश्च संयोज्य उत्कण्ठितश्चलितः। स वारिषेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगरं नीतः। चेलिन्या तौ दृष्ट्वा वारिषेणः किं चारित्राच्चलितः आगच्छतीति संचिन्त्य परीक्षणार्थं सरागवीतरागे द्वे आसने दत्ते। वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्तं मदीयमन्तः पुरमानीयतां। ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्याः सालङ्कारा आनीता। ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः स्त्रियो मदीयं युवराजपदं च त्वं गृहाण। तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीव लज्जितः परं वैराग्यं गतः। परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति[4]॥६॥

स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध वारिषेण की कथा

मगधदेश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक रहता था। उसकी रानी का नाम चेलिनी था। उन दोनों के वारिषेण नाम का पुत्र था। वारिषेण उत्तम श्रावक था। एक बार वह उपवास धारण कर चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में कायोत्सर्ग से खड़ा था। उसी दिन बगीचे में गई हुई मगध सुन्दरी नामक वेश्या ने श्रीकीर्ति सेठानी के द्वारा पहना हुआ हार देखा। तदनन्तर उस हार को देखकर इस आभूषण के बिना मुझे जीवन से क्या प्रयोजन है ऐसा विचार कर वह शय्या पर पड़ रही। उस वेश्या में आसक्त विद्युत्चोर जब रात्रि के समय उसके घर आया तब उसे शय्या पर देख बोला कि प्रिये इस तरह क्यों पड़ी हो ? वेश्या ने कहा कि यदि श्री कीर्ति सेठानी का हार मुझे देते हो। तो मैं जीवित रहूँगी और तुम मेरे पति होगे अन्यथा नहीं। वेश्या के यह वचन सुनकर तथा उसे आश्वासन देकर विद्युत्चोर आधी रात के समय श्री कीर्ति सेठानी के घर गया और अपनी चतुराई से हार चुराकर बाहर निकल आया। हार के प्रकाश से यह चोर है ऐसा जानकर गृह के रक्षकों तथा कोतवालों ने उसे पकड़ना चाहा। जब वह चोर भागने में असमर्थ हो गया तब वारिषेण कुमार के आगे उस हार को डालकर छिपकर बैठ गया। कोतवालों ने उस हार को वारिषेण के आगे पड़ा देखकर राजा श्रेणिक से कह दिया कि राजन्! वारिषेण चोर है। यह सुनकर राजा ने कहा कि इस मूर्ख का मस्तक छेदकर लाओ। चाण्डाल ने वारिषेण का मस्तक काटने के लिये जो तलवार चलाई वह उसके गले में फूलों की माला बन गई। उस अतिशय को सुनकर राजा श्रेणिक ने जाकर वारिषेण से क्षमा कराई। विद्युत्चोर ने अभयदान पाकर राजा से जब अपना सब वृत्तान्त कहा तब वह वारिषेण को घर ले जाने के लिये उद्यत

---

१. लाडेन ख.। २. नाहेर वसियएण ख.। ३. डज्झंगी घ.। ४. इतोऽग्रे घ पुस्तके अधिकः पाठः ''ततो वारिषेणमुनिः मुक्तिं गतः पुष्पडालश्च स्वर्गे देवो जातः।''

हुआ। परन्तु वारिषेण ने कहा कि अब तो मैं पाणिपात्र में भोजन करूँगा अर्थात् दिगम्बर मुनि बनूँगा। तदनन्तर वह सूरसेन गुरु के समीप मुनि हो गया।

एक समय वह मुनि राजगृह के समीपवर्ती पलाशकूट ग्राम में चर्या के लिये प्रविष्ट हुए। वहाँ राजा श्रेणिक के अग्निभूति मंत्री के पुत्र पुष्पडाल ने उन्हें पड़गाहा। चर्या कराने के बाद वह अपनी सोमिल्ला नामक स्त्री से पूछकर स्वामी का पुत्र तथा बाल्यकाल का मित्र होने के कारण कुछ दूर तक भेजने के लिए वारिषेण के साथ चला गया। अपने लौटने के अभिप्राय से वह क्षीरवृक्ष आदि को दिखाता तथा बार-बार मुनि को वन्दना करता था। परन्तु मुनि हाथ पकड़कर उसे साथ ले गये और धर्म का विशिष्ट उपदेश सुनाकर तथा वैराग्य उपजाकर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया। तप धारण करने पर भी वह सोमिल्ला स्त्री को नहीं भूलता था।

पुष्पडाल और वारिषेण दोनों ही मुनि बारह वर्ष तक तीर्थयात्रा कर भगवान् वर्धमान स्वामी के समवसरण में पहुँचे। वहाँ वर्धमान स्वामी और पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाला एक गीत देवों के द्वारा गाया जा रहा था उसे पुष्पडाल ने सुना। गीत का भाव यह था कि जब पति प्रवास को जाता है तब स्त्री खिन्न चित्त होकर मैली कुचैली रहती है परन्तु जब वह घर छोड़कर ही चल देता है तब वह कैसे जीवित रह सकती है।

पुष्पडाल ने यह गीत अपने तथा सोमिल्ला के सम्बन्ध में लगा लिया इसलिये वह उत्कण्ठित होकर चलने लगा। वारिषेण मुनि यह जानकर उसका स्थितीकरण करने के लिये उसे अपने नगर ले गये। चेलिनी ने उन दोनों मुनियों को देखकर विचार किया कि वारिषेण क्या चारित्र से विचलित होकर आ रहा है ? परीक्षा करने के लिये उसने दो आसन दिये—एक सराग और दूसरा वीतराग। वारिषेण ने वीतराग आसन पर बैठकर कहा कि हमारा अन्तःपुर बुलाया जावे। महारानी चेलिनी ने आभूषणों से सजी हुई उसकी बत्तीस स्त्रियाँ बुलाकर खड़ी कर दी। तदनन्तर वारिषेण ने पुष्पडाल से कहा कि ये स्त्रियाँ और मेरा युवराज पद तुम ग्रहण करो। यह सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित होता हुआ उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुआ। परमार्थ से तप करने लगा।

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां[१] श्रीवर्मा राजा, तस्य[२] बलिबृर्हस्पतिः प्रह्लादो नमुचिश्चेति चत्वारो मन्त्रिणः। तत्रैकदा समस्तश्रुतधरो दिव्यज्ञानी सप्तशतमुनिसमन्वि[३]तोऽकम्पनाचार्य[४] आगत्योद्यानके स्थितः[५]। समस्तसंघश्च वारितः [६]राजादिकेऽप्यायते केनापि जल्पनं च कर्त्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति। राज्ञा च धवलगृ[७]हास्थितेन पूजाहस्तं नगरोजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः पृष्टाः क्वायं

---

१. श्रीधर्मों घ.। २. तस्य राज्ञी श्रीमतिः घ.। ३. समन्विता घ.। ४. अकम्पनामार्याः घ.। ५. स्थिताः घ.। ६. राजन्यकेऽप्यायाते घ.। ७. धवलगृहस्थितेन घ.।

लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति। तैरुक्तं क्षपणका बह्वो बहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति। वयमपि तान् द्रष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मन्त्रिसमन्वितो गतः। प्रत्येके सर्वे वन्दिताः। न च केनापि आशीर्वादो दत्तः। दिव्यानुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य व्याघुटिते राज्ञि। मन्त्रिभिर्दुष्टाभि-प्रायैरुपहासः कृतः बलीवर्दा एते न किञ्चिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिताः। एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रेचर्यां कृत्वा श्रुतसागर-मुनिमागच्छन्तामालोक्योक्तं "अयं तरुणबलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति।" एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः। अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता। तेनोक्तं सर्वसंघस्त्वया मारितः यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघस्य जीवितव्यं तव शुद्धिश्च भवति। ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्सर्गेण स्थितः। मन्त्रिभि-श्चातिलज्जितैः क्रुद्धैः रात्रौ संघं मारयितुं गच्छद्भिस्तमेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हन्तव्य इति पर्यालोच्य तद्वधार्थं युगपच्चतुर्भिः खड्गा उद्गूर्णाः। कम्पितनगरदेवतया तथैव ते कीलिताः। प्रभाते तथैव ते सर्वलोकैर्दृष्टाः। रुष्टेन राज्ञा क्रमागता इति न मारिता गर्दभारोहणादिकं कारयित्वा देशान्निर्घाटिताः। अथ कुरुजाङ्गलदेशे हस्तिनागपुरे राजा महापद्मो। राज्ञी लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्म विष्णुश्च। स एकदा पद्माय राज्यं दत्वा महापद्मो विष्णुना सह श्रुतसागर-चन्द्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जातः। ते च बलिप्रभृतय आगत्य पद्मराजस्य मन्त्रिणो जाताः। कुम्भपुरदुर्गे च सिंहबलो राजा दुर्गबलात् पद्ममण्डलस्योपद्रवंकरोति। तद्ग्रहणचिन्तया पद्मं दुर्बल-मालोक्य बलिनोक्तं किं देव! दौर्बल्ये कारणमिति। कथितं च राज्ञा। तच्छ्रुत्वा आदेशं याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहात्म्येन दुर्गं भंक्त्वा सिंहबलं गृहीत्वा व्याघुट्यागतः। तेन पद्मस्यासौ समर्पितः। देव ! सोऽयं सिंहबल इति। तुष्टेन तेनोक्तं वांछितं वरं प्रार्थयेति। बलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति। अथ कतिपयदिनेषु विहरन्तस्तेऽकम्पनाचार्यादयः सप्तशतयतयस्तत्रागताः। पुरक्षोभाद्बलिप्रभृतिभिस्तान् परिज्ञाय राजा एतद्भक्त इति पर्यालोच्य भयात्तन्मारणार्थं पद्मः पूर्ववरं प्रार्थितं सप्तदिनान्यस्माकं राज्यं देहीति। ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्वाऽन्तःपुरे प्रविश्य स्थितः। बलिना च आतपनगिरौ कायोत्सर्गेण स्थितान्मुनीन् वृत्यावेष्ट्य मण्डपं कृत्वा यज्ञः कर्तुमारब्धः। उच्छिष्टसरावच्छागादिजीवकलेवरैर्धूमैश्च मुनीनां मारणार्थमुपसर्गः कृतः। मुनयश्च द्विविधसंन्यासेन स्थिताः। अथ मिथिलानगर्यामर्धरात्रेबहिर्विनिर्गत-श्रुतसागरचन्द्राचार्येण आकाशे श्रवणनक्षत्रं कम्पमानमालोक्यावधिज्ञानेन ज्ञात्वा भणितं महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते। तच्छ्रुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधरक्षुल्लकेन पृष्टं-भगवन्! क्व केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते ? हस्तिनागपुरे अकम्पनाचार्यादीनां सप्तशतयतीनां। उपसर्गः कथं नश्यति ? धरणिभूषणगिरौ विष्णुकुमारमुनि-र्विक्रियर्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति। एतदाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति संचिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तः प्रसारितः। स गिरिं भित्त्वा दूरे गतः। ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणितः। किं त्वया मुनीनामुपसर्गः कारितः। तव कुले केनापीदृशं न कृतं। तेनोक्तं किं करोमि मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति। ततो विष्णुकुमारमुनिना वामन-ब्राह्मणरूपं धृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृतं। बलिनोक्तं किं तुभ्यं दीयते?

तेनोक्तं भूमेः पादत्रयं देहि। ग्रहिलब्राह्मण बहुतरमन्यत्प्रार्थयेति वारं वारं लोकैर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते। ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपादत्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा बलिपृष्ठे तं पादं दत्वा बलिं बद्ध्वा मुनीनामुपसर्गो निवारितः। ततस्ते चत्वारोऽपि[१] मन्त्रिणः पद्मस्य भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचार्यादीनां च पादेषु लग्नाः। ते मन्त्रिणः श्रावकाश्च जाता इति॥७॥[२]

विष्णुकुमार मुनि की कथा

अवन्ति देश की उज्जयिनी नगरी में श्रीवर्मा राजा राज्य करता था। उसके बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चार मन्त्री थे। वहाँ एक समय शास्त्रों के धारक, दिव्यज्ञानी तथा सात सौ मुनियों से सहित अकम्पनाचार्य आकर उद्यान में ठहर गये। अकम्पनाचार्य ने समस्त संघ को मना कर दिया कि राजादिक के आने पर किसी के साथ वार्तालाप न किया जावे, अन्यथा समस्त संघ का नाश हो जावेगा।

राजा अपने धवलगृह पर बैठा था, वहाँ से उसने पूजा की सामग्री हाथ में लेकर जाते हुए नागरिकों को देखकर मन्त्रियों से पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं यह यात्रा का समय तो है नहीं। मन्त्रियों ने कहा कि नगर के बाहर उद्यान में बहुत से नग्न साधु आये हैं वहीं ये लोग जा रहे हैं। राजा ने कहा कि हम भी उन्हें देखने के लिए चलते हैं। ऐसा कहकर राजा मन्त्रियों सहित वहाँ गया। एक-एक कर समस्त मुनियों की वन्दना राजा ने की, परन्तु किसी ने भी आशीर्वाद नहीं दिया। दिव्य अनुष्ठान के कारण ये साधु अत्यन्त निःस्पृह है ऐसा विचार कर जब राजा लौटा तो खोटा अभिप्राय रखने वाले मन्त्रियों ने यह कह कर उन मुनियों का उपहास किया कि ये बैल हैं, कुछ भी नहीं जानते हैं, मूर्ख हैं इसीलिये छल से मौन लेकर बैठे हैं। ऐसा कहते हुए मन्त्री राजा के साथ जा रहे थे कि उन्होंने आगे चर्या कर आते हुए श्रुतसागर मुनि को देखा। देखकर कहा कि यह तरुण बैल पेट भर कर आ रहा है। यह सुनकर उन मुनि ने राजा के मन्त्रियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें हरा दिया। वापस आकर मुनि ने यह सब समाचार अकम्पनाचार्य से कहा। अकम्पनाचार्य ने कहा कि तुमने समस्त संघ को मरवा दिया। यदि शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर तुम रात्रि को अकेले खड़े रहते हो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराध की शुद्धि हो सकती है। तदनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्ग से स्थित हो गये।

अत्यन्त लज्जित और क्रोध से भरे हुए मंत्री रात्रि में समस्त संघ को मारने के लिये जा रहे थे कि उन्होंने कायोत्सर्ग से खड़े हुए उन मुनि को देखकर विचार किया कि जिसने हम लोगों का पराभव किया है वही मारने के योग्य है। ऐसा विचार कर चारों मन्त्रियों ने मुनि को मारने के लिये एक साथ

१. चत्वारो मन्त्रिणः पद्मश्च।

२. घ पुस्तके इतोऽग्रेऽधिकः पाठः 'व्यन्तरदेवैः सुघोषवीणात्रयं दत्तं विष्णुकुमारपादपूजार्थं।'

खड्ग ऊपर उठाये। परन्तु जिसका आसन कम्पित हुआ था ऐसे नगरदेवता ने आकर उन सबको उसी अवस्था में कील दिया। प्रातःकाल सब लोगों ने उन मन्त्रियों को उसी प्रकार कीलित देखा। मन्त्रियों की इस कुचेष्टा से राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु ये मंत्री वंश परम्परा से चले आ रहे है यह विचार कर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गर्दभारोहण आदि कराकर निकाल दिया।

तदनन्तर कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर नगर में राजा महापद्म राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था, उनके दो पुत्र थे–पद्म और विष्णु। एक समय राजा महापद्म, पद्म नामक पुत्र को राज्य देकर विष्णु नामक पुत्र के साथ श्रुतसागर चन्द्र नामक आचार्य के पास मुनि हो गये। वे बलि आदिक आकर पद्मराजा के मन्त्री बन गये। उसी समय कुम्भपुर के दुर्ग में राजा सिंहबल रहता था। वह अपने दुर्ग के बल से राजा पद्म के देश में उपद्रव करता था। राजा पद्म उसे पकड़ने की चिन्ता में दुर्बल होता जाता था। उसे दुर्बल देख एक दिन बलि ने कहा कि देव दुर्बलता का क्या कारण है? राजा ने उसे दुर्बलता का कारण बताया। उसे सुनकर तथा आज्ञा प्राप्त कर बलि वहाँ गया और अपनी बुद्धि के माहात्म्य से दुर्ग को तोड़कर तथा सिंहबल को लेकर वापस आ गया। उसने राजा पद्म को यह कहकर सिंहबल को सौंप दिया कि यह वही सिंहबल है। राजा पद्म ने संतुष्ट होकर कहा कि तुम अपना वाञ्छित वर माँगो। बलि ने कहा कि जब माँगूगा तब दिया जावे।

तदनन्तर कुछ दिनों में विहार करते हुए वे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि उसी हस्तिनागपुर में आये। उनके आते ही नगर में हलचल मच गयी। बलि आदि मन्त्रियों ने उन्हें पहचान कर विचार किया कि राजा इनका भक्त है। इस भय से उन्होंने उन मुनियों को मारने के लिये राजा पद्म से अपना पहले का वर माँगा कि हम लोगों को सात दिन का राज्य दिया जावे। तदनन्तर राजा पद्म उन्हें सात दिन का राज्य देकर अन्तःपुर में चला गया। इधर बलि ने आतापनगिरि पर कायोत्सर्ग से खड़े हुए मुनियों को बाड़ी से वेष्टित कर मण्डप लगा यज्ञ करना शुरू किया। जूँठे सकोरे, बकरा आदि जीवों के कलेवर तथा धूम आदि के द्वारा मुनियों को मारने के लिये बहुत भारी उपसर्ग किया। मुनि दोनों प्रकार का संन्यास लेकर स्थिर हो गये।

तदनन्तर मिथिलानगरी में आधी रात के समय बाहर निकले हुए श्रुतसागर चन्द्र आचार्य ने आकाश में काँपते हुए श्रवण नक्षत्र को देखकर अवधिज्ञान से जानकर कहा कि महामुनियों के ऊपर महान् उपसर्ग हो रहा है। यह सुनकर पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा कि कहाँ किन पर महान् उपसर्ग हो रहा है ? उन्होंने कहा कि हस्तिनागपुर में अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर। उपसर्ग कैसे नष्ट हो सकता है ? ऐसा क्षुल्लक द्वारा पूछे जाने पर कहा कि धरणिभूषण पर्वत पर विक्रियाऋद्धि के धारक विष्णुकुमार मुनि स्थित हैं, वे उपसर्ग को नष्ट कर सकते हैं। यह सुन क्षुल्लक ने उनके पास जाकर सब समाचार कहा। मुझे विक्रियाऋद्धि है क्या ? ऐसा विचार कर विष्णुकुमार मुनि ने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वत को भेदकर दूर तक चला गया। तदनन्तर विक्रिया का निर्णय कर उन्होंने

हस्तिनागपुर जाकर राजा पद्म से कहा कि तुमने मुनियों पर उपसर्ग क्यों कराया ? आपके कुल में ऐसा कार्य किसी ने नहीं किया। राजा पद्म ने कहा कि क्या करूँ मैंने पहले इसे वर दे दिया था।

तदनन्तर विष्णुकुमार मुनि ने एक बौने ब्राह्मण का रूप बनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेदपाठ करना शुरू किया। बलि ने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे ? बौने ब्राह्मण ने कहा कि तीन डग भूमि देओ। पगले ब्राह्मण! देने को बहुत है और कुछ माँग, इस प्रकार बार-बार लोगों के कहे जाने पर भी वह तीन डग भूमि ही माँगता रहा। तदनन्तर हाथ में संकल्प का जल लेकर जब उसे विधिपूर्वक तीन डग भूमि दे दी गई तब उसने एक पैर मेरु पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरे पैर के द्वारा देवविमानों आदि में क्षोभ उत्पन्न कर उसे बलि की पीठ पर रखा तथा बलि को बाँधकर मुनियों का उपसर्ग दूर किया। तदनन्तर वे चारों मन्त्री राजा पद्म के भय से आकर विष्णुकुमार मुनि तथा अकम्पनाचार्य आदि मुनियों के चरणों में संलग्न हुए-चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगे। वे मन्त्री श्रावक बन गये।

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा

हस्तिनागपुरे बलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वं गत्वा भणितं। माम ! मां दुर्मुखराजस्य दर्शयेत्[१]। न[२] च गर्वितेन दर्शितः। ततो ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमेव तु दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य मन्त्रिपदं लब्धवान्। तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्तां पुत्रीं परिणेतुं दत्तवान्। एकदा तस्या गर्भिण्या[३] वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे दोहलको जातः। अतः सोमदत्तेन तान्युद्यानवने अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे सुमित्राचार्यो योगं गृहीतवांस्तं नानाफलैः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्तान्यादाय पुरुषहस्ते प्रेषितवान्। स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णस्तपो गृहीत्वा आगममधीत्य परिणतो भूत्वा नाभिगिरौ आतपनेन स्थितः। यज्ञदत्ता च पुत्रं प्रसूता तं वृत्तान्तं[४] श्रुत्वा बन्धुसमीपं गता। तस्य शुद्धिं ज्ञात्वा बन्धुभिः सह नाभिगिरिं गत्वा तमातपनस्थ-मालोक्यातिकोपात्तत्पादोपरि बालकं धृत्वा दुर्वचनानि दत्वा गृहं गता। अत्र प्रस्तावे दिवाकरदेवनामा विद्याधरोऽमरावती पुर्याः पुरन्दरनाम्ना लघुभ्राता राज्यान्निर्घाटितः सकलत्रो मुनिं वन्दितुमायातः। तं बालं गृहीत्वा निजभार्यायाः समर्प्य वज्रकुमार इति नाम कृत्वा गतः। स च वज्रकुमारः कनकनगरे[५] विमलवाहन-निजमैथुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः। अथ गरुड-वेगाङ्गवत्योः पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रज्ञप्तिं विद्यां महाश्रमेण साधयन्ती पवनाकम्पित-बदरीवज्रकंटकेन लोचने विद्धा। ततस्तत्पीडया चलचित्ताया विद्या न सिद्धयति। ततो वज्रकुमारेण च तां तथा दृष्ट्वा विज्ञानेन कण्टक उद्धृतः। ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा। उक्तं च तया

---

१. दर्शमते ख, ग दर्शय घ.। २. न, ख, ग, तेन च गर्वितेन न दर्शितः घ.। ३. गुर्विण्याः मूलपाठः। ४. तं ख, ग,। ५. गिरो, ख, ग कनकगिरे घ.।

भवत्प्रसादेन एषा विद्या सिद्धा, त्वमेव मे भर्त्तेत्युक्त्वा परिणीतः। वज्रकुमारेणोक्तं तात ! अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कथय, तस्मिन् कथिते में भोजनादौ प्रवृत्तिरिति। ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तः सर्वं सत्य एव कथितः। तमाकर्ण्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुभिः सह मथुरायां क्षत्रियगुहायां गतः। तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन वन्दनां कृत्वा वृत्तान्तः कथितः। समस्तबन्धून् महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो मुनिर्जातः। अत्रान्तरे मथुरायामन्या कथा-राजा पूतिगन्धो राज्ञी उर्विला[१]। सा च सम्यग्दृष्टिरतीव जिनधर्मप्रभावनायां रता। नन्दीश्वराष्टदिनानि प्रतिवर्षं जिनेन्द्ररथयात्रां त्रीन् वारान् कारयति। तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्तः श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा। मृते सागरदत्ते दरिद्रा परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्यां प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्टां ततो लघुमुनिनोक्तं हा! वराकी महता कष्टेन जीवतीति। तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं अत्रैवास्य राज्ञः पट्टरानी वल्लभा भविष्यतीति। भिक्षां भ्रमता धर्मश्रीवन्दकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषित-मिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा [२]मृष्टाहारैः पोषिता। एकदा यौवनभरे चैत्रमासे आन्दोलयन्तीं तां राजा दृष्ट्वा अतीवविरहावस्थां गतः। ततो मन्त्रिभिस्तां तदर्थं वन्दको याचितः। तेनोक्तं यदिमदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति। तत्सर्वं कृत्वा परिणीता। पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता। फाल्गुननन्दीश्वर-यात्रायामुर्विलारथयात्रामहारोपं दृष्ट्वा तया भणितं देव! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु। राज्ञा चोक्तमेवं भवत्विति। तत उर्विला वदति मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपार्श्वे गता। तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमार-मुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाकरदेवादयो विद्याधरास्तदीयवृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणिताः उर्विलायाः प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा भवद्भिः कर्त्तव्येति। ततस्तैर्बुद्धादासी रथं भङ्क्त्वा नानाविभूत्या उर्विलायाः रथयात्रा कारिता। तमतिशयं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धाबुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ॥ ८॥ १९-२०॥

प्रभावना अंग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा

हस्तिनागपुर में बल नामक राजा रहता था। उसके पुरोहित का नाम गरुड़ था। गरुड़ के एक सोमदत्त नाम का पुत्र था। उसने समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर अहिच्छत्रपुर में रहने वाले अपने मामा सुभूति के पास जाकर कहा कि मामा जी मुझे दुर्मुख राजा के दर्शन करा दो। परन्तु गर्व से भरे हुए सुभूति ने उसे राजा के दर्शन नहीं कराये। तदनन्तर हठधर्मी होकर वह स्वयं ही राजसभा से चला गया। वहाँ उसने राजा के दर्शन कर आशीर्वाद दिया और समस्त शास्त्रों की निपुणता को प्रकट कर मन्त्रीपद प्राप्त कर लिया। उसे वैसा देख सुभूति मामा ने अपनी यज्ञदत्ता नाम की पुत्री विवाहने के लिये दे दी।

एक समय वह यज्ञदत्ता जब गर्भिणी हुई तब उसे वर्षाकाल में आम्रफल खाने का दोहला हुआ।

१. ऊर्वी। २. मिष्टाहारैः घ.।

तदनन्तर बाग-बगीचों में आम्रफलों को खोजते हुए सोमदत्त ने देखा कि जिस आम्रवृक्ष के नीचे सुमित्राचार्य ने योग ग्रहण किया है वह वृक्ष नानाफलों से फला हुआ है। उसने उस वृक्ष से फल लेकर आदमी के हाथ घर भेज दिये और स्वयं धर्म श्रवण कर संसार से विरक्त हो गया तथा तप धारण कर आगम का अध्ययन करने लगा। जब वह अध्ययन कर परिपक्व हो गया तब नाभिगिरि पर्वत पर आतापन योग से स्थित हो गया।

इधर यज्ञदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया। पति के मुनि होने का समाचार सुन कर वह अपने भाई के पास चली गई। पुत्र की शुद्धि को जानकर वह अपने भाईयों के साथ नाभिगिरि पर्वत पर गई। वहाँ आतनयोग में स्थित सोमदत्त मुनि को देखकर अत्यधिक क्रोध के कारण उसने वह बालक उनके पैरों के ऊपर रख दिया और गालियाँ देकर स्वयं घर चली गई।

उसी समय अमरावती नगरी का रहने वाला दिवाकर देव नाम का विद्याधर जो कि अपने पुरन्दर नामक छोटे भाई के द्वारा राज्य से निकाल दिया गया था, अपनी स्त्री के साथ मुनि की वन्दना करने के लिये आया था। वह उस बालक को लेकर, अपनी स्त्री को सौंपकर तथा उसका वज्रकुमार नाम रखकर चला गया। वह वज्रकुमार कनकनगर में विमलवाहन नामक अपने मामा के समीप समस्त विद्याओं में पारगामी होकर क्रम-क्रम से तरुण हो गया।

तदनन्तर गरुड़वेग और अंगवती की पुत्री पवनवेगा हेमन्त पर्वत पर बड़े आराम से प्रज्ञप्ति नाम की विद्या सिद्ध कर रही थी। उसी समय वायु से कम्पित बैरी का एक पैना काँटा उसकी आँख में जा लगा उसकी पीड़ा से चित्त चञ्चल हो जाने से विद्या उसे सिद्ध नहीं हो रही थी। तदनन्तर वज्रकुमार ने उसे वैसा देख कुशलतापूर्वक वह काँटा निकाल दिया। काँटा निकल जाने से उसका चित्त स्थिर हो गया तथा विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध होने पर उसने कहा कि आपके प्रसाद से यह विद्या सिद्ध हो गयी है इसलिये आप ही मेरे भर्ता हैं। ऐसा कहकर उसने वज्रकुमार को विवाह लिया।

एक दिन वज्रकुमार ने दिवाकरदेव विद्याधर से कहा कि तात! मैं किसका पुत्र हूँ सत्य कहिये, उसके कहने पर ही मेरी भोजनादि में प्रवृत्ति होगी। तदनन्तर दिवाकर देव ने पहले का सब वृत्तान्त सच-सच कह दिया। उसे सुनकर वह अपने पिता के दर्शन करने के लिये भाईयों के साथ मथुरा नगरी की दक्षिण-गुहा में गया। वहाँ दिवाकरदेव ने वन्दना कर वज्रकुमार के पिता सोमदत्त को सब समाचार कह दिया। समस्त भाईयों को बड़े कष्ट से विदाकर वज्रकुमार मुनि हो गया।

इसी बीच में मथुरा में एक दूसरी घटना घटी। वहाँ पूतिगन्ध राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम उर्विला था। उर्विला सम्यग्दृष्टि तथा जिनधर्म की प्रभावना में अत्यन्त लीन थी। वह प्रतिवर्ष अष्टाह्निक पर्व में तीन बार जिनेन्द्र देव की रथयात्रा निकालती थी। उसी नगरी में एक सागरदत्त सेठ रहता था, उसकी सेठानी का नाम समुद्रदत्ता था। उन दोनों के एक दरिद्रा नाम की पुत्री हुई। सागरदत्त

के मर जाने पर एक दिन दरिद्रा दूसरे के घर में फेंके हुए भात के साथ खा रही थी। उसी समय चर्या के लिये प्रविष्ट हुए दो मुनियों ने उसे वैसा करते हुए देखा। तदनन्तर छोटे मुनि ने बड़े मुनि से कहा कि हाय बेचारी बड़े कष्ट से जीवन बिता रही है। यह सुनकर बड़े मुनि ने कहा कि यह इसी नगरी में राजा की प्रिय पट्टरानी होगी। भिक्षा के लिये भ्रमण करते हुए एक बौद्धसाधु ने मुनिराज के वचन सुनकर विचार किया कि मुनि का कथन अन्यथा नहीं होगा, इसलिये वह उसे अपने विहार में ले गया और वहाँ अच्छे आहार से उसका पालन-पोषण करने लगा।

एक दिन भरी जवानी में वह चैत्रमास के समय झूला झूल रही थी कि उसे देखकर राजा अत्यन्त विरहावस्था को प्राप्त हो गया। तदनन्तर मन्त्रियों ने उसके लिये बौद्ध साधु से याचना की। उसने कहा कि यदि राजा हमारे धर्म को ग्रहण करें तो मैं इसे दे दूँगा। राजा ने वह सब स्वीकृत कर उसके साथ विवाह कर लिया और वह उसकी अत्यन्त प्रिय पट्टरानी बन गई।

फाल्गुन मास की नन्दीश्वर यात्रा में उर्विला ने रथयात्रा की तैयारी की। उसे देख, उस पट्टरानी ने राजा से कहा कि देव मेरा बुद्ध भगवान् का रथ इस समय नगर में पहले घूमे। राजा ने कह दिया कि ऐसा ही होगा। तदनन्तर उर्विला ने कहा कि यदि मेरा रथ पहले घूमता है तो मेरी आहार में प्रवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रियगुहा में सोमदत्त आचार्य के पास आई। उसी समय वज्रकुमार मुनि की वन्दना-भक्ति के लिये दिवाकर देव आदि विद्याधर आये थे। वज्रकुमार मुनि ने यह सब वृत्तान्त सुनकर उनसे कहा कि आप लोगों को प्रतिज्ञा पर आरूढ़ उर्विला की रथ यात्रा कराना चाहिये। तदनन्तर उन्होंने बुद्ध दासी का रथ तोड़ कर बड़ी विभूति के साथ उर्विला की रथयात्रा कराई। उस अतिशय को देखकर प्रतिबोध को प्राप्त हुई बुद्ध दासी तथा अन्य लोग जैनधर्म में लीन हो गये ॥ ८॥ १९-२०॥

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं ? तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदन-सामर्थ्य-संभवादित्याशंक्याह-

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं, दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनां ॥२१॥

अन्वयार्थ-(अङ्गहीनं) निःशङ्कित आदि अङ्गों से हीन **(दर्शनम्)** सम्यग्दर्शन **(जन्मसन्ततिम्)** संसार की परम्परा को **(छेत्तुम्)** नष्ट करने के लिए **(अलं न)** समर्थ नहीं है **(हि)** क्योंकि **(अक्षरन्यूनः)** एक अक्षर से भी हीन/कम **(मन्त्रः)** मंत्र **(विषवेदनाम्)** विष की पीड़ा को **(न निहन्ति)** नष्ट नहीं करता।

समदर्शन यदि निज अंगों का अवधारक वह नहीं रहा,
जनम जरा भय भव-संतति का हारक भी फिर नहीं रहा।

न्यूनाधिक अक्षर वाला हो मन्त्र जहर को कब हरता ?
उचित रहा यह समुचित कारण निजी कार्य वह द्रुत करता ॥२१॥

टीका—'दर्शनं' कर्तृ। 'जन्मसन्ततिं' संसारप्रबन्धं। 'छेत्तुं' उच्छेदयितुं 'नालं' न समर्थं कथंभूतं-सत्, 'अङ्गहीनं' अङ्गैर्निःशंकितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलं। अस्यैवार्थस्यसमर्थनार्थं दृष्टान्तमाह-'न ही'त्यादि। सर्पादिदष्टस्य प्रसृतसर्वाङ्गविषवेदनस्य तदपहरणार्थं प्रयुक्तो मन्त्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'न हि' नैव 'निहन्ति' स्फोटयति[१] विषवेदनां। ततः सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽष्टाङ्गोपेतत्वं युक्तमेव, त्रिमूढापोढत्ववत् ॥२१॥

अब कोई आशंका करता है कि सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के निरूपण करने का क्या प्रयोजन है क्योंकि अंगों से रहित भी सम्यग्दर्शन में संसार का उच्छेद करने की सामर्थ्य हो सकती है। इस आशंका के उत्तर में आचार्य कहते हैं–

टीकार्थ— ऊपर जिन निःशंकितत्व आदि अंगों का वर्णन किया गया है उनसे हीन सम्यग्दर्शन संसार की सन्तति-जन्म-मरण की सन्तति को नष्ट करने के लिये समर्थ नहीं है। इसी अर्थ का समर्थन करने के लिये मन्त्र का दृष्टान्त दिया है। जैसे किसी मनुष्य को सर्प ने काँटा और विष की वेदना उसके समस्त शरीर में फैल गई। उस विष वेदना को दूर करने के लिये मन्त्र वादी मन्त्र का प्रयोग करता है परन्तु उस मन्त्र में एक अक्षर कम बोलता है तो ऐसे मन्त्र से विष की वेदना दूर नहीं होती। विष की वेदना दूर करने के लिये पूर्ण मन्त्र ही समर्थ होता है। इसी प्रकार संसार का उच्छेद करने के लिये आठ अंगों से पूर्ण सम्यग्दर्शन ही समर्थ है, एक दो अंगों से विकल सम्यग्दर्शन नहीं।

विशेषार्थ— जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक ये आठ अंग होते हैं और इन आठ अंगों से ही मनुष्य अपना काम करने में समर्थ होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं। इन आठ अंगों के द्वारा ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शन संसार की सन्तति के छेदने रूप अपने काम में समर्थ होता है। जब तक मनुष्य शंकाशील रहता है तब तक वह किसी काम में आगे नहीं बढ़ता परन्तु शंका के दूर होते ही उसका पैर आगे बढ़ने लगता है। दो पैरों में सबसे पहले दाहिना पैर आगे बढ़ता है इसलिये निःशंकित अंग को मनुष्य के दाहिने पैर की उपमा दी जाती है। मनुष्य का बाँया पैर किसी आकांक्षा के बिना ही दाहिने पैर के पीछे चल देता है। इसलिये निःकांक्षित अंग के लिये बाँये पैर की उपमा दी जाती है। शरीर के मल-मूत्रादि पदार्थों को साफ करने के लिये मनुष्य का बाँया हाथ किसी ग्लानि के बिना आगे आता है इसलिये निर्विचिकित्सित अंग के लिये बाँये हाथ की उपमा दी जाती है। शरीर के किसी अंग पर कोई आपत्ति आती है तो उसके निवारणार्थ मनुष्य का दाहिना हाथ सबसे पहले उस अंग की सहायता

१. स्फेटयति घ.।

करता है। इसलिये स्थितीकरण अंग के लिये दाहिने हाथ की उपमा दी जाती है। खोटे कार्यों से बचने के लिये मनुष्य की पीठ सहायक होती है अर्थात् खोटे कार्यों की ओर पीठ देने से मनुष्य पाप से बच जाता है इसलिये खोटे कार्यों से मानसिक, वाचनिक और शारीरिक असहयोग कराने वाले अमूढ़दृष्टित्व अंग के लिये पीठ की उपमा दी जाती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने नितम्ब को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करता है, उसे प्रकट नहीं करता, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव किसी के दोषों को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करता है उसे वह प्रकट नहीं करता इसलिये उपगूहन अंग के लिये नितम्ब की उपमा दी जाती है। मनुष्य का जिसके साथ स्नेह होता है वह उसे अपने उर:स्थल (छाती) से लगाता है इसलिये वात्सल्य अंग के लिये उर:स्थल की उपमा दी जाती है और जिस प्रकार मनुष्य अपना सिर उठाकर अर्थात् मुख दिखाकर लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है उसी प्रकार प्रभावना अंग के द्वारा सम्यग्दृष्टि मनुष्य दूसरों को समीचीन धर्म की ओर आकर्षित करता है इसलिये प्रभावना अंग के लिये शिर-मस्तक की उपमा दी गई है। अपना-अपना कार्य करने के लिये जिस प्रकार मनुष्यों के आठों अंग आवश्यक हैं उसी प्रकार अपना-अपना कार्य करने के लिये सम्यग्दर्शन के आठों अंग आवश्यक हैं। वैसे तो नि:शंकितत्व आदि आठों अंग निज और पर की अपेक्षा दो दो प्रकार के हैं परन्तु विशेषता की अपेक्षा जब विचार करते हैं तो नि:शंकितत्व, नि:कांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व और अमूढ़दृष्टि इन चार अंगों का स्व से सम्बन्ध अधिक जान पड़ता है और उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चार का सम्बन्ध समष्टि-समाज से अधिक जान पड़ता है। व्यक्तिगत स्वकीय उन्नति के लिये प्रारम्भिक चार अंगों का होना अत्यन्त आवश्यक है और समष्टि-समाज सम्बन्धी उन्नति के लिये उपगूहन आदि चार अंगों का होना आवश्यक है। जिस समाज में एक दूसरे के दोष देखे जाते हैं, कोई किसी की सहायता नहीं करता, कोई किसी के सुख-दु:ख में सम्मिलित होकर आत्मीयता नहीं प्रकट करता और न समीचीन कार्यों का प्रसार करता है वह समाज बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है परन्तु इसके विपरीत जिस समाज में दोष देखने की अपेक्षा गुण देखे जाते हैं, विपत्ति पड़ने पर एक दूसरे का सहयोग किया जाता है। सबके साथ आत्मीय भाव रखा जाता और समीचीन कार्यों का प्रसार किया जाता है वह समाज संसार में चिरकाल तक जीवित रहता है ॥२१॥

कानि पुस्तकानि त्रीणि मूढानि यदमूढत्वं संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते, लोकदेवता-पाखण्डिमूढभेदात्त्रीणिमूढानि भवन्ति। तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह-

आपगा-सागर-स्नानमुच्चय: सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

अन्वयार्थ—धर्म समझकर **(आपगासागरस्नानम्)** नदी और समुद्र में स्नान करना **(सिकताश्मनाम्)** बालू और पत्थरों का **(उच्चय:)** ढेर लगाना **(गिरिपात:)** पर्वत से गिरना **(च)** और **(अग्निपात:)** अग्नि में गिरना/ पड़ना **(लोकमूढम्)** लोकमूढ़ता **(निगद्यते)** कही जाती है।

कंकर-पत्थर ढेर लगाना स्नान नदी सागर करना,
अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करना गिरि पर चढ़कर गिर मरना।
लोक-मूढ़ता यही रही है मूढ़ इन्हें बस धर्म कहें,
अत: मूढ़ता बुधजन तजकर शाश्वत शुचि शिव-शर्म गहें ॥२२॥

टीका—'लोकमूढं लोकमूढत्वं। किं ? 'आपगासागरस्नानं' आपगा नदी सागरः समुद्रः तत्र श्रेयःसाधनाभि-प्रायेण यत्स्नानं न पुनः शरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण। तथा 'उच्चयः' स्तूपविधानं। केषां ? 'सिकताश्मनां' सिकता वालुका, अश्मानः पाषाणास्तेषां। तथा 'गिरिपातो' भृगुपातादिः।'अग्निपातश्च' अग्निप्रवेशः। एवमादि सर्वं लोकमूढं 'निगद्यते' प्रतिपाद्यते ॥२२॥

अब कैसा सम्यग्दर्शन संसार के उच्छेद का कारण होता है ? यह बतलाने के लिये कहा जाता है त्रिमूढापोढं तीन प्रकार की मूढ़ताओं से रहित। उन मूढ़ताओं में लोकमूढ़ता को दिखलाते हुए कहते हैं—

टीकार्थ-लौकिक कार्यों में मूढ़ता-मूर्खतावश प्रवृत्ति करना लोक मूढ़ता कहलाती है। जैसे कल्याण का साधन समझकर समुद्र और गंगा, यमुना, नर्मदा आदि नदियों में स्नान करना, बालू और पर्वतों के ढेर लगाकर स्तूप बनाना, हिमालय आदि पर्वतों से भृगुपात करना अर्थात् उनकी ऊँची चोटी से लुढककर आत्मघात करना और पति के मर जाने पर सती बनने के लिये जीवित ही अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि कार्य लोकमूढ़ता कहलाते हैं।

विशेषार्थ—अन्ध श्रद्धालु होकर प्रयोजन का विचार किये बिना लौकिक कार्य करना लोकमूढ़ता है। जैसे लोक में प्रसिद्ध है गङ्गास्नानान्मुक्तिः गंगा में स्नान करने से मुक्ति होती है। इस प्रकार की प्रसिद्धियों से प्रभावित होकर समुद्र और नदियों में स्नान करना लोकमूढ़ता है। शरीर प्रक्षालन के अभिप्राय से स्नान करना लोकमूढ़ता नहीं है। मार्ग में बालू अधिक होने से यातायात में कठिनाई का अनुभव कर किसी परोपकारी मानव ने उस बालू को इकट्ठा कर एक ढेर लगवा दिया। दूसरे व्यक्ति उसकी इस भावना को न समझकर यह मानने लगे कि बालू के ढेर लगाने से स्वर्ग मिलता है। मार्ग में पत्थर अधिक होने से आने-जाने में कष्ट का अनुभव कर किसी दयालु मनुष्य ने मार्ग के उन पत्थरों को बीनकर एक ढेर लगा दिया, दूसरे दर्शक इस भावना को न समझकर पत्थरों के ढेर लगाने में पुण्य की प्राप्ति होती है ऐसा मानने लगे। इसी प्रकार पर्वतों से गिरना, अग्नि में जलना, पानी में डूबना आदि कार्यों को पुण्य समझकर करना लोकमूढ़ता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इस मूढ़ता से दूर रहता है ॥२२॥

देवतामूढं व्याख्यातुमाह—

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥२३॥

अन्वयार्थ—(वरोपलिप्सया) वरदान प्राप्त करने की इच्छा से **(आशावान्)** आशा से युक्त **(रागद्वेषमलीमसाः)** राग-द्वेष से मलिन **(देवताः)** देवताओं को **(यत्)** जो **(उपासीत)** पूजता है **(तत्)** वह **(देवतामूढम्)** देवमूढ़ता **(उच्यते)** कही जाती है।

राग-रोष से दोष-कोष से जिनका जीवन रंजित है,
देव नहीं वे, कुदेव सारे देव-भाव से वंचित हैं।
धन सुत आदिक की वांछा से उनकी पूजा जड़ करते,
देव-मूढ़ता यही, इसी से विधि-बन्धन को दृढ़ करते ॥२३॥

टीका—'देवतामूढं' 'तदुच्यते'। 'यदुपासीत' आराधयेत्। काः 'देवताः'। कथंभूताः 'रागद्वेषमलीमसाः' रागद्वेषाभ्यां मलीमसा मलिनाः। किंविशिष्टः ? 'आशावान्' ऐहिकफलाभिलाषी। कया ? 'वरोपलिप्सया' वरस्य वांछितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया। नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं-सम्यग्दर्शनम्लानताहेतुः। प्राप्नोतीति चेत् एवमेतत् यदि वरोपलिप्सया कुर्यात्। यदा तु शासनसक्तदेवतात्वेन तासां तत्करोति तदा न तन्म्लानताहेतुः। तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्वरमयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव। तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्विघ्नतो झटिति न सिद्ध्यति। न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥२३॥

अब देवतामूढ़-देवमूढ़ता का व्याख्यान करने के लिये कहते हैं—

टीकार्थ—ऐहिकफल की इच्छा रखने वाला जो पुरुष वांछित फल की आशा से रागी-द्वेषी देवों की उपासना करता है उसका वैसा करना देवमूढ़ता कहलाती है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यदि ऐसा है तो श्रावक आदि का शासन देवों की पूजा आदि का करना सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण प्राप्त होता है ? इसका उत्तर यह है कि यह कार्य वर-वांछित फल प्राप्त करने की इच्छा से किया जाता है तो अवश्य ही सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण है। परन्तु जैन शासन में निरत देवता होने के कारण जब उनकी उपासना की जाती है अर्थात् उनका यथा योग्य सत्कार किया जाता है तब वह सम्यग्दर्शन की मलिनता का कारण नहीं होता। ऐसा करने वाले पुरुष को सम्यग्दर्शन का पक्ष होने के कारण देवता माँगे बिना भी वांछित फल दे ही देते हैं। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो इष्ट देवता विशेष से वांछित फल की प्राप्ति निर्विघ्न रूप से शीघ्र नहीं होती। क्योंकि चक्रवर्ती के परिवार की पूजा के बिना सेवकों को चक्रवर्ती से फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती है।

विशेषार्थ—समन्तभद्रस्वामी ने देव का लक्षण वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक बतलाया है। इसके विपरीत जो राग-द्वेष से मलिन है अर्थात् उपासना करने से प्रसन्न होता है और उपासना न करने से रुष्ट होता है वह देव नहीं है, अदेव है। सांसारिक फलों की इच्छा रखकर ऐसे रागी-द्वेषी देवों की आराधना करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि का धर्माचरण कर्मक्षय के उद्देश्य से होता

है भोगोपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं। यह उद्देश्य तो अभव्य जीव का रहता है जैसा कि कहा है- **धम्मं भोगणिमित्तं कुव्वइ ण दु कम्मक्खयणिमित्तं** अर्थात् वह भोग के निमित्त धर्म करता है न कि कर्मक्षय के निमित्त। सम्यग्दृष्टि जीव जब सांसारिक फल की इच्छा लेकर जिनेन्द्रदेव की उपासना को भी सम्यक्त्व का दोष मानता है तब रागी-द्वेषी देवों की उपासना को वह करेगा यह सम्भव नहीं है। आचार्य सोमदेव ने कहा है-

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः॥

तीनों जगत् को देखने के लिए नेत्र स्वरूप अरहंतदेव को तथा व्यन्तरादिक देवों को जो पूजाविधान में समान देखता है वह बहुत दूर नीचे जाता है अर्थात् नरक का पात्र होता है। [१]समन्तभद्राचार्य भी आगे कहेंगे कि सम्यग्दृष्टि पुरुष भय से, आशा से, स्नेह से और लोभ से कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम तथा विनय न करें। सम्यग्दृष्टि का दृढ़विश्वास होता है कि हमारे पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार ही शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है, किसी के देने-लेने से नहीं। यही कारण है कि वह कुदेवों की उपासना से अपने मनोरथों को पूर्ण नहीं करना चाहता। बात रह जाती है प्रतिष्ठा आदि महान् कार्यों में शासन देवताओं के सम्मान आदि की, सो उसे सम्यग्दृष्टि भी करता है। जैसा कि कहा है-

ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः॥[२]

परमागम में जिनशासन की रक्षा के लिए उन शासन देवताओं की कल्पना की गई है इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों के द्वारा वे यज्ञांशदान के द्वारा सम्माननीय हैं।

वीतराग देव तो किसी के लिए कुछ देते-लेते नहीं हैं। अपनी शुभ-अशुभ भावनाओं से भक्त जीवों को जैसा शुभाशुभ कर्मबन्ध होता है उसके अनुसार ही शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है ॥२३॥ इसलिए संस्कृत टीकाकार के अनुसार इष्ट देवता विशेष-जिनेन्द्रदेव को चक्रवर्ती और शासनदेवताओं को उसके परिकर की उपमा देना तथा यह सिद्ध करना कि जिस प्रकार परिकर की पूजा के बिना चक्रवर्ती से फल की प्राप्ति नहीं होती, इसी प्रकार शासनदेवताओं की उपासना के बिना जिनेन्द्रदेव से शीघ्र तथा निर्विघ्नतापूर्वक-वाञ्छित फल की प्राप्ति नहीं होती इससे जिनेन्द्रदेव का अवर्णवाद जान पड़ता है।

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढ़स्वरूपं दर्शयन्नाह-

---

१. भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥३०॥ रत्न. श्रावकाचार
२. यशस्तिलकचम्पू,२४१।

सग्रन्थारम्भ-हिंसानां, संसारावर्त-वर्तिनाम्।
[१]पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥२४॥

अन्वयार्थ–(सग्रन्थारम्भहिंसानां) परिग्रह, आरम्भ और हिंसा से सहित **(संसारावर्तवर्तिनाम् पाषण्डिनाम्)** संसार भंवर/चक्र में कारणभूत कार्यों में लीन साधुओं का **(पुरस्कारः)** आदरसत्कार/आगे करना/पूजा करना **(पाषण्डिमोहनम्)** पाषण्डिमूढ़ता/गुरुमूढ़ता **(ज्ञेयम्)** जानने योग्य है।

संग सहित आरम्भ सहित हैं हिंसादिक में फँसे हुए,
सांसारिक कार्यों में उलझे मोह पाश से कसे हुए
कुगुरु रहें वे उनका आदर जो जड़-जन नित करते हैं,
गुरु-मूढ़ता यही इसी से पुनि-पुनि तन-धर मरते हैं ॥२४॥

टीका–'पाषण्डिमोहनं'। 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यं। कोऽसौ ? 'पुरस्कारः' प्रशंसा। केषां ? 'पाषण्डिनां' मिथ्यादृष्टि-लिङ्गानां। किंविशिष्टानां ? 'सग्रन्थारम्भहिंसानां' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरम्भाश्च कृष्यादयः हिंसाश्च अनेकविधाः प्राणिवधाः सह ताभिर्वर्तन्त इत्येवं ये तेषां। तथा 'संसारवर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तते इत्येवंशीलास्तेषां। एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नं सम्यग्दर्शनं संसारोच्छित्तिकारणं अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥२४॥

अब सम्यग्दर्शन के स्वरूप में पाखण्डिमूढ़ता का स्वरूप दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– जो दासी-दास आदि परिग्रह, खेती आदि आरम्भ और अनेक प्रकार के प्राणीवध रूप हिंसा से सहित हैं तथा संसार में आवर्त-भ्रमण कराने वाले विवाह आदि कार्यों में संलग्न हैं ऐसे अन्य साधुओं की प्रशंसा करना तथा उन्हें धार्मिक कार्यों में अग्रसर करना पाषण्डिमूढ़ता जानना चाहिए। पाषण्डी का अर्थ गुरु होता है और मूढ़ता का अर्थ अविवेक है। गुरु विषयक जो अविवेक है वह पाषण्डिमूढ़ता है। उपर्युक्त तीन मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शन ही संसार के उच्छेद का कारण है, जैसा कि आठ मदों से रहित सम्यग्दर्शन संसार के उच्छेद का कारण है।

विशेषार्थ– मोक्षमार्ग में गुरु की उपयोगिता इसलिए है कि वे सच्चे देव के द्वारा प्रदर्शित मोक्षमार्ग पर स्वयं चलकर उसका क्रियान्वयन करते हुए दूसरे जीवों को मोक्षमार्ग में अग्रसर करते हैं। पर जो गुरु, मोक्षमार्ग के पथिक न बनकर संसार के ही पथिक बन रहे हैं, आरम्भ, परिग्रह तथा हिंसादि पापों में लीन हैं और गृहस्थों के ही समान संसारभ्रमण के कारण विवाहादिक कार्यों में अनुराग रखते हैं उन्हें गुरु कैसे माना जा सकता है ? उपर्युक्त विवेक न रखकर चाहे जैसे कुलिंगी साधुओं को मानना उनकी भक्ति, वन्दना आदि करना तथा उनकी प्रशंसा आदि करना पाषण्डिमूढ़ता-गुरुमूढ़ता है ॥२४॥

कः पुनरयं स्मयः कतिप्रकारश्चेत्याह–

१.पाखण्डिनां

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥

अन्वयार्थ–(ज्ञानम्) ज्ञान **(पूजाम्)** प्रतिष्ठा/पूजा **(कुलम्)** कुल **(जातिम्)** जाति **(बलम्)** बल **(ऋद्धिम्)** ऋद्धि–धनसम्पत्ति **(तपः)** तप **(च)** और **(वपुः)** शरीर **(अष्टौ)** इन आठों का **(आश्रित्य)** आश्रय लेकर **(मानित्वम्)** अभिमानिपना होना **(गतस्मयाः)** गर्व से रहित गणधर आदि देव **(स्मयम्)** गर्व/मद **(आहुः)** कहते हैं।

ज्ञानवान हूँ ऋद्धिमान हूँ उच्च-जाति कुलवान तथा,
पूज्य प्रतिष्ठित रूपवान हूँ तपधारी बलवान तथा।
मन में आविर्मान, मान हो इन आठों के आश्रय ले,
वही रहा 'मद' निर्मद कहते जिनवर जिनका आश्रय ले ॥२५॥

टीका– 'आहु' ब्रुवन्ति[१]। कं ? 'स्मयं' केते ? 'गतस्मयाः' नष्टमदाः[२]' जिनाः। किं तत् ? 'मानित्वं' गर्वित्वं। किं कृत्वा ? 'अष्टावाश्रित्य'। तथा[३] हि। ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति। एवं पूजां कुलं जातिं बलं ऋद्धिमैश्वर्यं तपो वपुः शरीरसौन्दर्यमाश्रित्य पूजादिमदो भवति। ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्ते-रष्टाविति संख्यानुपपन्ना[४] इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञाने एवान्तर्भावात् ॥२५॥

अब स्मय-गर्व क्या है और कितने प्रकार का होता है ? यह कहते हैं–

टीकार्थ– जिनका स्मय-मद नष्ट हो गया है ऐसे जिनेन्द्र देव ज्ञानादिक आठ वस्तुओं का आश्रय लेकर गर्व करने को स्मय या मद कहते हैं। अपने क्षायोपशमिक ज्ञान का अहंकार करना ज्ञान मद है। इसी प्रकार अपनी पूजा-प्रतिष्ठा लौकिक सम्मान का गर्व करना पूजा मद है। पिता के वंश को कुल और माता के वंश को जाति कहते हैं, इनका अहंकार करना सो कुलमद और जातिमद है। शारीरिक शक्ति को बल कहते हैं, इसका गर्व करना सो बलमद है। बुद्धि आदि ऋद्धियों को अथवा गृहस्थ की अपेक्षा धन आदि के वैभव को ऋद्धि कहते हैं, इसके अहंकार को ऋद्धिमद कहते हैं। अनशनादि तपों को तप कहते हैं, इसका गर्व करना सो तपमद है और स्वस्थ तथा सुन्दर शरीर का गर्व करना सो शरीरमद है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि शिल्प-कलाकौशल का भी तो मद होता है। इसलिए नौ मद होने पर मद की आठ संख्या सिद्ध नहीं होती ? इसके उत्तर में टीकाकार कहते हैं कि शिल्प का मद ज्ञान मद में ही अन्तर्भूत हो जाता है इसलिए नौवाँ मद मानने की आवश्यकता नहीं है।

विशेषार्थ–अपने आपमें बड़प्पन का अनुभव करते हुए दूसरों को तुच्छ समझना स्मय या मद कहलाता है। लोक में ज्ञानादिक आठ वस्तुओं का अहंकार किया जाता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इनका यथार्थ स्वरूप समझता है और निश्चय रखता है कि यह क्षायोपशमिक ज्ञान आदि वस्तुएँ मेरे स्वाधीन

१. वदन्ति घ.। २. नष्टमोहा घ.। ३. तथा विज्ञानमाश्रित्य घ.। ४. नुत्पत्तिरित्यप्युक्तं घ.।

नहीं हैं किन्तु कर्माधीन हैं और कर्म का उदय न जाने कब कैसा आ जावे, इसलिए अहंकार करना उचित नहीं है। अहंकार से बचने के लिये यह आवश्यक है कि अपने से अधिक गुणवान् की ओर दृष्टि रखी जावे। अधिक गुणवान् की ओर दृष्टि रखने से अहंकार का भाव नहीं होता। परन्तु अपने से हीन गुणवान् की ओर दृष्टि देने से अहंकार का भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है। जैनागम में कुल और जाति की पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ स्वीकृत की गई हैं इसलिए मदों की संख्या आठ होती है पर क्षेमेन्द्र आदि ने कुल और जाति को पृथक्-पृथक् न मानकर एक ही माना है, इसलिए उनके यहाँ मद की संख्या सात ही मानी गई है। उन्होंने मद के स्थान पर दर्प[1] शब्द का उपयोग किया है॥२५॥

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोषं दर्शयन्नाह–

स्मयेन योऽन्यानत्येति, धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥

अन्वयार्थ–उपर्युक्त **(स्मयेन)** मद से **(गर्विताशयः)** गर्वितचित्त वाला **(यः)** जो पुरुष **(धर्मस्थान्)** रत्नत्रयरूप धर्म में स्थित **(अन्यान्)** अन्य जीवों को **(अत्येति)** तिरस्कृत करता है **(सः)** वह **(आत्मीयं धर्मम्)** अपने धर्म को **(अत्येति)** तिरस्कृत करता है **[यतः]** क्योंकि **(धार्मिकैः विना)** धर्मात्माओं के बिना **(धर्मः)** धर्म **(न)** नहीं होता।

व्यर्थ गर्व से तने हुए हैं मन में जो मद-मान धरें,
धार्मिक जीवन जीने वाले भविजन का अपमान करें।
अतः स्वयं ही आत्म-धर्म को मिटा रहे वह भूल रहे,
धर्मात्मा बिन चूंकि धर्म नहिं मिलता जो भव कूल रहे ॥२६॥

टीका–'स्मयेन' उक्तप्रकारेण। 'गर्विताशयो' दर्पितचित्तः[2]। 'यो' जीवः। 'धर्मस्थान्' रत्नत्रयोपेतानन्यान्।'अत्येति' अवधीरयति अवज्ञयातिक्रामतीत्यर्थः।'सोऽत्येति' अवधीरयति। कं? 'धर्मं' रत्नत्रयं। कथंभूतं? 'आत्मीयं' जिनपतिप्रणीतं। यतो धर्मो 'धार्मिकैः' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते ॥२६॥

अब इस आठ प्रकार के मद से निवृत्ति करने वाले पुरुष के क्या दोष उत्पन्न होता है। यह दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकार के मदों का वर्णन किया गया है उनसे गर्वित चित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रय रूप धर्म में स्थित अन्य धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है–अवज्ञा के द्वारा उनका उल्लंघन करता है वह जिनेन्द्र प्रणीत अपने ही रत्नत्रय धर्म का तिरस्कार करता है क्योंकि रत्नत्रय का पालन करने वाले धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है।

---

१. देखो क्षेमेन्द्र कवि का 'दर्पदलनम्'। २. दर्पिष्ठर्चित्तः घ.।

विशेषार्थ—धर्म आत्मा का गुण है और गुण सदा गुणी के आधार पर रहता है। गुणी से गुण कभी पृथक् नहीं रहता, जब यह सिद्धान्त है तब अपना रत्नत्रय रूप धर्म किसी व्यक्ति के आश्रय ही रह सकता है उससे पृथक् नहीं। अतः जो किसी अन्य धर्मात्मा पुरुष का तिरस्कार करता है वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव अपने धर्म के प्रति आस्थावान् रहता है इसलिए वह कभी किसी धर्मात्मा का अनादर नहीं करता ॥२६॥

[१]ननु कुलैश्वर्यादिसम्पन्नैः स्मयः कथं निषेद्धुंशक्य इत्याह –

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्त्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(यदि) अगर **(पापनिरोधः)** पाप का निरोध है अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म का सद्भाव है तो **(अन्यसम्पदा)** कुल ऐश्वर्य आदि अन्य सम्पत्ति से **(किम्)** क्या **(प्रयोजनम्)** मतलब है ? और **(अथ)** यदि **(पापास्त्रवः)** पाप का आस्त्रव अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि का सद्भाव **(अस्ति)** है तो **(अन्यसम्पदा)** संसार बढ़ाने वाले कुल ऐश्वर्य आदि अन्य सम्पत्ति से **(किम्)** क्या **(प्रयोजनम्)** मतलब है?

संवरमय समकित आदिक से जिनका कलुषित पाप धुला,
जात-पात धन कुल से फिर क्या ? रहा प्रयोजन आप भला।
किन्तु पाप-मय जीवन जिनका बना हुआ है सतत रहा,
बाह्य सम्पदादिक फिर भी वह मूल्य-शून्य सब वितथ रहा ॥२७॥

टीका—'पापं' ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुद्ध्यते येनासौ 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भावः स यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादेः सम्पदा सम्पत्त्या किं प्रयोजनं ? न किमपि प्रयोजनं तन्निरोधेऽतो-ऽप्यधिकाया विशिष्टतरायास्तत्सम्पदः सद्भावमवबुद्ध्यमानस्य तन्निबन्धनस्मयस्यानुत्पत्तेः। 'अथ पापास्त्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मणः आस्त्रवो मिथ्यात्वाविरत्यादिरस्ति तथाप्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनं। अग्रे दुर्गतिगमनादिकं अवबुद्ध्यमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावतस्तत्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ॥२७॥

अब कुल, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न मनुष्यों के द्वारा मद का निषेध किस प्रकार किया जा सकता है ? यह कहते हैं–

टीकार्थ—प्रश्न यह उठाया गया था कि कुल, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न मनुष्य मद को किस प्रकार रोक सकते हैं ? इसके उत्तर में कहा गया है कि विवेकी जीव को सदा ऐसा विचार करना चाहिए कि यदि मेरे ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मरूपी पाप को रोकने वाला रत्नत्रय धर्म विद्यमान है तो मुझे कुल ऐश्वर्य आदि अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि उससे श्रेष्ठतम सम्पति रूप रत्नत्रय धर्म मेरे

१. ननु कुलबलैश्वर्यसम्पत्तौ घ.।

पास विद्यमान है और इसके विपरीत यदि ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मरूप पाप का आस्रव होता है- मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव भाव विद्यमान है तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है? क्योंकि उस आस्रव से दुर्गति गमन आदि फल की प्राप्ति नियम से होगी। ऐसा विचार करने से कुल, ऐश्वर्य आदि का गर्व दूर हो जाता है।

विशेषार्थ—पापं ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुध्यते येनासौ पापनिरोधः इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ 'पापनिरोध' शब्द से रत्नत्रय को ग्रहण किया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव विचार करता है कि जब मेरे पास रत्नत्रय रूप सम्पदा विद्यमान है तब अन्य तुच्छ सम्पदाओं की क्या आवश्यकता है ? जिनका कि गर्व किया जावे। यदि पाप कर्मों का आस्रव करने वाले मिथ्यादर्शन, अविरति आदि भावविद्यमान है तो अन्य तुच्छ सम्पदाओं की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि उनके रहते हुए भी दुर्गति में गमन निश्चित रूप से होता है ऐसी निष्प्रयोजन संपत्ति के गर्व से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है ? ऐसा विचार करने से जीव कुल, ऐश्वर्य आदि के अहंकार से बच जाता है ॥२७॥

अमुमेवार्थं प्रदर्शयन्नाह-

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(देवाः) सभी तीर्थंकरदेव **(सम्यग्दर्शनसम्पन्नम्)** सम्यग्दर्शन से सहित **(मातङ्गदेहजम्)** चाण्डाल के शरीर से उत्पन्न अर्थात् चाण्डाल कुल में पैदा हुए को **(अपि)** भी **(भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं)** राख के भीतर ढके हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान **(देवम्)** पूज्य/सम्माननीय **(विदुः)** कहते हैं।

निजी कर्म के उदय प्राप्त कर जन्म-जात चाण्डाल रहा,
पर समदर्शन से है जिसका भासित जीवन भाल रहा।
गणधर आदिक पूज्य साधुजन, पूज्य उसे भी तदपि कहा,
तेज अनल ज्यों अन्दर,ऊपर राख ढकी हो यदपि अहा! ॥२८॥

टीका— 'देवं' आराध्यं। 'विदुर्मन्यन्ते। के ते ? 'देवा' ''देवा[१] वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो'' इत्यभिधानात्। कमपि ? 'मातङ्गदेहजमपि' चाण्डालमपि। कथंभूतं ? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नं' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं। अतएव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य ॥२८॥

आगे यही भाव दिखलाते हुए कहते हैं-

---

१. धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो॥ श्रावक एवं मुनि प्रतिक्रमणपाठ।

टीकार्थ—चाण्डाल कुल में उत्पन्न होने पर भी यदि कोई पुरुष सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है तो उसे गणधरादिक देव, आदर के योग्य कहते हैं, क्योंकि **देवावि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो** - जिसका मन सदा धर्म में रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं, ऐसा कहा गया है। ऐसे पुरुष का तेज भस्म से आच्छादित अंगार के भीतरी तेज के समान होता है।

विशेषार्थ— सम्यग्दर्शन आत्मा के श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव के हो सकता है। इसके होने में किसी गति, जाति या कुल का प्रतिबन्ध नहीं है। जिसकी आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है वह अनन्त संसार को सान्त कर देता है। चाण्डालादि नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव आदर का पात्र है उसकी आत्मा उस अंगार के मध्य भाग के समान तेज से दैदीप्यमान है जिसके ऊपर भस्म का आवरण चढ़ा हुआ है। कितने ही महानुभाव इस श्लोक का अवतरण इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में दिया करते हैं कि जाति या कुल कोई चीज नहीं है क्योंकि समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन से सहित चाण्डाल को भी देव कहा है। उन्हें **भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं** इस विशेषण पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। इस विशेषण द्वारा समन्तभद्र स्वामी कह रहे हैं कि जिस प्रकार अंगार का भीतरी तेज भस्म से आच्छादित हो रहा है उसी प्रकार चाण्डाल कुलोत्पन्न सम्यग्दृष्टि जीव का भीतरी तेज नीच कुल से आच्छादित हो रहा है। अत एव चाण्डालादि कुल में उत्पन्न हुआ सम्यग्दृष्टि या देशव्रती श्रावक उतना ही आदर का पात्र होता है जितना कि चरणानुयोग स्वीकृत करता है। यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि कुल, ऐश्वर्य आदि की सम्पन्नता अहंकार का कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनकी प्रतिष्ठा सम्यग्दर्शनादि गुणों से ही होती है। इनके बिना उच्च कुल तथा ऐश्वर्य आदि की प्रतिष्ठा नहीं है और इनके प्रकट होने पर नीच कुल तथा ऐश्वर्य आदि की भी प्रतिष्ठा यथायोग्य होने लगती है ॥२८॥

एकस्य धर्मस्य विविधं फलं प्रकाश्येदानीमुभयोर्धर्माधर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाह–

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्विषात्।
काऽपि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम्॥२९॥

अन्वयार्थ—(धर्मकिल्विषात्) धर्म और पाप से क्रमशः **(श्वा)** कुत्ता **(अपि)** भी **(देवः)** देव और **(देवः)** देव **(अपि)** भी **(श्वा)** कुत्ता **(जायते)** हो जाता है यथार्थ में **(धर्मात्)** धर्म से **(शरीरिणाम्)** जीवों के **(कापि नाम अन्या)** कोई अनिर्वचनीय **(सम्पत्)** सम्पत्ति **(भवेत्)** होती है।

धर्म-भाव वश श्वान स्वर्ग में देव बने वह सुखित बने,
पाप-भाववश देव श्वान हो पशुगति में आ, दुखित घने।
अतः धर्म के बिन जग जन को अन्य कौन फिर सम्पद है ?
धर्म-शरण हो मम जीवन हो अक्षय सुख का आस्पद है ॥२९॥

टीका— 'श्वापि' कुक्कुरोऽपि 'देवो' जायते। 'देवोऽपि' देवः 'श्वा' जायते। कस्मात् ?

'धर्मकिल्विषात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति। किल्विषात् पापोदयात्पुनर्देवोऽपि श्वा भवति यत एवं, ततः 'कापि' वाचामगोचरा। 'नाम' स्फुटं। 'अन्या' अपूर्वाऽद्वितीया। 'सम्पद्' विभूतिविशेषो। 'भवेत्'। कस्मात् ? धर्मात्। केषां ? 'शरीरिणां' संसारिणां। यत एवं, ततो धर्म एव प्रेक्षावतानुष्ठातव्यः ॥२९॥

अभी तक एक धर्म के ही विविध फलों को प्रकाशित किया, अब यहाँ धर्म और अधर्म दोनों का फल एक ही श्लोक में यथाक्रम दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म की महिमा से कुत्ता भी देव हो जाता है और मिथ्यादर्शनादि अधर्म की महिमा से देव भी कुत्ता हो जाता है। रत्नत्रय रूप धर्म के प्रभाव से प्राणियों को ऐसी सम्पत्ति की प्राप्ति होती है जो वचनों के द्वारा कही नहीं जा सकती तथा अप्राप्तपूर्व होती है।

विशेषार्थ–प्रथमानुयोग में कथा आती है कि जीवंधर स्वामी के मुख से पञ्चनमस्कार मन्त्र सुनकर कुत्ता सुदर्शन यक्ष बन गया। भगवान् पार्श्वनाथ के मुखारविन्द से पंच नमस्कार मन्त्र सुनकर नाग-नागिनी धरणेन्द्र-पद्मावती पद को प्राप्त हो गये और सेठ के मुख से नमस्कार मन्त्र सुनकर एक बैल भी देव पर्याय को प्राप्त हो गया। इस प्रकार धर्म की महिमा अनुपम है। यहाँ पंचनमस्कार मन्त्र की श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन रूप धर्म मानकर उसकी महिमा बतलाई गई है। करणानुयोग की अपेक्षा जिसके सम्यग्दर्शन होता है उसकी भवनत्रिक में उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार वर्तमान आयु के छह माह शेष रहने पर जब देवों की माला मुरझाती है तब मिथ्यादृष्टि देव आर्त्तध्यान के कारण तिर्यञ्च आयु का बन्ध कर आगामी पर्याय में तिर्यञ्च होते हैं। भवनत्रिक तथा दूसरे स्वर्ग तक के देव तो एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं और बारहवें स्वर्ग तक के पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च हो सकते हैं। इस प्रकार धर्म की महिमा जानकर उसे प्राप्त करना चाहिए और अधर्म की महिमा जानकर उसका त्याग करना चाहिए ॥२९॥

तथानुतिष्ठता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्त्तव्येत्याह–

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव, न कुर्य्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥

अन्वयार्थ–(शुद्धदृष्टयः) शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव **(भयाशा-स्नेह-लोभात्)** भय, आशा, प्रेम और लोभ से **(कुदेवागम-लिङ्गिनाम्)** कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की **(विनयम्)** विनय **(च)** और **(प्रणामम्)** प्रणाम को **(एव)** निश्चित ही **(न कुर्य्युः)** न करे।

आशा भय के स्नेह लोभ के वशीभूत सुख खोकर के,
कुगुरु-देव आगम ना पूजे नहीं विनय बुध हो करके।
चूंकि विमल समदर्शन से वह जिनका जीवन पोषित है,
इस विध गुरु कहते जिनके तन-मन यम दम से शोभित है ॥३०॥

टीका–'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वाः न कुर्युः। कं ? 'प्रणामं' उत्तमाङ्गेनोपनतिं। 'विनयं चैव' करमुकुलप्रशंसादिलक्षणं। केषां ? कुदेवागमलिङ्गिनां। कस्मादपि ? 'भयाशास्नेहलोभाच्च' भयं राजादिजनितं, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्राप्त्याकांक्षा, स्नेहश्च मित्रान् रागः, लोभश्च वर्तमान-कालेऽर्थप्राप्तिगृद्धिः, भयाशास्नेहलोभं तस्मादपि। चशब्दोऽप्यर्थः ॥३०॥

आगे, उस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले जीव को प्रारम्भ से ही उसमें मलिनता नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं–

टीकार्थ– राजा आदि से उत्पन्न हुए आतंक को भय कहते हैं, आगामी पदार्थ की इच्छा करना आशा है, मित्रों के अनुराग को स्नेह कहते हैं और वर्तमान काल में धन प्राप्ति की जो गृद्धता है उसे लोभ कहते हैं। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इन चारों कारणों से कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को न तो प्रणाम करे-मस्तक झुकाकर नमस्कार करे और न उनकी विनय करे-हाथ जोड़े तथा न प्रशंसा आदि के वचन कहे।

विशेषार्थ– कितने ही लोग अन्तरंग में कुदेवादिक की श्रद्धा न होने पर भी राजादिक के भय से अथवा नमस्कार के बिना ये अनिष्ट कर देंगे इस भय से आगामी काल में प्राप्त होने वाले धन की आशा से, मित्रादिक के अनुराग से और लोभ से कुदेवादिक को प्रणाम या उनकी विनय करने लगते हैं तथा इसे सम्यग्दर्शन का अतिचार जानकर संतोष कर लेते हैं कि हमने सम्यक्त्व को नष्ट तो नहीं किया है मात्र अतिचार लगाया है, ऐसे जीवों को समन्तभद्र स्वामी सचेत करते हुए कहते हैं कि जो अपने सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखना चाहते हैं–उन्हें भयादिक कारणों से भी कुदेवादिक को नमस्कार या उनकी विनय नहीं करना चाहिए, विपत्ति के समय दृढ़ता धारण करना ही सम्यग्दर्शन की विशेषता है। सम्यग्दृष्टि जीव कुदेवादिक के सम्पर्क से दूर होता है ॥३०॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात्कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपाभिधानं कृतमित्याह–

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३१॥

अन्वयार्थ–[यत्] जिस कारण **(ज्ञानचारित्रात्)** ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा से **(दर्शनम्)** सम्यग्दर्शन **(साधिमानम्)** श्रेष्ठता या उत्कृष्टता को **(उपाश्नुते)** प्राप्त होता है **[तत्]** उस कारण से **(दर्शनम्)** सम्यग्दर्शन को **(मोक्षमार्गे)** मोक्षमार्ग में **(कर्णधारम्)** खेवटिया **(प्रचक्षते)** कहते हैं।

ज्ञात रहे यह बात सभी को समदर्शन ही श्रेष्ठ रहा,
ज्ञान तथा चारित में समपन लाता फलतः जेष्ठ रहा।
मोक्षमार्ग में समदर्शन ही खेवटिया सम मौलिक है,
सन्त कह रहे, कर नहिं सकते जिसका वर्णन मौखिक है ॥३१॥

टीका–'दर्शनं' कर्तृ 'उपाश्नुते' प्राप्नोति। कं 'साधिमानं' साधुत्वमुत्कृष्टत्वं वा। कस्मात् ?

ज्ञानचारित्रात्। यतश्च साधिमानं तस्माद्दर्शनमुपाश्नुते। 'तत्' तस्मात् 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शनं कर्णधारं' प्रधानं प्रचक्षते। यथैव हि कर्णधारस्य नौखेवटकस्य कैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नावः प्रवृत्तिः तथा संसारसमुद्रपर्यंतगमने सम्यग्दर्शनकर्णधाराधीना मोक्षमार्गनावः प्रवृत्तिः ॥३१॥

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि मोक्षमार्ग तो रत्नत्रय रूप है फिर सबसे पहले सम्यग्दर्शन का ही स्वरूप क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर कहते हैं–

टीकार्थ–जिस प्रकार समुद्र के उस पार जाने में नाव की प्रवृत्ति, नाव चलाने वाले मल्लाह के अधीन होती है उसी प्रकार संसार-समुद्र के उस पार जाने में मोक्षमार्ग रूपी नाव की प्रवृत्ति सम्यग्दर्शन रूपी कर्णधार के अधीन है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा श्रेष्ठता या उत्कृष्टता को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–ज्ञान और चारित्र में जो श्रेष्ठता का व्यवहार होता है वह सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान और महाव्रत रूपी चारित्र सम्यग्व्यवहार को प्राप्त नहीं होते। इसलिए गणधरादिकदेव उसे मोक्षमार्गरूपी नाव के कर्णधार खेवटिया की उपमा देते हैं ॥३१॥

ननु चास्योत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्वं सिद्ध्यति तच्च कुतः सिद्धमित्याह–

विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

अन्वयार्थ–(बीजाभावे) बीज के अभाव में **(तरोः इव)** वृक्ष की तरह **(सम्यक्त्वे असति)** सम्यग्दर्शन के न होने पर **(विद्यावृत्तस्य)** ज्ञान और चारित्र की **(सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः)** उत्पत्ति, स्थिरता, वृद्धि और फल की प्राप्ति **(न सन्ति)** नहीं होती।

विद्या चारित के उद्‌भव औ रक्षण वर्धन सुफल महा,
समदर्शन बिन सम्भव नहिं हैं कुछ भी कर लो विफल अहा।
उचित बीज बिन भला बता तूँ फूल-फलों से लदा हुआ,
हरित भरित तरु कभी दिखा क्या समदर्शन बिन मुधा रहा ॥३२॥

टीका–'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते ? सम्भूतिस्थितिवृद्धि-फलोदयाः। कस्य ? विद्यावृत्तस्य। अयमर्थः-विद्याया मतिज्ञानादिरूपायाः वृत्तस्य च। सामायिकादिचारित्रस्य या सम्भूतिः प्रादुर्भावः, स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादिहेतुत्वेन चावस्थानं, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्षः फलोदयो देवादिपूजाया स्वर्गापवर्गादेश्च फलस्योत्पत्तिः। कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह-'बीजाभावे तरोरिव' बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरोस्ते न सन्ति तथा सम्यक्त्वस्यापि मूलकारण-भूतस्याभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति ॥३२॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता सिद्ध होने पर उसमें कर्णधारपना सिद्ध

होता है। परन्तु वह उत्कृष्टता किससे सिद्ध होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं–

टीकार्थ–विद्या का अर्थ मति आदि ज्ञान है तथा वृत्त का अर्थ सामायिक आदि चारित्र है। संभूति का अर्थ प्रादुर्भाव-प्रकट होना है, स्थिति का अर्थ पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा जानना तथा कर्मनिर्जरा का हेतु होकर रहना है, वृद्धि का अर्थ उत्पन्न होकर आगे-आगे बढ़ते जाना है और फलोदय का अर्थ देवादि की पूजा से स्वर्ग तथा मोक्षादि की प्राप्ति होना है। जिस प्रकार मूल कारण रूप बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार मूल कारणभूत सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र की न उत्पत्ति होती है, न स्थिति होती है, न वृद्धि होती है और न फल की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ–जिस प्रकार वृक्ष की उत्पत्ति आदि में बीज का सद्भाव आवश्यक है उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति आदि में सम्यग्दर्शन का सद्भाव आवश्यक है। इस तरह सम्यग्दर्शन स्वयं महिमाशाली होने से श्रेष्ठ है और श्रेष्ठता के कारण उसका कर्णधारपना स्वतः सिद्ध है। सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अंग और नौ पूर्वों का विशाल ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है तथा पाँच महाव्रतों का आचरण करना भी मिथ्या चारित्र कहलाता है। ऐसा मिथ्या ज्ञान और मिथ्याचारित्र इस जीव ने अनन्त बार प्राप्त किया है परन्तु उसके द्वारा मोक्षरूप फल को प्राप्त नहीं कर सका ॥३२॥

यतश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्नान्मुनेरुत्कृष्टतरस्ततोऽपि सम्यग्दर्शन-मेवोत्कृष्टमित्याह–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥

अन्वयार्थ–(निर्मोहः) मोह–मिथ्यात्व से रहित **(गृहस्थः)** गृहस्थ **(मोक्षमार्गस्थः)** मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु **(मोहवान्)** मोह–मिथ्यात्व से सहित **(अनगारः)** मुनि **(नैव)** मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है **(मोहिनः)** मोही मिथ्यादृष्टि **(मुनेः)** मुनि की अपेक्षा **(निर्मोहः)** मोहरहित–सम्यग्दृष्टि **(गृही)** गृहस्थ **(श्रेयान्)** श्रेष्ठ **[अस्ति]** है।

शिव-पथ का वह पथिक रहा है गृही बना यदि निर्मोही,
मोक्ष-मार्ग से बहुत दूर हैं मुनि होकर यदि मुनि मोही।
अतः मोह से मण्डित मुनि से मोह रहित 'वर' गृही रहा,
मात्र भेष नहिं गुण से शिव हो यही रहा श्रुत, सही रहा ॥३३॥

टीका–'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत इत्यर्थः इत्थंभूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति। 'अनगारो' यतिः। पुनः 'नैव' मोक्षमार्गस्थो भवति। किंविशिष्टः ? 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेतः। मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः। यत एवं ततो गृही गृहस्थो। यो निर्मोहः स 'श्रेयान्' उत्कृष्टः। कस्मात् ? मुनेः। कथंभूतात् ? 'मोहिनो' दर्शनमोहयुक्तात् ॥३३॥

आगे, जिस कारण सम्यग्दर्शन से सम्पन्न गृहस्थ भी सम्यग्दर्शन से रहित मुनि की अपेक्षा उत्कृष्ट है उस कारण से भी सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट है यह कहते हैं–

टीकार्थ–जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन को घातने वाले मोहनीय कर्म से रहित होने के कारण सम्यग्दर्शन रूप परिणत है वह तो मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु जो दर्शनमोह से सहित होने के कारण मिथ्यात्वरूप परिणत हो रहा है ऐसा मुनि भी मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। इस तरह मोह से रहित गृहस्थ भी मोह से युक्त मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

विशेषार्थ–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन को घातने वाली हैं। जब तक इनका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय नहीं हो जाता तब तक सम्यग्दर्शन गुण प्रकट नहीं हो सकता। ऐसा एक गृहस्थ है जिसके उपर्युक्त सातों प्रकृतियों के उपशमादि से सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है और इससे विपरीत एक ऐसा मुनि है जिसके उपर्युक्त सात प्रकृतियों का उपशमादि नहीं हुआ है अर्थात् उदय चल रहा है परन्तु इनका और साथ में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन नामक चारित्रमोह की प्रकृतियों का मन्दतर उदय होने से जिसने महाव्रत धारण कर लिये हैं तथा चरणानुयोग में बताये हुए मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों का जो निर्दोष पालन करता है। करणानुयोग की पद्धति से जब इन दोनों में तुलना की जाती है तो ऊपर कहे हुए मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ मालूम होता है। उसके ४१ प्रकृतियों का संवर हो गया है। पर मुनि के बन्ध योग्य सभी प्रकृतियों का बन्ध जारी रहता है। गृहस्थ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहा जाता है और उपर्युक्त मुनि प्रथम गुणस्थान में ही पड़ा रहता है। गृहस्थ गुणश्रेणी निर्जरा का पात्र हो जाता है पर उस मुनि के ऐसी निर्जरा का अंश भी नहीं होता। गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित कहा जाता है और मुनि संसार मार्ग में स्थित ॥३३॥

यत एवं ततः –

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्-त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(तनूभृताम्) प्राणियों के **(त्रैकाल्ये)** तीनों कालों में और **(त्रिजगत्यपि)** तीनों लोकों में भी **(सम्यक्त्वसमम्)** सम्यग्दर्शन के समान **(श्रेयः)** कल्याणरूप **(च)** और **(मिथ्यात्वसमम्)** मिथ्यादर्शन के समान **(अश्रेयः)** अकल्याणरूप **(अन्यत्)** अन्य **(किंचित्)** कुछ भी **(न)** नहीं है।

तीन लोक में तीन काल में तनधारी को सुखकारी,
अन्य कौन यह द्रव्य रहा है समदर्शन बिन दुखहारी।
इसी भाँति मिथ्यादर्शन सम और नहीं दुखकारक है,
हित चाहो हित कारण धारो गुरु गाते गुण-धारक है ॥३४॥

टीका—'तनूभृतां' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसमं सम्यक्त्वेन समं तुल्यं। 'श्रेयाः' श्रेष्ठमुत्तमोपकारकं। 'किञ्चित्' [१]अन्यवस्तुनास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति? 'त्रैकाल्ये' अतीतानागतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन् क्व तन्नास्ति ? त्रिजगत्यपि आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपितु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि। तथा 'अश्रेयो' अनुपकारकं। मिथ्यात्वसमं किञ्चिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसंयमसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तद्विपरीतादपकृष्टतां व्रजतीति ॥३४॥

आगे सम्यक्त्व के समान कल्याण और मिथ्यात्व के समान अकल्याण करने वाली दूसरी वस्तु नहीं है। यह कहते हैं–

टीकार्थ—भूत, भविष्यत् और वर्तमान के भेद से तीनों कालों में तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों का कल्याण करने वाली दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि उसके रहते हुए गृहस्थ भी मुनि से भी अधिक उत्कृष्टता को प्राप्त होता है तथा मिथ्यात्व के समान दूसरी वस्तु अकल्याण करने वाली नहीं है क्योंकि उसके सद्भाव में व्रत और संयम से सम्पन्न मुनि भी गृहस्थ की अपेक्षा भी अपकृष्टता-हीनता को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—संसार में सम्यग्दर्शन से बढ़कर जीवों का मित्र नहीं है और मिथ्यात्व से बढ़कर शत्रु नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर अनन्त संसार सान्त हो जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हो जाता है वह अर्द्धपुद्गल परिवर्तन से अधिक काल तक संसार में नहीं रहता। सम्यग्दर्शन के अस्तित्वकाल में नारकी जीव के भी जो आत्मीय आनन्द होता है वह मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्र को भी दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन के होने पर व्रतरहित गृहस्थ भी मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया है ॥३४॥

इतोऽपि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याह–

[आर्यागीतिछन्दः]

सम्यग्दर्शनशुद्धा, नारक - तिर्यङ् - नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(सम्यग्दर्शनशुद्धाः) सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव **(अव्रतिकाः अपि)** व्रत रहित होने पर भी **(नारक-तिर्यङ्-नपुंसकस्त्रीत्वानि)** नारक, तिर्यञ्च नपुंसक और स्त्रीपने को **(च)** और **(दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रताम्)** नीचकुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रता को **(न व्रजन्ति)** प्राप्त नहीं होते।

विरत भाव से विरत यदपि हैं जिनका जीवन अविरत है,
किन्तु विमलतम समदर्शन के आराधन में नित रत हैं।
प्रथम नरक बिन नहीं नपुंसक परभव में पशु स्त्री ना हों,
अल्प आयुषी अपांग ना हो दरिद्र ना दुष्कुलिना हो ॥३५॥

१. अन्यद्वस्तु घ.।

टीका—'सम्यग्दर्शनशुद्धा' सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते। सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये 'न व्रजन्ति' न प्राप्नुवन्ति। कानि ? नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। त्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्वं तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वं स्त्रीत्वमिति। न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु 'दुष्कुलविकृताल्पायु-र्दरिद्रतां च' अत्रापि ताशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ये निर्मलसम्यक्त्वाः ते न भवान्तरे दुष्कुलतां दुष्कुले उत्पत्तिं विकृततां काणकुंठादिरूपविकारं अल्पायुष्कतामन्तर्मुहूर्ताद्यायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिं। कथंभूता अपि एतत्सर्वं व्रजन्ति ? 'अव्रतिका अपि' अणुव्रतरहिता अपि ॥३५॥

आगे कुछ और भी कारण बतलाते हैं—जिनसे सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्ट है—

टीकार्थ—'सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते सम्यग्दर्शनशुद्धाः[१] इस समास के अनुसार जिनका सम्यग्दर्शन शुद्ध-निर्मल निरतिचार है ऐसे जीव बद्धायुष्कों को छोड़कर नारकत्व, तिर्यक्त्व, नपुंसकत्व और स्त्रीत्व को प्राप्त नहीं होते। इतना ही नहीं नीचकुलता, विकृतता-विकलांगता, अल्पायुष्कता और दरिद्रता को भी प्राप्त नहीं होते। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जीवों के भी जब इतनी महिमा है तब व्रत सहित जीवों की महिमा का तो कहना ही क्या है?

विशेषतार्थ—ऐसा नियम है कि आयुकर्म का बन्ध हो जाने पर वह छूटता नहीं है। इसलिए जिस जीव को क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के पहले नरकायु का बन्ध हो चुका है उसे नरक अवश्य जाना पड़ता है परन्तु वह पहले नरक से नीचे नहीं जाता। नरक में नपुंसकवेद के अतिरिक्त दूसरा वेद होता नहीं है, इसलिए प्रथम नरक तक उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीव को नपुंसक वेद में भी उत्पन्न होना पड़ता है। जिस जीव को सम्यग्दर्शन होने के पूर्व तिर्यञ्च अथवा मनुष्यायु का बन्ध हो चुका है उसे तिर्यञ्च और मनुष्यों में अवश्य ही उत्पन्न होना पड़ता है परन्तु वह नियम से भोगभूमि का ही तिर्यञ्च और मनुष्य होता है, कर्मभूमि का नहीं और भोगभूमि के बाद नियम से देव होता है। इसी प्रकार जिस जीव के सम्यग्दर्शन होने के पहले देवायु का बन्ध हो गया है वह देवों में उत्पन्न होता है, परन्तु वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होता है, भवनत्रिकों में नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री पर्याय में उत्पन्न नहीं होता। यदि उसे सम्यग्दर्शन के पूर्व स्त्री वेद का बन्ध पड़ गया है तो वह पुरुष वेद के रूप में परिवर्तित हो जाता है। तिर्यञ्चों और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीवों में पूर्व बद्ध नपुंसक वेद भी पुरुषवेद

---

१. इस विग्रह में सप्तमीविशेषणे बहुव्रीह्यौ इस नियमानुसार विशेषणवाचक शुद्धशब्द का पूर्वप्रयोग होने से 'शुद्धसम्यग्दर्शनाः' ऐसा रूप होगा। अतः सम्यग्दर्शनेन शुद्धाः सम्यग्दर्शनशुद्धाः इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास करना उचित प्रतीत होता है।

चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं॥३३४॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मनुष्य और तिर्यञ्च के सम्यग्दर्शन के काल में यदि आयु का बन्ध होता है तो नियम से वैमानिक देवों की आयु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देवों के सम्यग्दर्शन के काल में यदि आयु बन्ध होता है तो नियम से कर्मभूमि के मनुष्य की ही आयु का बन्ध होता है, अन्य आयु का नहीं। गुणस्थानों के अनुसार नरकायु का बन्ध पहले गुणस्थान तक, तिर्यञ्च आयु का दूसरे गुणस्थान तक, मनुष्यायु का चौथे गुणस्थान तक और देवायु का सातवें गुणस्थान तक ही बन्ध होता है। तीसरे गुणस्थान में किसी आयु का बन्ध नहीं होता और चौथे गुणस्थान तक जो मनुष्यायु का बन्ध बताया है वह देव और नारकियों की अपेक्षा से होता है क्योंकि तिर्यञ्च और मनुष्य के मनुष्यायु का बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। सम्यग्दृष्टि जीव नीच कुल, विकलांगता, अन्तर्मुहूर्त आदि की क्षुद्र आयु तथा दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता। यह अव्रत सम्यग्दृष्टि की महिमा है। व्रतसहित सम्यग्दृष्टि जीव नियम से ऋद्धिधारी वैमानिक देव ही होता है। आगम का ऐसा नियम है कि जिस जीव के देवायु को छोड़कर अन्य आयु का बन्ध हो गया है उसे उस पर्याय में न अणुव्रत प्राप्त होते हैं और न महाव्रत। तथा अणुव्रत और महाव्रत काल में यदि आयु का बन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है। परन्तु सम्यग्दर्शन के लिये ऐसा नियम नहीं है क्योंकि उसकी प्राप्ति चारों आयु का बन्ध होने पर भी हो सकती है ॥३५॥

यद्येतत्सर्वं न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याह–

ओजस्तेजो - विद्यावीर्ययशोवृद्धि - विजयविभवसनाथाः।
माहाकुला महार्था, मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

अन्वयार्थ–(दर्शनपूताः) सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव **(ओजस्तेजो-विद्या-वीर्य-यशोवृद्धि-विजयविभवसनाथाः)** उत्साह, प्रताप–कान्ति, विद्या–सहजता से सभी कलाओं को ग्रहण करने वाली बुद्धि, विशिष्टबल, विशिष्टख्याति, स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि की प्राप्तिरूप वृद्धि, विजय–दूसरे के परास्त या तिरस्कार से अपने गुणों का उत्कर्ष और विभव–धन-धान्य द्रव्य आदि की प्राप्तिरूप सम्पत्ति इन सबसे सहित **(माहाकुलाः)** उच्च कुलों में उत्पन्न **(महार्थाः)** धर्म, अर्थ, काम व मोक्षरूप चारों महान् पुरुषार्थों को करने वाले **(च)** और **(मानवतिलकाः)** मनुष्यों में प्रधान **(भवन्ति)** होते हैं।

बने यशस्वी बने मनस्वी ओज तेज से सहित बने,
नीर निधी सम धीर धनी भी शत्रु-विजेता मुदित घने।
महाकुली हो शिवपथ साधक मनुज लोक के तिलक बने,
समदर्शन से विमल लसे हैं शीघ्र निरंजन अलख बने ॥३६॥

टीका–'दर्शनपूता' दर्शनेन पूताः पवित्रिताः। दर्शनं वा पूतं पवित्रं येषां ते। 'भवन्ति'। 'मानवतिलकाः' मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्डनीभूता मनुष्यप्रधाना इत्यर्थः। पुनरपि कथंभूता

इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साहः तेजः प्रतापः कान्तिर्वा, विद्या सहजा अहार्या च बुद्धिः, वीर्यं विशिष्टं सामर्थ्यं, यशो विशिष्टा ख्यातिः वृद्धिः कलत्रपुत्रपौत्रादिसम्पत्तिः, विजयः पराभिभवेनात्मनो गुणोत्कर्षः, विभवो धनधान्यद्रव्यादिसम्पत्तिः, एतैः सनाथा सहिताः। तथा 'माहाकुला' महच्च तत् कुलं च माहाकुलं तत्र भवाः। 'महार्था' महान्तोऽर्था धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम् ॥३६॥

आगे यदि सम्यग्दृष्टि नारकी आदि अवस्था को प्राप्त नहीं होते तो कैसे होते हैं ? यह कहते हैं–

टीकार्थ–'**दर्शनेन पूताः पवित्रिताः अथवा दर्शनं पूतं येषां ते**[1], इस समास के अनुसार जो सम्यग्दर्शन से पवित्र हैं अथवा जिनका सम्यग्दर्शन पवित्र है ऐसे जीव दर्शन-पूत कहलाते हैं। ओज का अर्थ उत्साह है। तेज का अर्थ प्रताप अथवा कान्ति है। स्वाभाविक अथवा जिसका हरण न किया जा सके ऐसी बुद्धि को विद्या कहते हैं। वीर्य विशिष्ट सामर्थ्य को कहते हैं; विशिष्ट प्रकार की ख्याति को यश कहते हैं। स्त्री, पुत्र और पौत्र आदि की प्राप्ति को वृद्धि कहते हैं। दूसरे के तिरस्कार से अपने गुणों का उत्कर्ष करना विजय है। धन-धान्यादिक पदार्थों की प्राप्ति होना विभव है। उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले महाकुल और धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ से सहित महार्थ कहलाते हैं। तथा श्रेष्ठ मनुष्यों में जो उत्पन्न होते हैं वे मानवतिलक कहलाते हैं। पवित्र सम्यग्दृष्टि जीव ओज आदि से सहित, उच्च कुलोत्पन्न, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधक तथा मनुष्यों में आभूषण स्वरूप होते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नरक या स्वर्ग से आकर जब मनुष्य होते हैं, तब वे ओज, तेज, विद्या, यश, वृद्धि, विजय और विभव से सहित, उच्चकुलीन, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधक श्रेष्ठ मनुष्य ही होते हैं, नीचकुलीन आदि नहीं ॥३६॥

तथा इन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह–

अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥३७॥

अन्वयार्थ—**(दृष्टिविशिष्टाः)** सम्यग्दर्शन से सहित **(जिनेन्द्रभक्ताः)** भगवान् जिनेन्द्र के भक्त पुरुष **(स्वर्गे)** स्वर्ग में **(अमराप्सरसाम्)** देवों और अप्सराओं की **(परिषदि)** सभा में **(अष्टगुणपुष्टितुष्टाः)** अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामरूपित्व इन आठ गुणों की परिपूर्णता से संतुष्ट/प्रसन्न और **(प्रकृष्टशोभाजुष्टाः)** अन्य देवों की अपेक्षा विशेष शोभा/सुन्दरता से सहित होते हुए **(चिरम्)** बहुत काल तक **(रमन्ते)** रमण करते हैं अर्थात् इन्द्र होते हैं।

---

१. दर्शनं पूतं येषां ते इस विग्रह में विशेषण वाचक पूत शब्द का पूर्वप्रयोग होने से 'पूतदर्शनाः' ऐसा पाठ सिद्ध होगा। अतः प्रथम विग्रह ही ठीक है।

अणिमा महिमा गरिमादिक वसु गुण पूरण पा तुष्ट रहें,
अतिशय सुन्दर शोभा से बस विलसित हो संपुष्ट रहें।
सुर बनकर सुर-वनिताओं से सुचिर स्वर्ग में रमण करें,
दृग धारक जिन के आराधक फिर शिवपुर को गमन करें ॥३७॥

टीका—ये 'दृष्टिविशिष्टाः' सम्यग्दर्शनोपेताः। 'जिनेन्द्रभक्ताः' प्राणिनस्ते 'स्वर्गे'। 'अमराप्सरसां परिषदि'-देवदेवीनां सभायां। 'चिरं बहुतरं कालं। 'रमन्ते क्रीडन्ति। कथंभूताः ? 'अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं ईशित्वं वशित्वं कामरूपित्वमित्येतल्लक्षणास्ते च पुष्टिः स्वशरीरावयवानां सर्वदोपचितत्वं तेषां वा पुष्टिः परिपूर्णत्वं तया तुष्टाः सर्वदा प्रमुदिताः। तथा 'प्रकृष्टशोभाजुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविताः इन्द्राः सन्त इत्यर्थः ॥३७॥

आगे इन्द्रपद भी सम्यग्दृष्टि जीव ही प्राप्त करते हैं, यह कहते हैं—

टीकार्थ—जिनेन्द्रदेव के भक्त शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ इन्द्र बनकर देव-देवाङ्गनाओं की सभा में चिरकाल तक सागरों पर्यन्त क्रीड़ा करते रहते हैं। वहाँ वे अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व इन आठ गुणों से तथा अपने शरीर सम्बन्धी अवयवों की पुष्टि से अथवा अणिमा, महिमा आदि गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट रहते हैं और दूसरे देवों में न पाई जाने वाली असाधारण शोभा से सहित होते हैं।

विशेषार्थ— जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य दिगम्बरी दीक्षा को धारण कर तपश्चरण करते हैं वे उसी पर्याय से मोक्ष प्राप्त करने की अनुकूलता न होने पर स्वर्ग जाते हैं तथा इन्द्र होकर देव-देवियों की सभा में सागरों पर्यन्त क्रीड़ा करते रहते हैं। वे अणिमा आदि आठ गुणों से सहित होते हैं और प्रकृष्ट-असाधारण शोभा से सहित होते हैं। अन्य ग्रन्थों में '**अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥** इस तरह आठ सिद्धियों में गरिमा को सम्मिलित किया गया है। पर यहाँ संस्कृत टीकाकार ने गरिमा के स्थान में कामरूपित्व को लिया है ॥३७॥

तथा चक्रवर्तित्वमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवन्ति, स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अन्वयार्थ—(स्पष्टदृशः) निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव **(नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः) नव निधियाँ**—(काल, महाकाल, नैसर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिंग, शंख और सर्वरत्न इन नौ निधियों तथा) **चौदह रत्नों**—(**अजीव रत्न**—चक्र , छत्र, दण्ड, तलवार, मणि, चर्म, काकिड़ी व **सजीव रत्न**—सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट (शिल्पकार) और पुरोहित इन चौदह रत्नों के स्वामी) तथा **(क्षत्रमौलिशेखरचरणाः)** क्षत्रिय राजाओं के मुकुटों सम्बन्धी कलगियों पर जिनके

चरण हैं ऐसे (अर्थात् मुकुटबद्ध क्षत्रिय राजाओं से सेवित चरण वाले) **(सर्वभूमिपतयः)** समस्त छहखण्डों के स्वामी होते हुए **(चक्र म्)** चक्र रत्न को **(वर्तयितुम्)** चलाने के लिए **(प्रभवन्ति)** समर्थ होते हैं अर्थात् चक्रवर्ती होते हैं।

चक्री बनकर चक्र चलाते छह खण्डों के अधिपति हैं,
जिनके पद में मुकुट चढ़ाते सादर आ धरणीपति हैं।
नव निधियाँ शुभ चौदह मणियाँ सभी उन्हीं को प्राप्त रहें,
जो हैं शुचितम दर्शनधारी इस विध हमको आप्त कहें ॥३८॥

टीका—ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वाः। त एव 'चक्रं' चक्ररत्नं। 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्य-निखिलकार्येषु प्रवर्तयितुं। 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति। कथंभूताः ? सर्वभूमिपतयः सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्डपृथ्वी तस्याः पतयः चक्रवर्तिनः। पुनरपि कथंभूताः ? 'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्तानां द्वयं तेन संख्यातानि रत्नानि चतुर्दश तेषामधीशाः स्वामिनः। क्षत्रमौलिशेखरचरणाः क्षताद्दोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषां [1]मौलयो मुकुटानि तेषु शेखरा आपीठास्तेषु चरणानि येषां ॥३८॥

आगे चक्रवर्ती पद भी सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करते हैं ऐसा कहते हैं –

टीकार्थ— निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक जीव ही चक्ररत्न को चलाने में समर्थ होते हैं अर्थात् अपने अधीन होने से उसे उसके द्वारा साध्य समस्त कार्यों में प्रवर्ताने के लिये समर्थ होते हैं। वे षट्खण्ड वसुधा के स्वामी होते हैं। नौ निधियों और चौदह रत्नों के अधीश होते हैं तथा राजाओं के मुकुटों सम्बन्धी कलगियों पर उनके चरण रहते हैं अर्थात् राजा लोग मस्तक झुकाकर उनके चरणों में नमस्कार करते हैं।

विशेषार्थ—मनुष्यों में चक्रवर्ती का पद उत्कृष्ट पद कहलाता है और उसकी प्राप्ति भी सम्यग्दृष्टि जीव को ही होती है। चक्रवर्ती १. काल, २. महाकाल, ३. नैःसर्प्य, ४. पाण्डुक, ५. पद्म, ६.माणव, ७. पिङ्ग, ८. शङ्ख और ९. सर्वरत्न इन नौ निधियों[2]। तथा १. चक्र, २. छत्र, ३. दण्ड, ४. असि, ५. मणि, ६. चर्म, ७. काकिणी, ८. सेनापति, ९. गृहपति, १०. हाथी, ११. घोड़ा, १२. स्त्री, १३. सिलावट और १४ पुरोहित इन चौदह रत्नों[3] का स्वामी होता है। छह खण्ड पृथिवी का पति होता

---

१. मौलयो मस्तकानि तेषु शेखराणि मुकुटानि तानि चरणेषु येषां घ.।

२. कालाख्यश्च महाकालो नैःसर्प्यः पाण्डुकाह्वया।
पद्ममाणवपिङ्गाब्जसर्वरत्नपदादिकाः॥३७/७३। आदिपुराण।

३. चक्रातपत्रदण्डासिमणयश्चर्म काकिणी।
चमूगृहपतीभाश्वयोषित्तक्षपुरोधसः॥३७/८४॥ आदिपुराण

है और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उसके चरणों में मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। ये चक्रवर्ती भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के युग में बारह बारह होते हैं। इनके सिवाय पञ्चमेरु सम्बन्धी १६० विदेह क्षेत्रों में भी यथावसर होते हैं ॥३८॥

तथा धर्मचक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद् भवन्तीत्याह–

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था, वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

अन्वयार्थ–(दृष्ट्या) सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से **(सुनिश्चितार्थाः)** जिन्होंने पदार्थ का अच्छी तरह निश्चय किया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव **(अमरा-सुरनरपतिभिः)** देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों व नरेन्द्रों से **(च)** और **(यमधरपतिभिः)** मुनियों के स्वामी गणधरों के द्वारा **(नूतपादाम्भोजाः)** स्तुत चरणकमल वाले **(लोकशरण्याः)** तीनों लोकों के शरणभूत ऐसे **(वृषचक्रधराः)** धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर **(भवन्ति)** होते हैं।

सुरपति, नरपति, असुराधिप भी जिन चरणों में माथ धरें,
गणधर आदिक पूज्य साधु तक जिन्हें सदा प्रणिपात करें।
सत्य-दृष्टि से तत्त्व बोध को पाये जग में शरण रहें,
धर्म-चक्र के चालक वे ही तीर्थंकर सुख झरण रहें ॥३९॥

टीका–'दृष्टया' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन।'वृषचक्रधरा भवन्ति' वृषो धर्मः तस्य चक्रं वृषचक्रं तद्धरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तीर्थंकराः। किंविशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजाः' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषां। कैः ? 'अमरासुरनरपतिभिः' अमरपतयः ऊर्ध्वलोकस्वामिनः सौधर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोक-स्वामिनो धरणेन्द्रादयः, नरपतयः तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिनः। न केवलमेतैरेव नूतपादाम्भोजाः, किन्तु 'यमधरपतिभिश्च' यमं व्रतं धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषां पतयो गणधरास्तैश्च। पुनरपि कथंभूतास्ते? सुनिश्चितार्था शोभनो निश्चितः परिसमाप्तिं गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषां। तथा 'लोकशरण्याः' अनेकविधदुःखदायिभिः कर्मारातिभिरुपद्रुतानां लोकानां शरणे साधवः ॥३९॥

आगे धर्मचक्र के प्रवर्तक तीर्थंकर भी सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से होते हैं, यही कहते हैं–

टीकार्थ– सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह जीव धर्मचक्र को प्रवर्ताने वाले तीर्थंकर होते हैं। ऊर्ध्वलोक के स्वामी सौधर्मेन्द्र आदि अमरपति, अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र आदि असुरपति, तिर्यग्लोक के स्वामी चक्रवर्ती तथा यमधर-मुनियों के स्वामी गणधर देव उन तीर्थंकरों के चरण कमलों की स्तुति किया करते हैं। वे धर्म आदि पदार्थों का अच्छी तरह निश्चय कर चुके होते हैं और अनेक प्रकार के दुःख देने वाले कर्मरूपी शत्रुओं के द्वारा उपद्रुत-पीड़ित जीवों को शरण देने में निपुण होते हैं।

विशेषार्थ—जो तीर्थ-धर्म की परम्परा को चलाते हैं उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। ये तीर्थंकर भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खण्ड में प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के युग में चौबीस-चौबीस होते हैं। इसी प्रकार १६० विदेह क्षेत्रों में भी हैं। अधिक से अधिक सब मिलाकर एक साथ एक सौ सत्तर तक हो सकते हैं। तीर्थंकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति के उदय से इनके आठ प्रातिहार्यों से युक्त समवसरण की रचना होती है। उस समवसरण में स्थित होकर दिव्यध्वनि के द्वारा ये धर्म की आम्नाय चलाते हैं। तीर्थंकर भगवान् के देवकृत अतिशय के रूप में एक धर्मचक्र प्रकट होता है जो कि विहारकाल में उनके आगे-आगे चलता है। इस तीर्थंकर पद की प्राप्ति जिन सोलह कारण भावनाओं से होती है उनमें दर्शनविशुद्धि नाम की पहली भावना सबसे प्रमुख है। अष्ट अंग रूप सम्यग्दर्शन को धारण करना दर्शनविशुद्धि भावना कहलाती है। प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन चारों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में केवली तथा श्रुतकेवली का सन्निधान होने पर चतुर्थगुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक के कर्मभूमिज मनुष्य के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। यह उत्कृष्ट पद सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ही प्राप्त होता है ॥३९॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह–

शिव-मजर - मरुज-मक्षय - मव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

अन्वयार्थ—(दर्शनशरणाः) जैनदर्शन की शरण/आश्रय को प्राप्त सम्यग्दृष्टि जीव **(अजरम्)** बुढ़ापा रहित **(अरुजम्)** रोगरहित **(अक्षयम्)** क्षयरहित **(अव्याबाधम्)** बाधारहित **(विशोक-भयशङ्कम्)** शोक, भय तथा शंका-रहित **(काष्ठागतसुखविद्याविभवम्)** पराकाष्ठा/अंतिम सीमा को प्राप्त अनन्तसुख और अनन्तज्ञानरूप वैभव वाले **(विमलम्)** द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित निर्मल **(शिवम्)** मोक्ष को **(भजन्ति)** प्राप्त होते हैं।

रोग नहीं हैं शोक नहीं है जहाँ जरा नहिं मरण नहीं,
बाधा की भी गन्ध नहीं है शंका का अनुसरण नहीं
पूरण विद्या सुख शुचि सम्पद अनुपम अक्षय शिवपद है,
समदर्शन के धारक ही वे पा लेते अभिनव पद हैं ॥४०॥

टीका—'दर्शनशरणाः' दर्शनं शरणं'[१] संसारापायपरिरक्षकं येषां, दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते। 'शिवं' मोक्षं। भजन्त्यनुभवन्ति। कथंभूतं ? 'अजरं' न विद्यते जरा वृद्धत्वं यत्र। 'अरुजं न विद्यते रुग्व्याधिर्यत्र। 'अक्षयं न विद्यतेलब्धानन्तचतुष्टयक्षयो[२] यत्र। 'अव्याबाधं न विद्यते दुःखकारणेन केनचिद्विविधा विशेषेण वा आबाधा यत्र। 'विशोकभयशङ्कं' विगता शोकभयशङ्का यत्र। 'काष्ठागत-

१. शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां, दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते शिवं घ.। २.चतुष्टयस्वरूपस्य घ.।

सुखविद्याविभवं' काष्ठां परमप्रकर्ष गतः प्राप्तः सुखविद्ययोर्विभवो विभूतिर्यत्र। 'विमलं विगतं मलं द्रव्यभावरूपकर्म[1] यत्र ॥४०॥

आगे मोक्ष की प्राप्ति भी सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीवों को ही होती है, यह कहते हैं–

टीकार्थ– 'दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां ते'– सम्यग्दर्शन ही जिनके शरण - संसार सम्बन्धी दुःखों से रक्षा करने वाला है। अथवा **दर्शनस्य शरणं रक्षणं यत्र ते**–जिनमें सम्यग्दर्शन की शरण–रक्षा होती है। वे दर्शनशरण कहलाते हैं ऐसे दर्शनशरण सम्यग्दृष्टि जीव ही उस शिव–मोक्ष का अनुभव करते हैं। जो अजर है वृद्धावस्था से रहित है, अरुज है–रोग से रहित है, अक्षय है–प्राप्त हुए अनन्त चतुष्टय के क्षय से रहित है, अव्याबाध है–विशिष्ट अथवा विविध प्रकार की आबाधाओं से रहित है, विशोकभयशंक है–शोक, भय तथा शंका से रहित है, काष्ठागत सुख विद्या विभव है– परमप्रकर्ष को प्राप्त हुए सुख और ज्ञान के विभव से सहित है तथा विमल है–कर्मरूपी मल से रहित है।

विशेषार्थ– समस्त कर्म कालिमा से रहित जीव की जो शुद्ध परिणति है उसे मोक्ष कहते हैं। इस मोक्ष में द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप पर–पदार्थ का सम्बन्ध सदा के लिए छूट जाता है इसलिए उसके निमित्त से होने वाले बुढ़ापा, रोग, विविध बाधाएँ, शोक, भय, शंका आदि दुर्गुण स्वयं दूर हो जाते हैं। ज्ञान और सुख अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रकट हो जाते हैं। यह मोक्ष अविनाशी है– प्राप्त होकर फिर नष्ट नहीं होता। इस प्रकार के मोक्ष की प्राप्ति भी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सहचरित सम्यग्दर्शन से ही होती है ॥४०॥

यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह–

[वसन्ततिलका छन्द]

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्,
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं,
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

अन्वयार्थ–(जिनभक्तिः) जिनेन्द्रदेव की भक्ति से सहित **(भव्यः)** सम्यग्दृष्टि पुरुष **(अमेय-मानम्)** अपरिमित पूजा अथवा ज्ञान को **(देवेन्द्रचक्र -महिमानम्)** इन्द्रसमूह की महिमा को **(अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्)** राजाओं के मस्तक से पूजनीय **(राजेन्द्रचक्रम्)** चक्रवर्ती के चक्र रत्न को **(च)** और **(अधरीकृत–सर्वलोकम्)** समस्त लोक को नीचा करने वाले **(धर्मेन्द्र–चक्रम्)** तीर्थंकर के

१. द्रव्यभावस्वरूपं कर्म घ.।

धर्मचक्र को **(लब्ध्वा)** प्राप्तकर **(शिवम्)** मोक्ष को **(उपैति)** प्राप्त होता है।

यों सुरपुर में अमित सम्पदा-युत सुरपति पद भोग वहाँ,
पुनः धरापतियों से पूजित नरपति पद का योग यहाँ।
तीन लोक में अनुपम अद्भुत तीर्थंकर पद पाकर के,
प्रभु-पद-पंकज-पूजक भविजन शिव हो निज घर जाकर के ॥४१॥

टीका—'शिवं' मोक्षं। 'उपैति' प्राप्नोति। कोऽसौ ? 'भव्यः' सम्यग्दृष्टिः। कथंभूतः ? 'जिनभक्तिः' जिने भक्तिर्यस्य। किं कृत्वा ? 'लब्ध्वा'। कं ? 'देवेन्द्रचक्रमहिमानं' देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्रं संघातस्तत्र तस्य वा महिमानं विभूतिमाहात्म्यं। कथंभूतं ? 'अमेयमानं' अमेयोऽपर्यन्तं मानं पूजा ज्ञानं वा यस्य, तममेयमानं। तथा 'राजेन्द्रचक्रं लब्ध्वा राज्ञामिन्द्राश्चक्रवर्तिनस्तेषां चक्रं चक्ररत्नं। किं विशिष्टं ? 'अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं' अवन्यां निजनिजपृथिव्यां इन्द्रा मुकुटबद्धा राजानस्तेषां शिरोभिरर्चनीयं। तथा 'धर्मेन्द्रचक्रं लब्ध्वा धर्मस्तस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातारः प्रणेतारो वा तीर्थङ्करादयस्तेषां चक्रं संघातं धर्मेन्द्राणां वा तीर्थकृतां सूचकं चक्रं धर्मचक्रं। कथंभूतं ? 'अधरीकृत सर्वलोकं' अधरीकृतो भृत्यतां नीतः सर्वलोकस्त्रिभुवनं येन तत्। एतत्सर्वं[१] लब्ध्वा पश्चाच्छिवं चोपैति भव्य इति ॥४१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

पूर्व में पृथक्-पृथक् श्लोकों के द्वारा सम्यग्दर्शन का जो फल कहा है उसे अब दर्शनाधिकार की समाप्ति के समय संग्रह रूप से उपसंहार करते हुए कहते हैं—

टीकार्थ— जिनेन्द्र भगवान् में सातिशय अनुराग को रखने वाला भव्य-सम्यग्दृष्टि जीव, स्वर्ग के इन्द्र समूह की उस महिमा को प्राप्त होता है जिसका मान-प्रभाव अथवा ज्ञान अपरिमित होता है। राजेन्द्रचक्र-चक्रवर्ती के उस सुदर्शन नामक चक्ररत्न को प्राप्त होता है जो कि अपनी-अपनी पृथिवी के अधिपति मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा पूजनीय होता है तथा धर्मेन्द्र चक्र-उत्तम क्षमादि अथवा चारित्र रूप लक्षण से युक्त धर्म के इन्द्र-अनुष्ठाता या प्रणेता तीर्थंकरादिक के समूह को अथवा तीर्थंकरों के सूचक उस धर्म चक्र को प्राप्त होता है जो कि अपनी महिमा से समस्त लोक-त्रिभुवन को अपना सेवक बना लेता है। अन्त में इन सबको प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को प्राप्त करने की योग्यता रखता है वह भव्य कहलाता है। यह भव्य, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के भेद से यद्यपि दो प्रकार का होता है तथापि यहाँ 'जिनभक्ति' विशेषण दिया गया है उससे सम्यग्दृष्टि भव्य का ही ग्रहण होता है। सम्यग्दृष्टि भव्य तपश्चरण कर स्वर्ग का इन्द्र होता है उस इन्द्र अवस्था में इसकी अभूत पूर्व महिमा होती है तथा ज्ञान

---

१. तत्सर्वं लब्ध्वा पश्चाच्च शिवमुपैति भव्य इति घ.।

भी इसे द्वादशांग का होता है। वहाँ से आकर यह चक्रवर्ती होता है। चक्रवर्ती का चक्ररत्न अपनी षट्खण्ड वसुधा में बिना किसी रुकावट के चलता है और बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा उसे नमस्कार करते हैं। चक्रवर्ती तपश्चरण कर फिर स्वर्ग का इन्द्र बनता है और वहाँ से आकर धर्मचक्र को प्रवर्ताने वाला तीर्थंकर होता है। यह तीर्थंकर इतना प्रभावशाली होता है कि तीन लोक के समस्त जीव उसके सेवक बनते हैं और यह स्वयं त्रिलोकीनाथ कहलाता है। अन्त में यह जीव आवागमन से रहित मोक्ष को प्राप्त होता है। इस तरह यह सम्यग्दर्शन सराग अवस्था में अभ्युदय का और वीतराग अवस्था में मोक्ष का कारण है ॥४१॥

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामिविरचित उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्र विरचित टीका में प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

ज्ञानाधिकारो द्वितीय:

अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह–

[आर्या छन्द]

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
नि:संदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन: ॥४२॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो [वस्तुस्वरूपम्] वस्तु के स्वरूप को **(अन्यूनम्)** न्यूनता रहित **(अनतिरिक्तम्)** अधिकता रहित **(विपरीतात् विना)** विपरीतता रहित **(च)** और **(नि:संदेहं)** संदेह रहित **(याथातथ्यम्)** जैसा का तैसा **(वेद)** जानता है **(तत्)** उसको **(आगमिन:)** आगम के ज्ञाता गणधर आदि देव **(ज्ञानम्)** सम्यग्ज्ञान **(आहु:)** कहते हैं।

अहो! न्यूनता-रहित रहा है संशय से भी रीता है,
तथा अधिकता रहित रहा है नहीं रहा विपरीता है।
सदा वस्तु सब जिस विध भाती उन्हें उसी विध जान रहा,
जिन कहते हैं समीचीन बस ! ज्ञान वही सुख खान रहा ॥४२॥

टीका–'वेद' वेत्ति। 'यत्तदाहुर्ब्रुवते। 'ज्ञानं' भावश्रुतरूपं। के ते ? 'आगमिन:' आगमज्ञा:। कथं वेद ? 'नि:सन्देहं नि:संशयं यथा भवति तथा। 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्यय-व्यवच्छेदेनेत्यर्थ:। तथा 'अन्यूनं' परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न[1] न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद। तर्हि [2]जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथानित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेति तदधिकार्थवेदित्वात् ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह– 'अनतिरिक्तं' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्त-मनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वत्स्वरूपादधिकं कल्पनाशिल्पिकल्पितं यद्वेद। एवं चैतद्विशेषण-

---

१. नपुनन्यूनं घ.। २. जीवादिवस्तु घ प्रतौ 'तर्हि जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथानित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वात् ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह–अनतिरिक्तं वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तं 'इत्यस्य स्थाने 'जीवादिवस्तुस्वरूपादनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं' इत्येव पाठ:।

चतुष्टयसामर्थ्याद्यथा–भूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तद्दर्शयति–'याथातथ्यं' यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तज्ज्ञानं भावश्रुतं। तद्रूपस्यैव ज्ञानस्य जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूपप्रकाशनसामर्थ्य–सम्भवात्। तदुक्तम्–

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१॥

अतस्तदेवात्र धर्मत्वेनाभिप्रेतं मुख्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्गसाधनसामर्थ्यसंभवात् ॥४२॥

टीकार्थ–यहाँ ज्ञान शब्द से भावश्रुतज्ञान विवक्षित है। सम्यग्ज्ञान पदार्थ को न्यूनता रहित जानता है अर्थात् वह परस्पर विरोधी नित्यानित्यादि दो धर्मों में से किसी एक को छोड़ कर नहीं जानता है किन्तु उभय धर्मों से पूर्ण वस्तु को जानता है। अधिकता रहित जानता है अर्थात् वस्तु में नित्यत्वैकान्त अथवा क्षणिकत्वैकान्त आदि जो धर्म अविद्यमान हैं उन्हें कल्पित कर नहीं जानता है। विपरीतता रहित जानता है। सन्देहरहित जानता है और वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा ही जानता है। इस तरह स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान भी जीवाजीवादि समस्त पदार्थों को उनकी सब विशेषताओं के साथ जानता है क्योंकि उसमें भी केवलज्ञान के समान सम्पूर्ण रूप से वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने की सामर्थ्य रहती है। जैसा कि कहा है–

''स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों ही समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। इनमें भेद, प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा है अर्थात् केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप से जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूप से जानता है। जो श्रुतज्ञान वस्तु के एक धर्म को ही ग्रहण करता है वह अवस्तु अर्थात् मिथ्या होता है।'' –

इस प्रकार यहाँ भावश्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान ही धर्म से अभिप्रेत है क्योंकि वही मूल कारण होने से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कराने की सामर्थ्य रखता है।

विशेषार्थ– मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवाजीवादि तत्त्वों को जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानना है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस सम्यग्ज्ञान के यद्यपि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से पाँच भेद होते हैं तथापि यहाँ प्रमुखता से भावश्रुतज्ञान का ग्रहण किया गया है, क्योंकि चरणानुयोग में बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ की प्रधानता से कथन होता है और मनुष्य का वह पुरुषार्थ समीचीन शास्त्रों के स्वाध्याय के द्वारा भावश्रुतज्ञान के प्राप्त करने में ही अग्रसर होता है। अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होते, किन्तु प्रतिपक्षी आवरण के अभाव में स्वयं प्रकट हो जाते हैं। मतिज्ञान इतना साधारण ज्ञान है कि वह श्रुतज्ञान के बिना मोक्षमार्ग की प्राप्ति में सहायक नहीं होता। इस प्रकार भावश्रुतज्ञान ही बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। भावश्रुतज्ञान द्रव्यश्रुत के आश्रय से विकसित होता है। इसलिये

द्रव्यश्रुत के जानने में भी मनुष्य का पुरुषार्थ होता है। यहाँ द्रव्यश्रुत उन शास्त्रों को कहा गया है जो वस्तुस्वरूप का निरूपण स्याद्वाद की शैली से करते हैं। जो शास्त्र, स्याद्वाद की शैली को नहीं अपनाते उनसे वस्तु का अन्यून, अनतिरिक्त, अविपरीत, निःसन्देह और यथार्थज्ञान नहीं हो सकता।

कितने ही लोग कहा करते हैं कि वस्तु को न्यूनता और अधिकता से रहित ज्यों का-त्यों तो केवलज्ञान ही जान सकता है, अन्य ज्ञान नहीं। एतावता सम्यग्ज्ञान का यह लक्षण दोष पूर्ण है परन्तु ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ केवलज्ञान की विवक्षा न कर भावश्रुतज्ञान की ही विवक्षा की गई है। भावश्रुतज्ञान में न्यूनता और अधिकता रहित का इतना ही अर्थविवक्षित रहता है कि वस्तु में रहने वाले किसी धर्म को छोड़ा नहीं जावे और जो धर्म उस वस्तु में नहीं है उसकी कल्पना नहीं की जावे। श्रुतज्ञान, परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक को गौण और दूसरे को मुख्य तो कर सकता है परन्तु सर्वथा छोड़ नहीं सकता, क्योंकि सर्वथा छोड़ देने पर वस्तु का पूर्ण रूप सुरक्षित नहीं रहता। इसी तरह जो नित्यत्वाद्वैत आदि वस्तु में नहीं है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वैसा करने से वस्तु में अतिरिक्तता - अधिकता आती है और जो ज्ञान वस्तु को न्यूनता या अधिकता लिये हुए जानता है वह उसके याथातथ्य-वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता। यहाँ श्रुतज्ञान को जो केवलज्ञान के समान सर्व तत्त्व प्रकाशक कहा गया है वह विषय बहुलता की अपेक्षा कहा गया है। वैसे केवलज्ञान का विषय अनन्त है पर श्रुतज्ञान का विषय सान्त है।

भावश्रुतज्ञान का आधारभूत द्रव्यश्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेदों में विभक्त है। इन अनुयोगों के लक्षण ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं ॥४२॥

तस्य विषयभेदाद्भेदान् प्ररूपयन्नाह-

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

अन्वयार्थ— (समीचीनः बोधः) सम्यक् श्रुतज्ञान **(अर्थाख्यानम्)** परमार्थभूत विषय का प्रतिपादन करने वाला **(पुण्यम्)** पुण्यवर्धक **(चरितम्)** एक पुरुष के आश्रित चरित **(अपि)** और **(पुराणम्)** त्रेशठशलाका पुरुषों से सम्बन्धित पुराण **(बोधि-समाधिनिधानम्)** बोधि/रत्नत्रय और समाधि/धर्म शुक्लध्यान की खानरूप **(प्रथमानुयोगम्)** प्रथमानुयोग को **(बोधति)** जानता है।

महापुरुष की कथा, शलाका-पुरुषों की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता समाधि-निधि का है दाता।
वही रहा प्रथमानुयोग है परम पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि-तारक है॥४३॥

टीका—'बोधः समीचीनः' सत्यं श्रुतज्ञानं। 'बोधति' जानाति। कं? प्रथमानुयोगं। किं पुनः

प्रथमानुयोग-शब्देनाभिधीयते इत्याह–'चरितं पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरितं त्रिषष्टिशलाका-पुरुषाश्रिता कथा पुराणं तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयं। तस्य प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा तं। तथा 'पुण्यं' प्रथमानुयोगं हि शृण्वन्तां पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तदनुयोगं। तथा 'बोधिसमाधिनिधानं' अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः, ध्यानं वा धर्म्यं शुक्लं च समाधिः तयोर्निधानं। तदनुयोगं हि शृण्वतां सद्दर्शनादेः प्राप्त्यादिकं धर्म्यध्यानादिकं च भवति ॥४३॥

आगे विषयभेद की अपेक्षा उस सम्यग्ज्ञान के भेदों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम प्रथमानुयोग का लक्षण कहते हैं–

टीकार्थ– जिसमें एक पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है, उसे चरित कहते हैं और जिसमें त्रेशठ शलाका पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है, उसे पुराण कहते हैं। चरित और पुराण, दोनों ही प्रथमानुयोग शब्द से कहे जाते हैं। यह प्रथमानुयोग उपन्यास की तरह कल्पित अर्थ का वर्णन नहीं करता अपितु परमार्थ विषय का वर्णन करता है इसलिये इसे अर्थाख्यान कहते हैं। इसके पढ़ने और सुनने वाले जीवों को पुण्यबन्ध होता है इसलिये इसे पुण्य कहते हैं। इसके सिवाय यह प्रथमानुयोग बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि अर्थात् धर्म्य और शुक्लध्यान की प्राप्ति का निधान है। सम्यग्ज्ञान ऐसे प्रथमानुयोग को जानता है।

विशेषार्थ– प्रथमानुयोग जिनवाणी का एक प्रमुख अङ्ग है। कथा के माध्यम से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह अंग प्राथमिक जीवों के लिये अत्यन्त हितकारी है। इसे सुनकर सुनने वाले जीवों को बोधि और समाधि की प्राप्ति होती है। जो पहले प्राप्त नहीं थे ऐसे सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। प्राप्त तत्त्वों को अच्छी तरह जानना अथवा धर्म्य और शुक्लध्यान को प्राप्त होना समाधि है। प्रथमानुयोग इन दोनों का निधान-खजाना कहलाता है। इसका कथानक वास्तविक होता है, उपन्यास की तरह कल्पित नहीं होता। यह प्रथमानुयोग बाँचने और सुनने वाले जीवों के मानसिक पवित्रता का कारण होने से पुण्य रूप होता है। जम्बूस्वामी चरित, प्रद्युम्नचरित, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि इसके उदाहरण हैं ॥४३॥

तथा[१] –

लोकालोकविभक्ते-र्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथा मतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥

---

१. सम्पादनार्थमुपलब्धेषु पुस्तकेषु 'क' पुस्तके इतोऽग्रे इयं गाथा समुपलभ्यते 'अह उड्ढतिरियलोए दिसि विदिसि जं पमाणियं भणियं। करणाणिउगं सिद्धं दीवसमुद्दा जिणग्गेहा।' गाथेयं करणानुयोगस्य लक्षणपरा, केनचित् ''लोकालोकेति श्लोकस्य टीकायामवतारितालेखकप्रमादेन च प्रथमानुयोगलक्षणे संमिलिता भवेदिति प्रतिभाति॥''

अन्वयार्थ–[तथा] प्रथमानुयोग की तरह **(मतिः)** मननरूप श्रुतज्ञान **(लोकालोक-विभक्तेः)** लोक और अलोक के विभाग **(युगपरिवृत्तेः)** युगों के परिवर्तन **(च)** और **(चतुर्गतीनाम्)** चारों गतियों का स्वरूप **(आदर्शम्)** दर्पण के **(इव)** समान दिखाने वाले **(करणानुयोगम् च)** करणानुयोगरूप शास्त्र को भी **(अवैति)** जानता है।

लोक कहाँ से रहा कहाँ तक अलोक कितना फैला है ?
कब किस विध परिवर्तन करता काल खेलता खेला है।
दर्पण सम जो चहुँ गतियों को स्पष्ट रूप से दर्शाता,
वही रहा करणानुयोग शुचि-ज्ञान बताता हर्षाता ॥४४॥

टीका–'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकरेण, 'मति'र्मननं[१] श्रुतज्ञानं। 'अवैति' जानाति। कं ? 'करणानुयोगं लोकालोकविभागं पञ्चसंग्रहादिलक्षणं। कथंभूतमिव ? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शोदर्पणो मुखादेर्यथावत्-स्वरूपप्रकाशकस्तथां करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्यायं प्रकाशकः। ''लोकालोक-विभक्तेः'' लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रि-चत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणः तद्विपरीतोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्न-शुद्धाकाशस्वरूपः तयोर्विभक्तिर्विभागो भेदस्तस्याः आदर्शमिव। तथा 'युगपरिवृत्तेः' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्य आदर्शमिव। तथा 'चतुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्य-देवलक्षणानामादर्शमिव ॥४४॥

आगे करणानुयोग का लक्षण कहते हैं–

टीकार्थ– जिस प्रकार सम्यक् श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग को जानता है उसी प्रकार करणानुयोग को भी जानता है। करणानुयोग में लोक-अलोक का विभाग तथा पञ्चसंग्रह आदि का समावेश होता है। यह करणानुयोग दर्पण के समान है अर्थात् जिस प्रकार दर्पण, मुख आदि के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक होता है उसी प्रकार करणानुयोग भी अपने विषय का प्रकाशक होता है। करणानुयोग, लोक और अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चार गतियों के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये दर्पण के समान है। जहाँ तक जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं। यह लोक तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण है। इससे विपरीत अनन्त प्रमाण विशिष्ट जो शुद्ध-परद्रव्यों के संसर्ग से रहित आकाश है वह अलोक कहलाता है। उत्सर्पिणी आदि काल के भेदों को युग कहते हैं। उनका सुषमासुषमा आदि छह कालों में जो परिणमन होता है उसे युग परिवर्तन कहते हैं और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव ये चार गतियाँ हैं। करणानुयोग में इन सबका विशद वर्णन रहता है।

विशेषतार्थ–जिसमें लोक, जगत्प्रतर, जगच्छ्रेणी, द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि के विस्तार को निकालने के लिये करणसूत्रों-गणितसूत्रों का कथन होता है उसे करणानुयोग कहते हैं। इसी प्रकार

---

१. मतिज्ञानं न श्रुतज्ञानम् इति ग. पुस्तके।

जिसमें गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि के आश्रयभूत करणों-जीव के परिणाम विशेषों का वर्णन होता है उसे भी करणानुयोग कहते हैं। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से सम्बन्ध रखने वाली चर्चा भी इसी करणानुयोग में होती है। त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जीवकाण्ड, कर्म काण्ड, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ करणानुयोग के ग्रन्थ कहलाते हैं ॥४४॥

तथा[१] -

गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥

अन्वयार्थ–(सम्यग्ज्ञानम्) द्रव्यभावरूप सम्यग्ज्ञान **(गृहमेध्यनगाराणां)** गृहस्थ और मुनियों के **(चारित्रोत्पत्ति-वृद्धिरक्षाङ्गम्)** चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणभूत **(चरणानुयोग-समयम्)** चरणानुयोग शास्त्र को **(विजानाति)** जानता है।

सागारों का अनगारों का चरित सुखद है पावन है,
जिसके उद्भव रक्षण वर्धन में बाहर जो साधन है।
वही रहा 'चरणानुयोग' है पूर्ण-ज्ञान यों बता रहा,
उसका अवलोकन कर ले तू समय वृथा क्यों बिता रहा ॥४५॥

टीका–'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूपं। 'विजानाति' विशेषेण जानाति। कं ? 'चरणानुयोगसमयं' चारित्र-प्रतिपादकं शास्त्रमाचाराङ्गादि। कथंभूतं ? 'चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं चारित्रस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च तासामङ्गं कारणं अंगानि वा कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र। केषां तदङ्गं ? 'गृहमेध्यनगाराणां गृहमेधिनः श्रावकाः अनगार मुनयस्तेषाम् ॥४५॥

आगे चरणानुयोग का लक्षण कहते हैं–

टीकार्थ– चारित्र का प्रतिपादन करने वाले आचारांग आदि शास्त्र चरणानुयोग शास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रों में गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणों का वर्णन रहता है। सम्यक् श्रुतज्ञान इन सब शास्त्रों को विशेष रूप से जानता है।

विशेषार्थ– गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसमें वृद्धि किस प्रकार होती है और उसकी रक्षा किस प्रकार होती है, इन सबका निरूपण जिसमें रहता है उसे चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं। चरणानुयोगसमयं यहाँ जो 'समय' शब्द है उसका अर्थ शास्त्र होता है।

---

१. इतोऽग्रे क पुस्तके इयं गाथा समुपभ्यते-तवचारित्तमुणीणं किरियाणं रिद्धिसहियाणं। उवसग्गं सण्णासं चरणाणिउगं पसंसंति॥ -गाथेयं चरणानुयोगलक्षणपरा। केनचित् 'गृहमेध्यनगाराणाम्' इति श्लोकस्य टीकायामवतारिता, लेखकप्रमादेन च करणानुयोगलक्षणे संमिलिता भवेदिति प्रतिभाति ॥

रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन (रत्नकरण्डकश्रावकाचार), अमितगति श्रावकाचार, सागारधर्मामृत, अनगारधर्मामृत, मूलाचार तथा भगवती आराधना आदि इस अनुयोग के प्रमुख ग्रन्थ हैं ॥४५॥

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

अन्वयार्थ–(द्रव्यानुयोग-दीपः) द्रव्यानुयोगरूपी दीपक **(जीवाजीवसुतत्त्वे)** जीव और अजीवरूप प्रमुख तत्त्वों को **(पुण्यापुण्ये)** पुण्य और पाप को **(बन्धमोक्षौ)** बन्ध और मोक्ष को तथा **(च)** च शब्द से आस्रव, संवर और निर्जरा इन उपर्युक्त नौ पदार्थों के स्वरूप के कथनरूप **(श्रुतविद्यालोकम्)** श्रुतज्ञानरूप प्रकाश को **(आतनुते)** फैलाता है।

जीव तत्त्व क्या कहाँ रहा है, अजीव कितने रहे कहाँ,
पाप रहा क्या पुण्य रहा क्या, बन्ध मोक्ष क्या रहे कहाँ?
इन सबको द्रव्यानुयोग-मय, दीप प्रकाशित करता है,
मूल-भूत जिन-श्रुत विद्या का, प्रकाश लेकर जलता है ॥४६॥

टीका—'द्रव्यानुयोगदीपः' [१]द्रव्यानुयोगसिद्धान्तसूत्रं तत्त्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव दीपः सः ॥ 'आतनुते' विस्तारयति अशेषविशेषतः प्ररूपयति के ? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीतोऽजीवः तावेव शोभने अबाधिते तत्त्वे वस्तु स्वरूपे आतनुते। तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि हि पुण्यं ततोऽन्यत्कर्मापुण्यमुच्यते, ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। तथा 'बन्धमोक्षौ च' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशेषतः द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। कथं ? श्रुतविद्यालोकं श्रुतविद्या भावश्रुतं सैवालोकः प्रकाशो यत्र[२] कर्मणि तद्यथा भवत्येवं जीवादीनि स प्रकाशयतीति ॥४६॥

[३]इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययन-टीकायां द्वितीयः परिच्छेदः ॥२॥

आगे द्रव्यानुयोग का स्वरूप कहते हैं–

टीकार्थ—जो उपयोग लक्षण से सहित हो उसे जीव कहते हैं, इससे विपरीत लक्षण वाला अर्थात् उपयोग लक्षण से रहित द्रव्य अजीव कहलाता है। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्य कर्म कहलाते हैं। इनसे विपरीत असातावेदनीय, अशुभनाम, अशुभायु, अशुभगोत्र ये पापकर्म कहलाते हैं। इन सबके मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप हेतुओं के वश से आत्मा और कर्म का जो परस्पर संश्लेष है वह बन्ध कहलाता है। बन्ध के कारणों का अभाव (संवर) तथा निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा

---

१. द्रव्यानुयोगः सिद्धान्तः ख.। २. तेन कर्मणि ग.। ३. प्रशस्तिकेयं ख पुस्तके नास्ति।

से पृथक् होना मोक्ष है। श्लोक में आये हुए चकार से आस्रव, संवर और निर्जरा तत्त्व का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार नौ पदार्थों को द्रव्यानुयोग रूपी दीपक विस्तृत करता है। विस्तृत करते समय वह श्रुतज्ञान रूपी प्रकाश को विस्तृत करता है।

विशेषार्थ— जिस अनुयोग में पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का विस्तार से वर्णन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। जैसे तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि। मोक्षाभिलाषी पुरुष चारों अनुयोगों में श्रद्धा रखता है तथा उनके स्वाध्याय के द्वारा अपने श्रुतज्ञान को विस्तृत करता है ॥४६॥

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामिविरचित उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्रविरचित टीका में द्वितीय परिच्छेदपूर्ण हुआ।

चारित्राधिकारस्तृतीयः

अथ चारित्ररूपं धर्मव्याचिख्यासुराह–

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

अन्वयार्थ–(मोहतिमिरापहरणे) मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर **(दर्शन-लाभात्)** सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से **(अवाप्तसंज्ञानः)** प्राप्त हुआ है सम्यग्ज्ञान जिसे ऐसा **(साधुः)** सज्जन/भव्यजीव **(रागद्वेषनिवृत्त्यै)** रागद्वेष की निवृत्ति के लिए **(चरणम्)** सम्यक्चारित्र को **(प्रतिपद्यते)** प्राप्त होता है।

सुचिर काल के मोह तिमिर को, पूर्ण रूप से भगा दिया,
समदर्शन का लाभ हुआ जो, सत्य ज्ञान को जगा लिया।
राग-रोष का मूल रूप में, क्षय करना अब कार्य रहा,
तभी चरित को धारण करता, साधु रहा यह आर्य रहा ॥४७॥

अब चारित्र रूप धर्म के व्याख्यान की इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं–

टीका–'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं। 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति। कोऽसौ ? 'साधु'र्भव्यः। कथंभूतः? 'अवाप्तसंज्ञानः'। कस्मात्? 'दर्शनलाभात्'। तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति संजातः ? 'मोहतिमिरा-पहरणे' मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा। अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे। अयमर्थः–दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः। तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः भवत्यात्मा। ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरणं प्रतिपद्यते। किमर्थं ? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै' रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तम् ॥४७॥

टीकार्थ— हिंसादि पापों से निवृत्ति होने को चरण या चारित्र कहते हैं। भव्यजीव ऐसे चारित्र को कब और किसलिये प्राप्त होता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि मोह-दर्शनमोह-मिथ्यात्व रूप अन्धकार का अपहरण-यथासम्भव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जिसे दर्शन-सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसा भव्य पुरुष राग-द्वेष को दूर करने के लिये चारित्र को प्राप्त होता है। यहाँ **मोहतिमिरापहरणे** इस पद का यह अर्थ भी होता है- **मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादितयोरपहरणे** अर्थात् मोह का अर्थ दर्शन मोह तथा चारित्र मोह इन दो भेदों से उपलक्षित मोहकर्म और तिमिर शब्द का अर्थ ज्ञानावरणादि कर्म है। जब इन दोनों का अपहरण-अभाव हो जाता है तभी इस जीव को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहकर्म का अभाव होने से तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और ज्ञानावरणादि के अभाव से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानावरण के अभाव-क्षयोपशम से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही सम्यग्दर्शन के प्रसाद से सम्यग्व्यवहार को प्राप्त होता है। इस प्रकार जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बन गया है ऐसा भव्यजीव चारित्र मोह का अभाव होने पर रागद्वेष को दूर करने के लिये चारित्र को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ— इस श्लोक में स्वामी समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का क्रम तथा चारित्र धारण करने का प्रयोजन बहुत उत्तम रीति से प्रकट किया है। मोहकर्म के दो भेद हैं- १. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से यह जीव पर-पदार्थों में अहं बुद्धि करता है अर्थात् शरीरादि रूप ही मैं हूँ, ऐसा श्रद्धान करता है और चारित्र मोह के उदय से बद्धकर्म, नोकर्म और अबद्ध-स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि में ममत्व बुद्धि करता है अर्थात् ये मेरे हैं, ऐसा भाव करता है। मोह का प्रचलित नाम मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व अन्धकार के समान है क्योंकि जिस प्रकार अन्धकार नेत्र की दर्शन शक्ति-देखने की सामर्थ्य को प्रकट नहीं होने देता है उसी प्रकार मिथ्यात्व भी। इस जीव की दर्शन शक्ति-समीचीन श्रद्धारूप सामर्थ्य को प्रकट नहीं होने देता है। जब इस जीव का मिथ्यात्वरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है तभी इसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही इसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। सम्यग्दर्शन के होने से इस जीव को यह श्रद्धा हो जाती है कि सुख का कारण पर-पदार्थ नहीं है किन्तु आत्मा की निराकुल परिणति ही है। ऐसी श्रद्धा के होते ही उसका पर-पदार्थ से अहं भाव नष्ट हो जाता है तथा साथ ही सम्यग्ज्ञान होने से यह सुख का सही मार्ग खोजने में समर्थ हो जाता है। इस तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्राप्त हो जाने से पर-पदार्थों में ममत्व बुद्धि हट जाती है और उसके हटते ही रागद्वेष दूर हो जाते हैं। जिसके रागद्वेष दूर हो जाते हैं वह सम्यक्चारित्र को अनायास ही प्राप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रागद्वेष की निवृत्ति होना ही चारित्र है। जब तक ऐसा चारित्र प्राप्त नहीं होता तब तक इस जीव का कल्याण नहीं हो सकता ॥४७॥

तन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृतेः संभवादित्याह–

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्त्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः, कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥

अन्वयार्थ–(रागद्वेषनिवृत्तेः) रागद्वेष की निवृत्ति से **(हिंसादिनिवर्तना)** हिंसादि पापों की निवृत्ति **(कृता भवति)** की गई/स्वयं होती है **[यतः]** क्योंकि **(अनपेक्षितार्थवृत्तिः)** अपेक्षा से रहित आजीविका वाला **(कः पुरुषः)** कौन पुरुष **(नृपतीन्)** राजाओं की **(सेवते)** सेवा करता है ? अर्थात् कोई नहीं।

हिंसादिक सब पापों के जब, निराकरण के करने से,
राग रोष ये मिटते कारण, बाधक कारण मिटने से।
जिसके मन में अणु भर भी नहिं, धन मणि यश की अभिलाषा,
किस विध कर सकता फिर सेवा, राजा की वह बन दासा॥४८॥

टीका–'हिंसादेः निवर्तना' व्यावृत्तिः कृता भवति। कुतः ? 'रागद्वेषनिवृत्तेः' अयमत्र तात्पर्यार्थः- प्रवृत्त -रागादि-क्षयोपशमादेर्हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं भवति। ततो भाविरागादिनिवृत्तिरेवं प्रकृष्टतर-प्रकृष्टतमत्वाद् हिंसादि निवर्तते। देशसंयतादिगुणस्थाने रागादिहिंसादिनिवृत्तिस्तावद्वर्तते यावन्निःशेष-रागादिप्रक्षयः तस्माच्च निःशेषहिंसादि-निवृत्तिलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरन्यासमाह–'अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्' अनपेक्षिता-ऽनभिलषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविधः पुरुषः को, न कोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी, सेवते नृपतीन् ॥४८॥

आगे रागद्वेष की निवृत्ति होने पर ही हिंसादि पापों से निवृत्ति हो सकती है, यह कहते हैं–

टीकार्थ– रागद्वेष की निवृत्ति से हिंसादिपापों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्तमान में जो रागादिक भाव चल रहे हैं उनका क्षयोपशमादि होने पर हिंसादि पापों का त्याग रूप चारित्र होता है। तदनन्तर आगामी काल में होने वाले रागादिक भावों की निवृत्ति भी इसी तरह आगे-आगे प्रकृष्ट से प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम होती जाती है। ऐसा होने से हिंसादि पाप स्वयं निवृत्त होते जाते हैं– छूटते जाते हैं। देशसंयतादि गुणस्थानों में रागादि भाव तथा हिंसादि पापों की निवृत्ति वहाँ तक होती रहती है जहाँ तक कि समस्त रागादि का क्षय और उससे होने वाला समस्त हिंसादि पापों के त्याग रूप लक्षण से युक्त परम उदासीनता स्वरूप परमोत्कृष्टचारित्र होता है। इसी अभिप्राय का समर्थन करने के लिए अर्थान्तर-न्यास द्वारा दृष्टान्त दिया है कि जिसे किसी प्रयोजनरूप फल की प्राप्ति अपेक्षित नहीं है ऐसा कौन पुरुष राजाओं की सेवा करता है। अर्थात् कोई बुद्धिमान् मनुष्य नहीं करता।

विशेषार्थ–चारित्र धारण करने का मूल प्रयोजन रागद्वेष की निवृत्ति करना है। रागद्वेष से प्रेरित

होकर ही मनुष्य की हिंसादि पापों में प्रवृत्ति होती है। अतः जिसने रागद्वेष की निवृत्ति कर ली उसने हिंसादि पापों की निवृत्ति स्वयं कर ली। रागद्वेष की उत्पत्ति का प्रमुख कारण मिथ्यात्व तथा अज्ञान भाव है। मिथ्यात्व के कारण इस जीव की ऐसी मान्यता होती है कि पर-पदार्थ सुख-दुःख के कारण हैं। इस मान्यता के अनुसार वह जिन पदार्थों से सुख की उत्पत्ति मानता है उनमें राग करता है और जिन पदार्थों से दुःख की उत्पत्ति मानता है उनसे द्वेष करता है। सुख-दुःख का अन्तरंग कारण मनुष्य का पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्म है। परन्तु मिथ्याज्ञान के कारण यह जीव अन्तरंग कारण की ओर तो दृष्टि देता नहीं है मात्र बहिरंग कारण-स्त्री, पुत्र तथा शत्रु, सिंह आदि को सुख-दुःख का कारण मान उनसे राग-द्वेष करता है। तात्पर्य यह है कि यदि राग-द्वेष से बचना है तो पहले मिथ्यात्व और मिथ्या ज्ञान को दूर कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त किया जाय, उसके बाद चारित्र की प्राप्ति सरल हो जाती है॥ ४८॥

अत्रापरः प्राह-चरणं प्रतिपद्यत इत्युक्तं तस्य तु लक्षणं नोक्तं तदुच्यतां, इत्याशङ्क्याह-

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥

अन्वयार्थ-(संज्ञस्य) सम्यग्ज्ञानी का **(पापप्रणालिकाभ्यः)** पाप की प्रणाली स्वरूप **(हिंसानृतचौर्य्येभ्यः)** हिंसा झूठ चोरी से **(च)** और **(मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्याम्)** कुशील व परिग्रह से **(विरतिः)** विरक्त होना **(चारित्रम्)** चारित्र **[कथ्यते]** कहा जाता है।

हिंसा से औ असत्य से भी, चोरी मैथुन-सेवन से,
पापास्रव के सभी कारणों, और परिग्रह मेलन से।
सुदूर होना भाग्य मानकर, संयम-मय जीवन जीना,
सच्चे ज्ञानी पुरुषों का वह, चारित है निज आधीना ॥४९॥

टीका-'चारित्रं' भवति। कासौ ?'विरति' र्व्यावृत्तिः। केभ्यः ?'हिंसानृतचौर्येभ्यः' हिंसादीनां स्वरूपकथनं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति। न केवलमेतेभ्य एव विरतिः-अपितु 'मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां'। एतेभ्यः कथंभूतेभ्यः ? 'पापप्रणालिकाभ्यः' पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आस्रवद्वाराणि ताभ्यः। कस्य तेभ्यो विरतिः? 'संज्ञस्य' सम्यग्जानातीति संज्ञः तस्य हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानवतः ॥४९॥

यहाँ कोई कहता है कि (साधुः चरणं प्रतिपद्यते) साधुचारित्र को प्राप्त होता है यह तो कहा। परन्तु चारित्र का लक्षण नहीं कहा, उसे कहा जावे, ऐसी आशंका कर कहते हैं-

टीकार्थ-हेय और उपादेय तत्त्वों के ज्ञान से युक्त जीव की, पाप के पनालों-गन्दा पानी बहाने वाले गटरों के समान हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रह से निवृत्ति होना चारित्र कहलाता

है।

विशेषार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच कार्य, पाप की प्रणालियों के समान हैं। इनसे निरन्तर पापों का आस्रव होता रहता है। सम्यग्ज्ञानी जीव उपर्युक्त पाँचों कार्यों को पाप की प्रणालिका समझकर उनसे विरक्त रहता है। सम्यग्ज्ञानी जीव की यह विरक्ति ही सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥४९॥

तच्चेत्थंभूतं चारित्रं द्विधा भिद्यत इत्याह–

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससङ्गानाम् ॥५०॥

अन्वयार्थ–(तत्) वह **(चरणम्)** चारित्र **(सकलम्)** सकल/महाव्रत और **(विकलम्)** विकल/अणुव्रतरूप दो प्रकार है उनमें **(सर्वसङ्ग-विरतानाम्)** समस्त परिग्रहों से विरक्त **(अनगाराणाम्)** अनगार/मुनियों के **(सकलम्)** सकलचारित्र और **(ससङ्गानाम्)** घर आदि परिग्रह सहित **(सागाराणाम्)** सागारों/गृहस्थों के **(विकलम्)** विकलचारित्र होता है।

सकल सङ्ग को त्याग चुके हैं, अनगारों का सकल रहा,
अल्प सङ्ग को त्याग चुके हैं, सागारों का विकल रहा।
सकल नाम का विकल नाम का, इस विध चारित द्विविध रहा,
भविजन धरते फल मिलता है, सुरसुख शिवसुख विविध महा ॥५०॥

टीका—हिंसादिविरतिलक्षणं 'यच्चरणं' प्राक् प्ररूपितं तत् सकलं विकलं च भवति। तत्र 'सकलं परिपूर्णमहाव्रतरूपं। केषां तद्भवति ? 'अनगाराणां मुनीनां। किंविशिष्टानां 'सर्वसङ्गविरतानां बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहरहितानां। 'विकलं' अपरिपूर्णं अणुव्रतरूपं। केषां तद्भवति ? 'सागाराणां' गृहस्थानां। कथंभूतानां? 'ससङ्गानां' सग्रन्थानाम् ॥५०॥

आगे ऐसा चारित्र दो प्रकार का है यह कहते हैं–

टीकार्थ—हिंसादि पापों के परित्याग रूप लक्षण से युक्त जिस चारित्र का पहले वर्णन किया गया है वह सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें सकल चारित्र पूर्ण चारित्र कहलाता है, जो महाव्रत रूप होता है तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित मुनियों के होता है। विकल चारित्र एकदेश चारित्र कहलाता है, जो अणुव्रत रूप होता है और परिग्रह सहित गृहस्थों के होता है।

विशेषार्थ—आत्मा के प्रवृत्ति रूप चारित्र को घातने वाली चारित्रमोहनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं–एक अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और दूसरी प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ। अप्रत्याख्यानावरण विकल-एकदेशचारित्र को घातती है और प्रत्याख्यानावरण सकल-सर्वदेशचारित्र को घातती है। जब किसी सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण का अनुदय रूप

क्षयोपशम होता है तब उसके हिंसादि पाँच पापों का एकदेश त्याग होता है वही विकलचारित्र कहलाता है और जब किसी सम्यग्दृष्टि जीव के प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम होता है तब उसके हिंसादि पाँचों पापों का सर्वदेश त्याग होता है, वही सकलचारित्र कहलाता है। विकलचारित्र गृहस्थों के होता है और सकलचारित्र मुनियों के होता है। गृहस्थ परिग्रह से सहित होते हैं और मुनि परिग्रह से रहित होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के जो विकल या सकलचारित्र होता है उसे करणानुयोग चारित्र रूप से स्वीकृत नहीं करता। ऐसे चारित्र में संवर और निर्जरा नहीं होती ॥५०॥

तत्र[१] विकलमेव तावच्चारित्रं व्याचष्टे–

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्य-माख्यातम् ॥५१॥

अन्वयार्थ–(गृहिणाम्) गृहस्थों का **(चरणम्)** चारित्र **(अणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकम्)** अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप **(त्रेधा)** तीन प्रकार **(तिष्ठति)** होता है **[तत्]** वह **(त्रयम्)** तीनों प्रकार चारित्र **(यथासंख्यम्)** क्रम से **(पञ्च-त्रि-चतुर्भेदम्)** पाँच, तीन और चार भेदरूप **(आख्यातम्)** कहा गया है।

गृही जनों का विकल चरित भी, त्रिविध बताया जिनवर ने,
अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत यों, नाम पुकारा गणधर ने।
रहा पञ्चधा अणुव्रत भी वह, गुणव्रत भी वह त्रिविध रहा,
शिक्षाव्रत यह रहा चतुर्विध, रुचि से पालो सुबुध अहा ?॥५१॥

टीका–'गृहिणां' सम्बन्धि यत् विकलं चरणं तत् 'त्रेधा' त्रिप्रकारं। 'तिष्ठति' भवति। किं विशिष्टं सत्? 'अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं' सत् अणुव्रतरूपं गुणव्रतरूपं शिक्षाव्रतरूपं सत्। त्रयमेव। तत्प्रत्येकं यथासंख्यं।'पञ्चत्रिचतुर्भेदमाख्यातं' प्रतिपादितं। तथा हि–अणुव्रतं पञ्चभेदं गुणव्रतं त्रिभेदं शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति ॥५१॥

अब उनमें विकलचारित्र का व्याख्यान करते हैं–

टीकार्थ– गृहस्थों का जो विकलचारित्र है वह अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप होता हुआ तीन प्रकार का है। और उन तीनों में प्रत्येक क्रम से पाँच, तीन और चार भेदों से युक्त कहा गया है। अर्थात् अणुव्रत पाँच प्रकार का, गुणव्रत तीन प्रकार का और शिक्षाव्रत चार प्रकार का है।

विशेषार्थ–अणुव्रत के पाँच भेद हैं– १. अहिंसाणुव्रत, २. सत्याणुव्रत, ३. अचौर्याणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत और ५. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत। गुणव्रत के तीन भेद हैं– १. दिग्व्रत, २. अनर्थदण्डव्रत और ३. भोगोपभोगपरिमाणव्रत। शिक्षाव्रत के चार भेद हैं– १. देशावकाशिक, २. सामायिक, ३.

---

१. तद इति ग पुस्तके।

प्रोषधोपवास और ४. वैयावृत्त्य। इस बारह प्रकार के विकलचारित्र में पाँच अणुव्रतों को व्रत और शेष सात को शील कहते हैं ॥५१॥

तत्राणुव्रतस्य तावत्पञ्चभेदान् प्रतिपादयन्नाह–

प्राणातिपात-वितथव्याहार-स्तेय-काम-मूर्च्छाभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥५२॥

अन्वयार्थ–(प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन **(स्थूलेभ्यः)** स्थूल **(पापेभ्यः)** पापों से **(व्युपरमणम्)** विरत होना **(अणुव्रतम्)** अणुव्रत **(भवति)** होता है।

प्राणनाशिनी हिंसा का औ, अनुचित असत्य भाषण का,
चोरी मैथुन-सेवन का भी तथा संग के धारण का।
पूर्ण नहीं पर स्थूल रूप से, पापों का जो त्याग रहा,
अणुव्रत माना जाता है वह, सुख का ही अनुभाग रहा ॥५२॥

टीका–'अणुव्रतं' विकलव्रतं। किं तत् ? व्युपरमणं व्यावर्तनं यत् केभ्यः इत्याह–'प्राणेत्यादि', प्राणानामिन्द्रियादीनामतिपातश्चातिपतनं वियोगकरणं विनाशनं। 'वितथव्याहारश्च' वितथोऽसत्यः स चासौ व्याहारश्च शब्दः। 'स्तेयं' च चौर्यं। 'कामश्च' मैथुनं। 'मूर्च्छा' च परिग्रहः मूर्च्छा च मूर्च्छ्यते लोभावेशात् परिगृह्यते इति मूर्च्छा इति व्युत्पत्तेः। तेभ्यः। कथंभूतेभ्यः ? 'स्थूलेभ्यः'। अणुव्रतधारिणो हि सर्वसावद्यविरते-रसम्भवात् स्थूलेभ्य एव हिंसादिभ्यो व्युपरमणं भवति। स हि त्रसप्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावरप्राणातिपातात्। तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवचनान्निवृत्तो न तद्विपरीतात्। तथान्यपीडाकरात् राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्यदत्तार्थात् स्थूलान्निवृतो न तद्विपरीतात्। तथा उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः पापभयादिना निवृत्तो नान्यथा इति स्थूलरूपाऽब्रह्मनिवृत्तिः तथा धनधान्यक्षेत्रादेरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इतिस्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः। कथंभूतेभ्यः प्राणाति-पातादिभ्यः? 'पापेभ्यः' पापास्रवणद्वारेभ्यः ॥५२॥

आगे अणुव्रतों के पाँच भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–इन्द्रियादि प्राणों का वियोग करना प्राणातिपात है, असत्य वचन बोलना वितथ व्यवहार है, स्वामी की आज्ञा के बिना किसी वस्तु का ग्रहण करना स्तेय है, मैथुन करना काम है और लोभ के आवेश से बाह्य पदार्थों का ग्रहण करना मूर्च्छा अथवा परिग्रह है। ये पाँच पाप स्थूल और सूक्ष्म की अपेक्षा दो प्रकार के हैं। इनमें स्थूल पापों से विरत होना अणुव्रत कहलाता है। अणुव्रत धारी जीवों के सूक्ष्म पापों का त्याग असम्भव रहता है, इसलिये स्थूल हिंसादि के त्याग को ही अणुव्रत कहते हैं। जैसे अहिंसाणु व्रत का धारी पुरुष त्रस हिंसा से तो निवृत्त होता है परन्तु स्थावर हिंसा से निवृत्त

नहीं होता। सत्याणुव्रत का धारक पुरुष, पापादिक के भय से परपीड़ा कारक स्थूल असत्य वचन से निवृत्त होता है, सूक्ष्म असत्य वचन से नहीं। अचौर्याणुव्रत का धारी पुरुष राजादिक के भय से दूसरे के द्वारा छोड़े हुए स्थूल अदत्त वस्तु के ग्रहण से निवृत्त होता है, सूक्ष्म से नहीं। ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारक पुरुष पाप के भय से दूसरे की गृहीत अथवा अगृहीत स्त्री से निवृत्त होता है, स्व स्त्री से नहीं। इसी प्रकार परिग्रह परिमाणाणुव्रत का धारक पुरुष, धन-धान्य तथा खेत आदि परिग्रह का अपनी इच्छानुसार परिमाण करता है इसलिये स्थूल परिग्रह से ही निवृत्त होता है, सूक्ष्म से नहीं। ये प्राणातिपात हिंसा आदि कार्य पाप हैं क्योंकि पाप कर्मों के आस्रव-द्वार हैं-इनके निमित्त से जीव के सदा कर्मों का आस्रव होता रहता है।

विशेषार्थ— जिनके संयोग से जीव जीवित और वियोग से मृत कहलाता है उन्हें प्राण कहते हैं। इनके द्रव्यप्राण और भावप्राण की अपेक्षा दो भेद हैं। स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियां, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास दश द्रव्यप्राण कहलाते हैं और ज्ञान, दर्शनादिगुण भावप्राण कहलाते हैं। इन प्राणों के अतिपात-घात करने को प्राणातिपात कहते हैं। इसका प्रचलित नाम हिंसा है। जो वस्तु जैसी नहीं है उसे उस प्रकार कहना वितथव्याहार-असत्य भाषण है। इसके सदपलाप, असदुद्भावन, अन्यरूपाभिधान तथा गर्हितादि वचन के भेद से चार भेद हैं। अदत्त वस्तु का ग्रहण स्तेय है।[१] स्मरण, कीर्तन, क्रीड़ा (हास-परिहास) प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिर्वृत्ति (मैथुन में प्रवृत्ति) इन आठ प्रकार के मैथुनों में प्रवृत्ति होना काम या कुशील कहलाता है। तथा धन-धान्यादि पदार्थों में ममता भावरूप परिणाम होना मूर्च्छा है। इसे ही परिग्रह कहते हैं। लोक में ये पाँचों कार्य पाप कहे जाते हैं। इनकी स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार की परिणति होती है। आम जनता में जो पाप स्वीकृत किया गया है और जिसके करने पर राजकीय तथा सामाजिक दण्ड प्राप्त होता है उन्हें स्थूल पाप कहते हैं। ऐसे स्थूल पापों से निवृत्त होना अणुव्रत कहलाता है। गृहस्थ उक्त पापों का किस प्रकार त्याग कर सकता है इसे संस्कृत टीकाकार ने स्पष्ट किया है ॥५२॥

तत्राद्यव्रतं व्याख्यातुमाह-

सङ्कल्पात्कृतकारित,-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥५३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो **(योगत्रयस्य)** मन, वचन और काय के **(कृतकारित-मननात्)** कृत, कारित और अनुमोदनारूप **(सङ्कल्पात्)** संकल्प से **(चरसत्त्वान्)** त्रस जीवों को **(न हिनस्ति)** नहीं मारता है **(तत्)** उसकी उस क्रिया को **(निपुणाः)** गणधर आदि देव **(स्थूलवधात्)** स्थूलहिंसा से

१. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम॥

(विरमणम्) विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत **(आहुः)** कहते हैं।

कभी भूलकर काया से भी, और वचन से निजमति से,
कृत से भी औ कारित से भी, अन्य किसी की अनुमति से।
संकल्पित हो त्रस जीवों का, प्राण-घात जो नहिं करना,
'अहिंसाणुव्रत' वही रहा है, जिन कहते तू उर धरना ॥५३॥

टीका—'चरसत्त्वान्' त्रसजीवान्। 'यन्न हिनस्ति'। तदाहुः 'स्थूलवधाद्विरमणं'। के ते? 'निपुणाः' हिंसादिविरतिव्रतविचारदक्षाः। कस्मान्न हिनस्ति ? '[१]संकल्पात्' संकल्पं हिंसा-भिसन्धिमाश्रित्य। कथंभूतात् संकल्पात्? कृतकारितानुमननात् कृतकारितानुमननरूपात्। कस्य सम्बन्धिनः ? 'योगत्रयस्य' मनोवाक्कायत्रयस्य। अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं। [२]कारितानुविधानं परप्रयोगापेक्षमनुवचनं। [३]अनुमननवचनं। प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थं। तथा हि-मनसा चरसत्त्वहिंसां स्वयं न करोमि, चरसत्त्वान् हिनस्मीति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः। मनसा चरसत्त्वहिंसामन्यं न कारयामि, चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः। तथा अन्यं चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये, सुन्दरमनेन कृतमिति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः। एवं वचसा स्वयं चरसत्त्वहिंसां न करोमि चरसत्त्वान् हिनस्मीति स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। वचसा चरसत्त्वहिसां न कारयामि चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। तथा वचसा चरसत्त्वहिंसां न कुर्वन्तं नानुमन्ये, साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः। तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न करोमि, चरसत्त्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं कायव्यापारं न करोमीत्यर्थः। तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि, चरसत्त्व हिंसने कायसंज्ञया परं न प्रेर[४]यामीत्यर्थः। तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्यं नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये। इत्युक्तमहिंसाणुव्रतम् ॥५३॥

आगे प्रथमव्रत अहिंसाणुव्रत का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं-

टीकार्थ— 'मैं इस जीव को मारूँ' इस अभिप्राय से जो हिंसा होती है उसे संकल्प कहते हैं। यह संकल्प मन, वचन और काय तीनों योगों की कृत, कारित और अनुमोदना रूप परिणति से होता है। किसी कार्य को स्वतन्त्रता पूर्वक स्वयं करना कृत है, दूसरे से कराना कारित है और करने वाले के लिए अपने मानसिक परिणामों को प्रकट करते हुए अनुमति के वचन कहना अनुमोदना है। यह कृत, कारित और अनुमोदना, मन-वचन-काय रूप तीनों योगों से उत्पन्न होती है। इसलिये संकल्प के नौ विकल्प हो जाते हैं। इन सभी विकल्पों से जो त्रस जीवों की हिंसा नहीं करना है वह अहिंसाणुव्रत है, ऐसा वस्तु स्वरूप के विचार करने में निपुण आचार्य कहते हैं। उपर्युक्त नौ प्रकार के संकल्पों का

---

१. संकल्पात्- हिंसाभिसन्धिमाश्रित्य ग घ पुस्तकयोः। २. कारितानिधानं ग घ पुस्तकयोः। ३. अनुवचनं ख पुस्तके। अनुमननं वचनं ग पुस्तके। अनुमतवचनं घ। ४. करोमीत्यर्थ इति क ख पाठः॥

विवरण इस प्रकार है– १. मैं मन से त्रस जीवों की हिंसा को स्वयं नहीं करता हूँ अर्थात् ''मैं त्रस जीवों को मारूँ'' ऐसा मन से संकल्प नहीं करता है। २. दूसरे जीव से त्रस हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् ''तुम त्रस जीवों को मारो'' ऐसा संकल्प मन से नहीं करता हूँ। ३. तथा त्रस जीवों की हिंसा करते हुए किसी जीव की मन से अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् ''इसने यह कार्य अच्छा किया'' ऐसा मन से संकल्प नहीं करता हूँ। इसी प्रकार ४. वचन से मैं स्वयं त्रसजीव की हिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् ''मैं त्रस जीवों को मारूँ'' ऐसे वचन नहीं बोलता हूँ। ५. वचन से दूसरों के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् ''तुम त्रस जीवों को मारो'' ऐसे वचनों का उच्चारण नहीं करता हूँ तथा ६. त्रस जीवों की हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुष की वचन से अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् ''तुमने अच्छा किया'' ऐसे वचनों का उच्चारण नहीं करता हूँ। इसी प्रकार ७. काय से त्रस जीवों के हिंसा को स्वयं नहीं करता हूँ अर्थात् स्वयं आँखों से संकेत करना तथा मुट्ठी बाँधना आदि शारीरिक व्यापार को नहीं करता हूँ। ८. शरीर से, दूसरे के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् शरीर के संकेत से दूसरे को प्रेरित नहीं कराता हूँ। तथा ९. त्रस जीवों की हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुष को चुटकी बजाना आदि शरीर के व्यापार से अनुमति नहीं देता हूँ।

विशेषार्थ– संकल्पी, आरम्भी, उद्यमी और विरोधी के भेद से हिंसा चार प्रकार की मानी गई है। 'मैं इस जीव को मारूँ' इस प्रकार के विचार से बलिदान आदि के समय जो हिंसा होती है उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। गृहस्थी सम्बन्धी अन्य कार्य करने में जो हिंसा होती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। खेती तथा अन्य उद्योगों से होने वाली हिंसा को उद्यमी हिंसा कहते हैं और शत्रु से अपना बचाव करने के लिए जो हिंसा होती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। इन चार प्रकार की हिंसाओं से अहिंसाणुव्रती जीव मात्र संकल्पी हिंसा का त्याग कर पाता है। शेष तीन हिंसाओं का नहीं और वह भी मात्र त्रस जीवों की हिंसा का। सामान्य रूप से हिंसादि पापों का त्याग मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से नौ प्रकार का होता है। परन्तु यह गृहविरत गृहस्थ के ही संभव हो सकता है, गृहनिरत गृहस्थ के नहीं। गृहनिरत–घर में रहने वाला गृहस्थ यथाशक्ति तीन, छह तथा नौ कोटियों से हिंसादि पापों का त्याग करता है। उमास्वामी महाराज ने हिंसा का लक्षण लिखा है–**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा** अर्थात् प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण–विघात करना हिंसा है। यहाँ 'प्रमत्तयोग' इस हेतु में ही मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों का समावेश किया गया है ॥५३॥

तस्येदानीमतीचारानाह –

छेदनबन्धनपीडन,–मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च, स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥५४॥

अन्वयार्थ–(स्थूलवधाद्व्युपरतेः) स्थूलवध से विरत श्रावक के **(छेदन-बन्धन-पीडनम्)**

छेदना, बाँधना, पीड़ा देना **(अतिभारारोपणम्)** अधिक भार लादना **(अपि)** और **(आहार-वारणा)** आहार का रोकना **[एते]** ये **(पञ्च)** पाँच **(व्यतीचाराः)** अतिचार हैं।

निर्बल नौकर पशु पर भारी, भार लादना रोज व्यथा,
छेदन भेदन पीड़न करना, देना कम ही भोज तथा।
अहिंसाणुव्रत के पाँचों ये, अतीचार हैं त्याज्य रहें,
तजता वह, भजता सुर सुख औ, क्रमशः शिव साम्राज्य गहें॥५४॥

टीका—'व्यतीचारा' विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः। कति ? 'पञ्च'। कस्य ? 'स्थूलवधाद्-व्युपरतेः'। कथमित्याह 'छेदनेत्यादि कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं अभिमतदेशे गतिनिरोध-हेतुर्बन्धनं, पीडा दण्डकशाद्यभिघातः अतिभारारोपणं न्याय्यभारादधिकभारारोपणं। न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किन्तु 'आहारवारणापि च' आहारस्य अन्नपानलक्षणस्य वारणा निषेधो धारणा वा निरोधः ॥५४॥

अब उस अहिंसाणुव्रत के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ— विविधा विरूपका वा अतिचारा दोषाः व्यतीचाराः इस समास के अनुसार व्यतीचार का अर्थ होता है–नाना प्रकार के अथवा व्रत को विरूप-विकृत करने वाले दोष। दुर्भावना से नाक, कान आदि अवयवों को छेद देना, इष्ट स्थान पर जाने से रोकने के लिये रस्सी आदि से बाँध देना, डंडा तथा कोड़ा आदि से पीटना, उचित भार से अधिक भार लादना और अन्न पान रूप आहार का निषेध करना अथवा रोककर थोड़ा देना ये पाँच अहिंसाणुव्रत के व्यतीचार हैं।

विशेषार्थ— अतिचारोंऽशभञ्जनम् इस लक्षण के अनुसार अतिचार का अर्थ होता है व्रत का एकदेश भङ्ग होना। ऊपर अहिंसाणुव्रत का लक्षण लिखते हुए मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों का उल्लेख किया गया है अर्थात् उपर्युक्त नौ कोटियों से व्रत की पूर्णता होती है। इन नौ कोटियों से कुछ कोटियों के द्वारा व्रत को दूषित करना अतिचार कहलाता है और सभी कोटियों से व्रत को भंग कर देना अनाचार कहलाता है। इस प्रकार भङ्गाभङ्ग की अपेक्षा अर्थात् किसी अपेक्षा से व्रत का भङ्ग होना और किसी अपेक्षा से व्रत का भङ्ग नहीं होना अतिचार का रूप है। छेदन, बन्धन आदि दोषों के बावजूद भी प्राण रक्षा का भाव रहता है इसलिए व्रत का अभङ्ग है और कष्ट देने का भाव रहता है इसलिये व्रत का भंग है। यहाँ छेदन, बन्धन आदि दोषों का व्याख्यान करते समय दुर्भावना शब्द की योजना ऊपर से कर लेना चाहिए अन्यथा लड़की के नाक, कान छिदाना, दूषित अङ्गोपाङ्गों का काटना, रोग को दूर करने के लिए आहारादि का रोकना भी अतिचार में संमिलित हो जावेगा। उमास्वामी महाराज ने भी अहिंसाणुव्रत के ये ही पाँच अतिचार बतलाये हैं– **बन्धवधच्छेदाति-भारारोपणान्नपाननिरोधाः** अर्थात् बन्ध, वध (पीड़ा), छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये

पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं। प्रश्न है कि अणुव्रत का धारक मनुष्य घर में गाय, भैंस आदि पशुओं के रखने पर उन्हें बाँधता है या नहीं ? यदि बाँधता है तो बन्ध नाम का अतिचार होता है और नहीं बाँधता है तो वे उत्पात करते हैं ? इस विषय में आचार्यों ने उत्तम, मध्यम और जघन्य का विभाग करते हुए तीन व्यवस्थाएँ दी हैं। उत्तम तो यह है कि व्रती मनुष्य गाय, भैंस आदि को रखता नहीं है। मध्यम यह है कि यदि रखता है तो किसी अहाते में उन्हें बिना बन्धन के रखता है। जघन्य यह कि ऐसा बन्धन देता है जिसे वे उपसर्ग के समय तोड़कर अपनी प्राणरक्षा कर सकें।

अमितगति आचार्य ने अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार की चर्चा करते हुए उनके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं– [१]मानसिक शुद्धि का नष्ट होना अतिक्रम है, शील रूप बाड़ का लंघन करना व्यतिक्रम है, विषयों में कदाचित् प्रवृत्ति करना अतिचार है और विषयों में अत्यन्त आसक्त हो जाना अनाचार है। परन्तु अतिचार की उक्त व्याख्या समन्तभद्राचार्य को इष्ट नहीं मालूम होती है। अतिचार के प्रकरण में इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि वह प्रमाद या अज्ञानदशा में जब कभी लगता है और व्रत का धारक मनुष्य उस अतिचार के लगने पर पश्चात्ताप अनुभव करता है परन्तु जब वही अतिचार बुद्धिपूर्वक बार-बार लगाया जाता है तथा उसके होने पर व्रती मनुष्य को कोई पश्चात्ताप नहीं होता है तब वह अतिचार, अनाचार का रूप ले लेता है।

चरणानुयोग में चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि तथा रक्षा के अंगों का वर्णन रहता है, अतः अतिचारों का प्रकरण व्रत की रक्षा के अंगों का उल्लेख करने के लिए ही उपस्थित किया गया है। अर्थात् इन अतिचारों का निराकरण करने से ही व्रत की रक्षा हो सकती है। उमास्वामी महाराज ने व्रत की रक्षा करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं की चर्चा की है।[२] वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं।[३] इनके होने पर ही अहिंसाव्रत की रक्षा हो सकती है। वचन को वश में रखने से वाचनिक हिंसा से रक्षा होती है। मन को नियन्त्रित रखने अर्थात् मन से दूसरे के विषय में खोटा चिन्तन न करने से मानसिक हिंसा से रक्षा होती है, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और देखभाल कर भोजन करने से कायिक हिंसा से रक्षा होती है। वास्तव में उक्त पाँच कार्यों के द्वारा ही मनुष्य हिंसा करता है। यहाँ इन पाँचों कार्यों पर नियन्त्रण लगाकर अहिंसाव्रत की रक्षा किस प्रकार हो सकती है, इसका सुगम समाधान दिया है ॥५४॥

एवमहिंसाणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाह–

---

१. क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्। सामायिकपाठ, आचार्य अमितगति

२. ''तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च''। त० सू० २

३. ''वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च''। त० सू०

स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो **(स्थलूम्)** स्थूल **(अलीकम्)** झूठ को **(न वदति)** न स्वयं बोलता है **(न परान् वादयति)** न दूसरों से बुलवाता है और ऐसा **(सत्यम् अपि)** सत्य भी न स्वयं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है जो **(विपदे)** दूसरों की विपत्ति के लिए हो **(तत्)** उसकी उस क्रिया को **(सन्तः)** सत्पुरुष **(स्थूल-मृषावाद-वैरमणम्)** स्थूल असत्यकथन/झूठ का त्याग अर्थात् सत्य अणुव्रत **(वदन्ति)** कहते हैं।

स्थूल झूठ ना स्वयं बोलता, तथा न पर से बुलवाता,
तथा सत्य से बच, बचवाता, पर पर यदि संकट आता।
स्थूल सत्यव्रत यही रहा है, श्रावक पाले मन हरषे,
पर उपकारों में रत गणधर, इस विध कहते सुख बरसे ॥५५॥

टीका—'स्थूलमृषावादवैरमणं' स्थूलश्चासौ मृषावादश्च तस्माद्वैरमणं विरमणमेव वैरमणं 'तद्वदन्ति'। के ते ? 'सन्तः' सत्पुरुषाः गणधरदेवादयः। तत्किं, सन्तो यन्न वदन्ति। 'अलीकम् सत्यं। कथंभूतं ? 'स्थूलं यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्वयं तावन्न वदति। तथा 'परान्' अन्यान् तथाविधमलीकं न 'वादयति'। न केवलमलीकं किन्तु 'सत्यमपि' चोरोऽयमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति। किंविशिष्टं यदुक्तं सत्यमपि परस्य 'विपदे'ऽपकाराय भवति ॥५५॥

इस प्रकार अहिंसाणुव्रत का प्रतिपादन कर अब सत्याणुव्रत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

टीकार्थ— विरमणमेव वैरमणम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार वैरमण' शब्द में स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है। इसलिये जो अर्थ 'विरमण' शब्द का होता है वही 'वैरमण' शब्द का होता है। स्थूल का अर्थ यह है कि जिसके कहने पर निज और पर के लिये राजादिक से वध-बन्धनादिक प्राप्त हो। ऐसे स्थूल झूठ को जो न तो स्वयं बोलता है और न प्रेरणा कर दूसरों से बुलवाता है। साथ ही ऐसा सत्य भी जैसे 'यह चोर है' इत्यादि, न स्वयं बोलता है, न दूसरों से बुलवाता है उसे सत्याणुव्रत कहते हैं।

विशेषार्थ— उमास्वामी महाराज ने असत्य का लक्षण लिखा है— असदभिधानमनृतम्। इसका व्याख्यान चार प्रकार से होता है—**१. न सत् इति असत् अविद्यमानमित्यर्थः तस्य अभिधानं कथनमिति असद्भिधानम्** अर्थात् अविद्यमान पदार्थ का कथन करना, जैसे देवदत्त के न रहते हुए भी कहना कि देवदत्त है। यह असदुद्भावन अविद्यमान को प्रकट करने वाला पहला असत्य है। **२. सतो विद्यमानस्य अभिधानं सदभिधानं न सदभिधानमिति असदभिधानम्** अर्थात् विद्यमान पदार्थ का कथन नहीं करना, जैसे देवदत्त के रहते हुए भी कहना कि देवदत्त नहीं है, यह सदपलाप विद्यमान वस्तु को मेटने वाला दूसरा असत्य है। **३. ईषत् सत्। असत् तस्य अभिधानं असदभिधानम्**

यहाँ असत् शब्द के साथ जो नञ् का प्रयोग हुआ है वह 'अनुदरा' कन्या के समान ईषद् अर्थ में हुआ है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में कहा गया है उस रूप में तो नहीं है। परन्तु उसका कार्य सिद्ध कर देता है, इसलिये उसके समान कहा जाता है। जैसे कमण्डलु को घट कहना। यहाँ कमण्डलु जुदा है और घट जुदा है, इसलिये आकार की अपेक्षा कमण्डलु को घट कहना मिथ्या है, परन्तु जलधारण रूप कार्य दोनों का एक सदृश है, इसलिये उक्त वाक्य ईषद् सत् के कथन में आता है। यह अन्यरूपाभिधान अन्य को अन्य रूप कहना तीसरा असत्य है। **४. सत् प्रशस्तं न सत् असत् अप्रशस्तं असच्च तत् अभिधानं चेति असदभिधानम्** अर्थात् अप्रशस्त वचन बोलना। जैसे काने को काना, लंगड़े को लंगड़ा आदि कहना, निन्दा तथा चुगली के वचन कहना तथा अप्रिय एवं कर्कश वचन कहना, यह गर्हितादि वचन नाम का चौथा असत्य है। इन चारों प्रकार के असत्य वचनों का परित्याग करना सत्याणुव्रत है। सत्याणुव्रती ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है जो प्राण घात का करने वाला हो। जैसे कोई शिकारी अपनी मुट्ठी में जिन्दा चिड़िया की गर्दन दबाकर एक सत्यवादी से पूछता है कि बताओ यह जिन्दा है या मरी ? सत्यवादी विचार करता है कि यदि मैं इसे जिन्दा कहता हूँ तो अभी हाल यह गर्दन को दबाकर इसे मार डालेगा। और मरी कहता हूँ तो इसे छोड़कर कहेगा कि देखो, यह तो जिन्दा है तुम कैसे सत्यवादी हो। ऐसा विचार कर सत्यवादी ने उत्तर दिया–यह चिड़िया मरी है। शिकारी ने तत्काल चिड़िया को मुट्ठी से छोड़कर कहा कि तुम कैसे सत्यवादी हो। जहाँ जीवरक्षा का भाव होने से असत्य वचन भी सत्य वचन के रूप में परिणत हो गया है। विचारणीय प्रश्न यह है कि सत्यवादी के सामने एक कातिल ने एक निरपराध व्यक्ति की हत्या कर दी। हत्या के अपराध में वह पकड़ा गया। गवाही के लिये उस सत्यवादी को बुलाया गया। यदि सत्यवादी सत्य कहता है तो कातिल को प्राणदण्ड की सजा मिलती है और असत्य कहता है तो वह छूट तो जाता है पर उससे अन्याय का समर्थन होता है जिसके फलस्वरूप उस कातिल के द्वारा अन्य अनेक जीवों की भी हिंसा हो सकती है। इस स्थिति में सत्यवादी सत्य बोले या असत्य ?

उस समय परिस्थिति के अनुसार सत्यवादी तीन कार्य कर सकता है। प्रथम तो वह इस प्रकार की गवाही के चक्र में न पड़े। द्वितीय यह कि यदि वह कातिल अपने पाप से घृणा करने लगता है और आगामी के लिये वैसा अपराध नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है तो उसकी प्राणरक्षा के अभिप्राय से सत्य नहीं बोले और तृतीय यह कि अन्य अनेक जीवों के रक्षा के अभिप्राय से वह सत्य बोले, क्योंकि संसार में अराजकता फैले तथा उसके फलस्वरूप अनेक जीवों की हत्या हो, यह एक जीव के प्राणघात की अपेक्षा अधिक पाप है ॥५५॥

साम्प्रतं सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह–

परिवादरहोभ्याख्यापैशुन्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च, व्यतिक्रमा: पञ्च सत्यस्य ॥५६॥

अन्वयार्थ–([1]**परिवादरहोऽभ्याख्यापैशुन्यम्)** मिथ्योपदेश/दोषारोपण, रहोभ्याख्यान/रहस्योद्घाटन, चुगलखोरी **(कूटलेखकरणम्)** कूटलेख/झूठे दस्तावेज लिखना **(अपि च)** और **(न्यासापहारिता)** धरोहर को हड़प करने के वचन कहना व धरोहर को हड़प लेना **[एते]** ये **(पञ्च)** पाँच **(सत्यस्य)** सत्य अणुव्रत के **(व्यतिक्रमाः)** अतिचार **[सन्ति]** हैं।

कभी धरोहर डकार जाना, अहित पंथ को 'हित' कहना,
नर-नारी के गुप्त प्रणय को, प्रकटाना चुगली करना।
ईर्षावश, नहिं किये कहे को, किये कहे यों लिख देना,
स्थूल-सत्यव्रत के ये दूषण, रस इनका ना चख लेना ॥५६॥

टीका–परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थः। रहोऽभ्याख्या रहसि एकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं। पैशुन्यं अङ्गविकार-भ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमन्त्रभेद इत्यर्थः। कूटलेखकरणं च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किञ्चिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं कूटलेखकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थः। न्यासापहारिता द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यं द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनं। एवं परिवादादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पञ्चमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पञ्च व्यतिक्रमाः अतीचारा भवन्ति ॥५६॥

आगे सत्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ– परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष प्रयोजन वाली क्रिया विशेषों में दूसरे को अन्यथा प्रवृत्ति कराना परिवाद या मिथ्योपदेश है। स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकान्त में की हुई विशिष्ट क्रिया को प्रकट करना रहोभ्याख्या है। अंगविकार तथा भौंहों का चलाना आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जान कर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना पैशुन्य है। यही साकारमन्त्रभेद कहलाता है। दूसरे के द्वारा अनुक्त अथवा अकृत किसी कार्य के विषय में ऐसा कहना कि यह उसने कहा है अथवा किया है इस प्रकार धोखा देने के अभिप्राय से कपटपूर्ण लेख लिखना कूटलेखकरण है। तथा धरोहर को रखने वाला पुरुष अपनी धरोहर की संख्या भूलकर अल्पसंख्यक द्रव्य को माँग रहा है, तो उससे कहना कि हाँ, ऐसा ही है, इसे न्यासापहारिता कहते हैं। इस प्रकार परिवादादिक चार और न्यासापहारिता पाँचवीं, सब मिलकर सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार होते हैं।

विशेषार्थ– उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में सत्याणुव्रत के अतिचार निम्न प्रकार लिखे हैं–**मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारितासाकारमन्त्रभेदाश्च** अर्थात्

---

१. परिवादश्च रहोभ्याख्या च पैशुन्यञ्च एतेषां समाहारः परिवादरहोभ्यापैशुन्यम् इति समाहारद्वन्द्वे एकवद्-भावान्नपुंसकत्वं। अन्यथा 'परिवादरहोभ्याख्ये पैशुन्यं इति पाठः स्यात्।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहारिता और साकारमन्त्रभेद, ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं। समन्तभद्रस्वामी ने अतिचार निरूपण में उमास्वामी महाराज का अनुकरण तो किया है परन्तु कितने ही अतिचारों में उन्होंने परिवर्तन भी किया है। जैसे इसी सत्याणुव्रत के अतिचारों में परिवाद और पैशुन्य इन दो नवीन अतिचारों का समावेश किया है और मिथ्योपदेश तथा साकारमन्त्रभेद को छोड़ा है। लोक में परिवाद का अर्थ निन्दा और पैशुन्य का अर्थ चुगली प्रसिद्ध है। संभव है यही अर्थ स्वामी समन्तभद्र को वांछित रहा होगा। परन्तु संस्कृत टीकाकार ने तत्त्वार्थसूत्र के अतिचार से मेल बैठाने के लिए परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश और पैशुन्य का अर्थ साकारमन्त्रभेद कर दिया है जो कि शब्दों पर से प्रतिफलित नहीं होता। समन्तभद्र स्वामी परमविचारक विद्वान् थे, इसलिये उन्होंने अतिचारों में तो परिवर्तन किया ही है, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामों में भी परिवर्तन किया है। जैसे तत्त्वार्थसूत्रकार ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत माना है। परन्तु समन्तभद्र स्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीन को गुणव्रत तथा देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। कुन्दकुन्द स्वामी ने सल्लेखना का चार शिक्षाव्रतों में समावेश किया है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार तथा स्वामिसमन्तभद्र आदि ने उसका पृथक् ही वर्णन किया है।

सत्यव्रत की रक्षा के लिये तत्त्वार्थसूत्रकार ने **क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च** अर्थात् क्रोधत्याग, लोभत्याग, भीरुत्वत्याग, हास्यत्याग और अनुवीचिभाषण-आगमानुकूल भाषण ये पाँच भावनाएँ बतलायी हैं। इनके होने पर भी सत्यव्रत की रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं। असत्य बोलने के दो प्रमुख कारण हैं-एक कषाय और दूसरा अज्ञान। कषाय निमित्तक असत्य से बचने के लिए क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग कराया है, क्योंकि ये चारों ही कषाय के रूप हैं और अज्ञानमूलक असत्य से बचने के लिये अनुवीचि भाषण-आचार्य परम्परा से प्राप्त आगमानुकूल वचन बोलने की भावना कराई है। इस भावना के लिये आगम का अभ्यास करना पड़ता है। आगम के अभ्यास से अज्ञानमूलक असत्य दूर होता है ॥५६॥

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह-

निहितं वा पतितं वा, सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
न हरति यन्न च दत्ते, तदकृशचौर्य्यादुपारमणम् ॥५७॥

अन्वयार्थ-(यत्) जो **(निहितम्)** रखी हुई **(पतितम्)** गिरी हुई **(सुविस्मृतम्)** भूली हुई **(वा)** और **(अविसृष्टम्)** बिना दी गई **(परस्वम्)** अन्य की वस्तु को **(न हरति)** न लेता है **(च)** और **[अन्यस्मै]** दूसरे के लिए **(न दत्ते)** न देता है **(तत्)** उसकी वह क्रिया **(अकृशचौर्यात् उपारमणम्)** स्थूल चोरी से परित्यागरूप अचौर्य अणुव्रत है।

रखी हुई या गिरी हुई या, कभी भूल से कहीं रही,
औरों की जो वस्तु रही हो, दी न गई हो निजी नहीं।
उसे न लेना, अन्य किसी को तथा न देना भूल कभी,
'अचौर्य अणुव्रत' यही रहा है, रहा सौख्य का मूल यही ॥५७॥

टीका–'अकृशचौर्यात्' स्थूलचौर्यात्। 'उपारमणं' तत्। 'यत् न हरति' न गृह्णाति। किं तत् ? 'परस्वं' परद्रव्यं। कथंभूतं ? 'निहितं वा' धृतं। तथा 'पतितं वा'। तथा सुविस्मृतं वा' अतिशयेन विस्मृतं। वाशब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चये। इत्थंभूतं 'परस्वं अविसृष्टं' अदत्तं यत्स्वयं 'न हरति' न दत्तेऽन्यस्मै तदकृशचौर्यादुपारमणं प्रतिपत्तव्यम् ॥५७॥

अब अचौर्याणुव्रत का स्वरूप बतलाये हुए कहते हैं–

टीकार्थ– अकृशचौर्य का अर्थ स्थूल चोरी है। अर्थात् लोक में जो चोरी के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके लिये राजकीय और सामाजिक दण्ड व्यवस्था निश्चित है। इस स्थूल चोरी से उपारमण–निवृत्त होना सो अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रत का धारक पुरुष किसी के रखे हुए, पड़े हुए या भूले हुए धन को बिना दिये न स्वयं ग्रहण करता है न उठाकर दूसरे को देता है।

विशेषार्थ–तत्त्वार्थसूत्रकार ने चोरी का लक्षण लिखते हुए **अदत्तादानं स्तेयम्** यह सूत्र लिखा है जिसका अर्थ है अदत्त–बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। स्वामी समन्तभद्र ने अदत्त शब्द की व्याख्या करते हुए उसके तीन रूप निर्धारित किये हैं–१. निहित, २. पतित और ३. सुविस्मृत। कोई मनुष्य अपने पास किसी वस्तु को रख गया अथवा किसी के निज के मकान में कोई धन कहीं रखा था। मकान बेचते समय उसे उस धन को निकालने का ध्यान नहीं रहा, ऐसे धन को लेना निहित धन की चोरी है। किसी के खरीदे हुए मकान में यदि कोई धन मिलता है तो अचौर्याणुव्रत का धारी मनुष्य उस मकान मालिक को वापिस करता है। यदि किसी पुराने खण्डहर आदि में धन मिलता है और उसके असली स्वामी का पता नहीं चलता है तो इस स्थिति में अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य इसकी सूचना राज्य में देता है क्योंकि **अस्वामिकस्य वित्तस्य दायादो मेदिनीपतिः** अर्थात् जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसे धन का स्वामी राजा होता है। मार्ग में चलते समय किसी की कोई वस्तु गिर जाये उसे पतित कहते हैं। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य ऐसे धन को न स्वयं उठाता है और न उठाकर दूसरे को देता है। यदि मन में यह विकल्प आता है कि इस पड़ी हुई वस्तु को मैं नहीं उठाता हूँ तो न जाने मेरे पीछे आने वाले किसके हाथ में पड़ेगी और फिर उस वस्तु के मालिक को इसका मिल पाना असम्भव हो जावेगा, तो उस वस्तु को उठाकर किसी राजकीय कार्यालय में जमा करा देना चाहिए और उसकी सूचना प्रसारित करा देना चाहिए। कोई मनुष्य अपने पास धरोहर के रूप में कुछ धन रख गया, पीछे भूल गया अथवा रखने वाले व्यक्ति की अकस्मात् मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी पुत्र आदि को उसकी खबर नहीं। इस स्थिति में उस धन को माँगने के लिये कोई नहीं आता है तो ऐसा धन सुविस्मृत

कहलाता है। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य ऐसे धन को अपने पास नहीं रखता। वह उसके उत्तराधिकारी को स्वयं ही वापिस करता है। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य आयकर, विक्रय कर तथा निगम कर आदि को नहीं चुराता तथा अपने भाइयों आदि के हिस्से को भी नहीं हड़पता ॥५७॥

तस्येदानीमतिचारानाह–

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥५८॥

अन्वयार्थ–(चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः) चौरप्रयोग–अन्य को चोरी के उपाय बताना या प्रोत्साहन देना, चौरार्थादान–चोरों के द्वारा चुराये गए माल–धन को ग्रहण करना, विलोप–राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, सदृशसन्मिश्र–अधिक मूल्य की वस्तुओं में उसी के समान कम मूल्य की वस्तुओं को मिलाना **(च)** और **(हीनाधिकविनिमानम्)** हीनाधिकविनिमान –नापने तौलने के गज/मीटर बाँट आदि को लेने के बड़े व ज्यादा तथा देने के छोटे व कम रखना **[एते]** ये **(पंच)** पाँच **(अस्तेये)** अचौर्य अणुव्रत के **(व्यतीपाताः)** अतिचार **[सन्ति]** हैं।

चोरी करने प्रेरित करना, चौर्य द्रव्य पर से लेना,
काम मिलावट का करना औ, सत्ता का कर नहिं देना।
माप-तौल में बढ़न-घटन कर लेन-देन करते रहना,
अचौर्य अणुव्रत के ये पाँचों, दोष इन्हें हरते रहना ॥५८॥

टीका– 'अस्तेये' चौर्यविरमणे। 'व्यतीपाता' अतीचाराः पञ्च भवन्ति। तथा हि। चौरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वाप्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं। चौरार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्य ग्रहणं। विलोपश्च उचितन्यायादन्येन प्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः। विरुद्धराज्ये स्वल्पमूल्यानि महार्घाणि द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति। सदृशसन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः सदृशेन तैलादिनासन्मिश्रं घृतादिकं करोति। कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वकं व्यवहारं करोति। हीनाधिकविनिमानं विविधं नियमेन मानं विनिमानं मानोन्मानमित्यर्थः। मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि, तच्च हीनाधिकं, हीनेन अन्यस्मै ददाति, अधिकेन स्वयं गृह्णातीति ॥५८॥

अब अचौर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ– अचौर्याणुव्रत में निम्नांकित पाँच अतिचार हैं–**१. चौरप्रयोग**–चोरी करने वाले चोर के लिए स्वयं प्रेरणा देना, दूसरे से प्रेरणा दिलाना और किसी ने प्रेरणा दी हो तो उसकी अनुमोदना करना चौर प्रयोग है। **२. चौरार्थादान**–जिसे अपने द्वारा प्रेरणा नहीं दी गई है तथा जिसकी अनुमोदना नहीं की गई है ऐसे चोर के द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तु को ग्रहण करना चौरार्थादान है। चोरी का माल खरीदने से चोर को चोरी की प्रेरणा मिलती है। **३. विलोप**–उचितन्याय को छोड़कर अन्य प्रकार के पदार्थ का

ग्रहण करना विलोप कहलाता है। इसे ही विरुद्धराज्यातिक्रम कहते हैं। जिस राज्य के साथ अपने राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध है अर्थात् जिस राज्य में अपने राज्य की वस्तुओं का आना-जाना राज्य की ओर से निषिद्ध किया गया है उसे विरुद्धराज्य कहते हैं। विरुद्धराज्य में महँगी वस्तुएँ स्वल्प मूल्य में मिलती हैं ऐसा मानकर वहाँ स्वल्प मूल्य में वस्तुओं को खरीदना और तस्कर व्यापार के द्वारा अपने राज्य में लाकर अधिकमूल्य में बेचना विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है। **४. सदृशसन्मिश्र**-समान रूप-रंग वाली नकली वस्तु, असली वस्तु में मिलाकर असली वस्तु के भाव से बेचना, जैसे घी को तेल आदि मिश्रित करना अथवा कृत्रिम-बनावटी-नकली सोना-चाँदी के द्वारा धोखा देते हुए व्यापार करना सदृशसन्मिश्र कहलाता है। **५. हीनाधिकविनिमान** - जिनसे वस्तुओं का विनिमान-आदान-प्रदान लेन-देन होता है उन्हें विनिमान कहते हैं। इन्हीं को मानोन्मान भी कहते हैं। जिसमें भरकर या जिससे तौलकर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे मान कहते हैं, जैसे प्रस्थ, तराजू आदि। और जिससे नापकर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे उन्मान कहते हैं, जैसे फुट, गज आदि। किसी वस्तु को देते समय हीन मान-उन्मान का और खरीदते समय अधिक मान-उन्मान का प्रयोग करना हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है।

अचौर्याणुव्रत का धारी मनुष्य इन सब अतिचारों से दूर रहकर अपने व्रत को सुरक्षित रखता है।

विशेषार्थ— तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी अचौर्याणुव्रत के यही अतिचार निरूपित किये हैं। जैसे- **स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः** अर्थात् स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। समन्तभद्र स्वामी ने विरुद्धराज्यातिक्रम के बदले विलोप शब्द रखा है जिसका अर्थ राजकीय कानून का उल्लंघन करना होता है। विरुद्धराज्यातिक्रम भी इसी में गतार्थ हो जाता है।

अचौर्यव्रत की रक्षा के लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने निम्नलिखित पाँच भावनाओं का वर्णन किया है-**शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च** अर्थात् **शून्या-गारावास** -पर्वत की गुफाओं तथा वृक्ष की कोटरों आदि प्राकृतिक, शून्य स्थानों में निवास करना, **विमोचितावास**-राजा आदि के द्वारा छुड़वाये हुए-उजड़े गृहों में निवास करना, **परोपरोधाकरण** - अपने स्थान पर दूसरे के ठहर जाने पर रुकावट नहीं करना, **भैक्ष्यशुद्धि**-चरणानुयोग की पद्धति से भिक्षा की शुद्धि रखना और **सधर्माविसंवाद**-सहधर्मी जनों के साथ उपकरण आदि के प्रसंग को लेकर विसंवाद नहीं करना, इन पाँच कार्यों से अचौर्यव्रत की रक्षा होती है। मुनि इन भावनाओं का साक्षात्-प्रवृत्ति रूप और गृहस्थ भावना रूप से पालन करते हैं ॥५८॥

साम्प्रतमब्रह्मविरत्यणुव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह–

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदार-निवृत्तिः, स्वदार-सन्तोष-नामापि ॥५९॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो **(पापभीतेः)** पाप के भय से **(परदारान्)** परस्त्रियों के प्रति **(न तु)** न तो **(गच्छति)** स्वयं गमन करता है **(च)** और **(न परान्)** न दूसरों को **(गमयति)** गमन कराता है **(सा)** वह क्रिया **(परदार-निवृत्तिः)** परस्त्री-त्यागरूप **(अपि)** एवम् **(स्वदारसन्तोषनाम)** स्वदारसंतोष नामक ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

पाप कर्म से डरते हैं जो, पर-वनिता का भोग नहीं,
स्वयं तथा पर को प्रेरित नहिं, करते हैं बुध लोग कभी।
पर वनिता का त्याग रूप वह, ब्रह्मचर्य अणुव्रत भाता,
तथा उसी का अपर नाम है 'स्वदार-सन्तोषित' साता ॥५९॥

टीका–''सा परदारनिवृत्तिः''। यत् 'परदारान्' परिगृहीतानपरिगृहीतांश्च। स्वयं 'न च' नैव। 'गच्छति'। तथा 'परान्[1] अन्यान् परदारलम्पटान् न गमयति परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च[2]। कुतः? पापभीतेः' पापोपार्जनभयात् न पुनः नृपत्यादिभयात्। न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते किन्तु[3] 'स्वदार-सन्तोषनामापि' स्वदारेषु सन्तोषः स्वदारसन्तोषस्तन्नाम यस्याः[4] ॥५९॥

अब अब्रह्मत्याग अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– श्लोक में आये हुए परदारान् शब्द का समास दो प्रकार का होता है–**१. परस्य दाराः परदारास्तान्** अर्थात् पर की स्त्रियों अथवा **२. पराश्च ते दाराश्च परदारास्तान्** अर्थात् परस्त्रियाँ। इसमें पहले समास से पर के द्वारा परिगृहीत स्त्रियों का बोध होता है और दूसरे समास से पर के द्वारा अपरिगृहीत अविवाहित कन्याओं अथवा वेश्याओं का ग्रहण होता है। इस प्रकार इन परिगृहीत और अपरिगृहीत-दोनों प्रकार की परस्त्रियों के साथ पाप के भय से न कि राजकीय और सामाजिक भय से, न स्वयं संगम करना और न परस्त्रीलम्पट अन्य पुरुषों को गमन कराना परस्त्रीत्याग अणुव्रत है। इसी को स्वपरदारसन्तोषव्रत भी कहते हैं।

विशेषार्थ–जिनके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है उन्हें स्वस्त्री कहते हैं और इनके सिवाय जो अन्य स्त्रियाँ हैं वे परस्त्रियाँ कहलाती हैं। परस्त्रियाँ, परिगृहीत और अपरिगृहीत के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जो दूसरे के द्वारा विवाहित हैं वे परिगृहीत कहलाती है और जो अविवाहित हैं अथवा वेश्या आदि के समान जो उन्मुक्त-स्वच्छन्द हैं वे अपरिगृहीत हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारीपुरुष स्वस्त्रियों को छोड़कर अन्य दोनों प्रकार की परस्त्रियों से दूर रहता है। उसका यह दूर रहना पाप के भय से होता है, राजा आदि के भय से नहीं, क्योंकि अभिप्राय पूर्वक पाप से निवृत्ति होने को ही व्रत कहते हैं, अशक्ति

१. परदारान् क ख पाठः। २. पुष्पमध्यगतो पाठः ग पुस्तके नास्ति। ३. अपि तु ख ग पाठः। ४. यस्य क पाठः।

अथवा किसी अन्य भय से निवृत्ति होने को व्रत नहीं कहते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने ब्रह्मचर्याणुव्रत के लिए परदारनिवृत्ति और स्वदारसंतोष इन दो नामों का प्रयोग किया है, उससे यह भाव ध्वनित होता है कि ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारक पुरुष देश-काल के अनुसार अपनी अनेक स्त्रियाँ हो तो उनका समागम कर सकता है, पर स्त्रियों का नहीं। वह अपनी स्त्रियों में ही संतुष्ट रहता है, अन्य स्त्रियों में उसकी विकार पूर्ण दृष्टि नहीं होती ॥५९॥

तस्यातीचारानाह–

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडा-विटत्व-विपुलतृषः ।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥६०॥

अन्वयार्थ–(अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडा-विटत्व-विपुलतृषः) अन्य विवाहाकरण –परिवार को छोड़कर अन्य के बेटे बेटियों का विवाह सम्बन्ध कराना, अनंगक्रीड़ा–काम सेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से कामसेवन करना, विटत्व–शरीर से कामुक चेष्टा व वचनों से गालियाँ देना, जारपना स्त्रियों के स्वाँग/वेश बनाना, विपुलतृषा–कामसेवन की तीव्र अभिलाषा रखना और **(इत्वरिका-गमनं)** इत्वरिकागमनं–व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना-जाना और उनसे सम्बन्ध रखना ये **(पञ्च)** पाँच **(अस्मरस्य)** ब्रह्मचर्य अणुव्रत के **(व्यतीचारः)** अतिचार हैं।

पर के विवाह करना, अनुचित अंग संग मैथुन करना,
गाली गलौच देना, इच्छा काम-भोग की अति करना।
व्याभिचारिणी के घर जाना, आना वार्तादिक करना,
ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँचों दूषण हैं इनसे डरना ॥६०॥

टीका–'अस्मरस्याब्रह्मनिवृत्त्यणुव्रतस्य। पञ्च व्यतीचाराः। कथमित्याह-अन्येत्यादि कन्यादानं-विवाहोऽन्यस्य विवाहोऽन्यविवाहः तस्य आ समन्तात् करणं, तच्च अनङ्गक्रीड़ा च अङ्गं लिङ्गं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा। विटत्वं भण्डिमाप्रधानकायवाक्प्रयोगः। विपुलतृट् च कामतीव्राभिनिवेशः। इत्वरिकागमनं च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवं शीला इत्वरी पुंश्चली कुत्सायां के कृते इत्वरिका भवति यत्र गमनं चेति ॥६०॥

अब ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ– आ ईषत् स्मरः कामो यस्य स अस्मरः तस्य इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके स्वस्त्री विषयक थोड़ा राग रहता है उसे अस्मर अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रती कहते हैं। इस व्रत के धारक पुरुष को निम्नांकित पाँच अतिचारों का परित्याग करना चाहिए–**अन्यविवाहाकरण**–कन्यादान को विवाह कहते हैं। अपनी या अपने आश्रित भाई आदि की सन्तान को छोड़कर अन्य लोगों की संतान अन्य संतान है। उन अन्य संतानों का विवाह प्रमुख बनकर करना अन्यविवाहाकरण है। **अन्यविवाहस्य**

आ समन्तात् करणं अन्यविवाहाकरणम् इस व्युत्पति से यह भाव प्रकट होता है कि जो पटिया बनकर दूसरों का विवाह सम्बन्ध जुटाते रहते हैं उनके उस कार्य के प्रति ही आचार्य का संकेत है। सहधर्मी भाई के नाते उनके पुत्र-पुत्रियों के विवाह में सम्मिलित होना ब्रह्मचर्याणुव्रती के लिये निषिद्ध नहीं है। **अनङ्गक्रीड़ा**-कामसेवन के लिए निश्चित अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। **विटत्व**-शरीर से कुचेष्टा करना और मुख से अश्लील भद्दे वचनों का प्रयोग करना विटत्व है। **विपुलतृषा**-कामसेवन की तीव्र आसक्ति को विपुलतृषा कहते हैं। **इत्वरिकागमन**-व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं। ऐसी स्त्रियों के साथ उठना-बैठना तथा व्यापारिक सम्पर्क बढ़ाना इत्वरिकागमन है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकार ने ब्रह्मचर्याणुव्रत के निम्नांकित पाँच अतिचार कहे हैं-**परविवाह-करणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः** अर्थात् १. परविवाहकरण, २. परिगृहीतेत्वरिकागमन, ३. अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, ४. अनंगक्रीड़ा, ५. कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं। समन्तभद्र स्वामी ने परिगृहीतेत्वरिकागमन और अपरिगृहीतेत्वरिका-गमन इन दो अतिचारों को एक इत्वरिकागमन में सम्मिलित कर विटत्व का अलग से समावेश किया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा के लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने निम्नलिखित पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है-**स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागः पञ्च** अर्थात् स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग करना, उनके मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना, पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना, गरिष्ठ एवं कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग करना और अपने शरीर की सजावट का त्याग करना इन भावनाओं से ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है ॥६०॥

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाह-

धनधान्यादिग्रन्थं, परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥६१॥

अन्वयार्थ—(धनधान्यादिग्रन्थम्) धन-धान्यादि परिग्रहों को **(परिमाय)** परिमित/सीमित कर **(ततः)** उनसे **(अधिकेषु)** अधिक परिग्रहों में **(निःस्पृहता)** इच्छा रहित होना **(परिमितपरिग्रहः)** परिमित परिग्रह **(अपि)** अथवा **(इच्छा-परिमाणनाम)** इच्छापरिमाण नामक अणुव्रत **(स्यात्)** होता है।

दशविध परिग्रह धान्यादिक का, समुचित सीमित कोष करे,
संग्रह उससे अधिक संग का, नहीं करे, मन तोष धरे।
'परिमित परिग्रह' पंचम अणुव्रत यही रहा सुन सही जरा,
'इच्छा परिमाणक' भी प्यारा नाम इसी का तभी परा ॥६१॥

टीका—'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रहविरतिरणुव्रतं स्यात्। कासौ ? या 'ततोऽधिकेषु निस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसंख्यातेभ्योऽर्थेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वांछाव्यावृत्तिः। किं कृत्वा? 'परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा। कं ? 'धनधान्यादिग्रन्थं' धनं गवादि, धान्यं ब्रीह्यादि। आदिशब्दाद् दासीदासभार्यागृहक्षेत्र-द्रव्यसुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसंग्रहः। स चासौ ग्रन्थश्च तं परिमाय। स च परिमितपरिग्रहः 'इच्छापरिमाणनामापि' स्यात्, इच्छायाः परिमाणं यस्य स इच्छापरिमाणस्तन्नाम यस्य स तथोक्तः ॥६१॥

अब आगे परिग्रहविरति-अणुव्रत का स्वरूप दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ—गाय, भैंस आदि को धन कहते हैं। धान्य, गेहूँ, चना आदि को धान्य कहते हैं । आदि शब्द से दासी-दास, स्त्री-मकान, खेत, नकद द्रव्य, सोना-चाँदी के आभूषण तथा वस्त्र आदि का संग्रह होता है। यही सब परिग्रह कहलाता है। अपनी इच्छानुसार देव तथा गुरु के पादमूल में इसका परिमाण कर उससे अधिक में इच्छा रहित होना परिमित परिग्रह नाम का अणुव्रत है। इसका इसमें परिमाण किया जाता है। इस अणुव्रत में अपनी इच्छाओं को परिमित-सीमित किया जाता है इसलिये इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाणव्रत भी है। इस अणुव्रत में अपनी इच्छा का परिमाण किया जाता है, इसलिए इसका दूसरा नाम इच्छा परिमाण भी है।

विशेषार्थ-परितः गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा को सब ओर से जकड़ ले उसे परिग्रह कहते हैं। परिग्रह का वाच्यार्थ **मूर्च्छा** है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने कहा है—मूर्च्छा परिग्रहः अर्थात् पर-पदार्थों में जो मूर्च्छा-ममत्व भाव है वही परिग्रह कहलाता है। यह परिग्रह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। अन्तरंग परिग्रह मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादिक नौ नोकषाय के भेद से चौदह प्रकार का होता है। और बहिरंग परिग्रह चेतन, अचेतन के भेद से दो प्रकार का होता है। दासी-दास आदि द्विपद और गाय, भैंस आदि चतुष्पद चेतन परिग्रह तथा खेत, मकान, सोना, चाँदी आदि अचेतन परिग्रह हैं। सब मिलाकर क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड के भेद से बहिरंग परिग्रह दश[१] प्रकार का माना गया है। परिग्रहत्याग महाव्रत में इन सभी परिग्रहों का त्याग रहता है। परन्तु गृहस्थ परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार उसकी सीमा निश्चित कर सकता है। इसलिये गृहस्थों के लिए परिग्रह परिमाण अणुव्रत धारण करने का उपदेश दिया गया है। गृहस्थ की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। किसी का परिवार थोड़ा है, अतः उसका काम

१. क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासनं च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश॥
क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम्।
द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्या दशा परिग्रहाः॥४३३॥ सोमदेव उपासकाध्ययन

थोड़े परिग्रह से चल सकता है और किसी का परिवार बड़ा है, अतः उसे अधिक परिग्रह रखना पड़ता है। इसलिए आचार्यों ने परिग्रह परिमाणव्रत को इच्छा परिमाण नाम भी दिया है। अर्थात् इसमें अपनी इच्छाओं के अनुसार परिमाण किया जाता है। यहाँ एक भाव यह भी है कि मनुष्य बढ़ती हुई इच्छाओं के कारण परिग्रह का संचय करता है अतः अपनी इच्छाओं का परिमाण करना आवश्यक है, परिमाण किये हुए परिग्रह से अधिक परिग्रह में किसी प्रकार की वाँछा नहीं रखना, इस व्रत की विशेषता है ॥६१॥

तस्यातिचारानाह–

अतिवाहनातिसंग्रह - विस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥६२॥

अन्वयार्थ–(अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि) अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारवहन **[एते]** ये **(पञ्च)** पाँच **(परिमित-परिग्रहस्य)** परिग्रह परिमाण अणुव्रत के **(विक्षेपाः)** अतिचार **(लक्ष्यन्ते)** निश्चित किए जाते हैं।

बहुत भार को ढोना संग्रह, व्यर्थ संग का अति करना,
पर धन लख विस्मित होना अतिलोभी बहु वाहन रखना।
परिमित परिग्रह पंचम अणुव्रत, के पाँचों ये दोष रहे,
इस विध कहते जिनवर हमको, वीतराग गतदोष रहे ॥६२॥

टीका–'विक्षेपाः' अतीचाराः पञ्च 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते। कस्य ? परिमितपरिग्रहस्य न केवलम-हिंसाद्यणुव्रतस्य पञ्चातीचारा निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि। चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे। के तस्यातीचारा इत्याह–अतिवाहनेत्यादि। लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेश-वशादतिवाहनं करोति। यावन्न हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनं। अतिशब्दः प्रत्येकं लोभान्तानां सम्बध्यते। इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहं करोति। तत्प्रतिपन्नलाभेन विक्रीते[१] तस्मिन् मूलतोऽप्यसंगृहीत्वाधिकेऽर्थे लब्धे लोभावेशादति-विस्मयं विषादं करोति। विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकांक्षावशादतिलोभं करोति। लोभावेशादधिक-भारारोपणमतिभारवाहनं। ते विक्षेपाः पञ्च ॥६२॥

आगे परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ– विक्षेप का अर्थ अतिचार है। जिस प्रकार अहिंसादि अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं। उसी प्रकार परिग्रह परिमाणाणुव्रत के भी पाँच अतिचार निश्चित किये जाते हैं। श्लोक में आया हुआ 'च' शब्द 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वे अतिचार इस प्रकार हैं– **अतिवाहन** लोभ की तीव्रता को कम करने के लिये परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश से अधिक वाहन करता है अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते

१. प्रतिपन्न.।

हैं उससे अधिक मार्ग पर उन्हें चलाता है तो उसकी यह क्रिया **अतिवाहन** कहलाती है। इस व्रत के धारी किसी मनुष्य ने बैल आदि की संख्या तो कम कर ली, परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नहीं किया इसलिये उन कम किये हुए बैल आदि को ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थिति में अतिवाहन नाम का अतिचार होता है। **अतिसंग्रह**–''यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा'' इस लोभ के वश में कोई उसका अत्यधिक संग्रह करता है। उसका यह कार्य अतिसंग्रह नाम का अतिचार है। **अति विस्मय**–संगृहीत वस्तु को वर्तमान भाव से बेच देने पर किसी का मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरे के द्वारा ठहरकर बेचने पर उसे अधिक लाभ हुआ, इस स्थिति में लोभ के आवेश से अतिविस्मय अतिखेद करता है। यह अतिविस्मय नाम का अतिचार है। **अतिलोभ**–विशिष्टलाभ मिलने पर भी और भी अधिक लाभ की इच्छा से कोई अधिक लोभ करता है तो उसका वह अतिलोभ नाम का अतिचार है। **अतिभारवहन**–लोभ के आवेश से अधिक भार लादना अतिभारवहन नाम का अतिचार है। एक अतिभारारोपण अतिचार अहिंसाणुव्रत का भी है परन्तु वहाँ कष्ट देने का भाव रहता है और यहाँ अधिक लाभ प्राप्त करने का–अथवा अतिभारारोपण का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने कारोबार को इतना अधिक फैला लेना, जिसकी वह स्वयं सँभाल नहीं कर सकता है और उसके कारण उसे सदा व्यग्र रहना पड़ता है।

विशेषार्थ–तत्त्वार्थसूत्रकार ने परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार दूसरे ही लिखे हैं। यथा – **क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा:** अर्थात् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम–खेत और मकान के प्रमाण का उल्लंघन करना, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम–चाँदी, सोना आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना, धनधान्यप्रमाणातिक्रम–पशुधन तथा अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना, दासीदासप्रमाणातिक्रम–दास–दासियों के प्रमाण का उल्लंघन करना और कुप्यप्रमाणातिक्रम–वस्त्र तथा बर्तनों के प्रमाण का उल्लंघन करना ये पाँच परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं। क्षेत्र वास्तु आदि के प्रमाण के उल्लंघन करने का प्रकार ऐसा है– जैसे किसी ने नियम लिया है कि मैं एक खेत और एक मकान रखूँगा। बाद में पास के खेत और मकान को खरीदकर बीच की सीमा तोड़ दी तथा दोनों को एक कर लिया। यहाँ संख्या तो एक खेत या एक मकान की कर ली, परन्तु उसके प्रमाण में विस्तार कर लिया। इन स्थिति में भंगाभंग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार सोना–चाँदी के विषय में किसी ने नियम लिया कि मैं गले का एक, हाथ के दो और पैर का एक आभूषण रखूँगा। पीछे चलकर लोभ सताने से उसने उन आभूषणों में और भी सोना–चाँदी मिलवाकर फिर से आभूषण बनवा लिये। यहाँ आभूषणों की संख्या तो पहले की तरह रही, परन्तु उनके परिमाण में वृद्धि हो गई। इस तरह भंगाभंग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार अन्य अतिचारों के विषय में लगा लेना चाहिए।

इस व्रत की रक्षा के लिये उमास्वामी महाराज ने निम्नलिखित पाँच भावनाएँ लिखी हैं–

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च॥ त. सू.॥ स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषय में रागद्वेष नहीं करना परिग्रहत्याग व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥६२॥

एवं प्ररूपितानि पञ्चाणुव्रतानि निरतिचाराणि किं कुर्वन्तीत्याह—

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥६३॥

अन्वयार्थ—(निरतिक्रमणाः) अतिचार रहित **(पञ्चाणुव्रतनिधयः)** पाँच अणुव्रतरूपी निधियाँ **(सुरलोकम्)** स्वर्गलोक को **(फलन्ति)** फलती/देती हैं **(यत्र)** जिस स्वर्गलोक में **(अवधिः)** अवधिज्ञान **(अष्टगुणाः)** अणिमा आदि आठ गुण/ऋद्धियाँ **(च)** और **(दिव्यशरीरम्)** सप्त धातुओं से रहित सुन्दर वैक्रियिक शरीर **(लभ्यन्ते)** प्राप्त होते हैं।

अतीचार से रहित रही हैं, सारी अणुव्रत की निधियाँ,
नियमरूप से शीघ्र दिखाती, स्वर्गों की स्वर्णिम गलियाँ।
अणिमा महिमादिक आठों गुण अवधिज्ञान से सहित मिले,
भव्य-दिव्य मणिमय-सी काया छाया से जो रहित मिले ॥६३॥

टीका—'फलन्ति' फलं प्रयच्छन्ति। के ते ? 'पञ्चाणुव्रतनिधयः' पञ्चाणुव्रतान्येव निधयो निधानानि। कथंभूतानि ? 'निरतिक्रमणा' निरतिचाराः। किं फलन्ति ? सुरलोकं। यत्र सुरलोके लभ्यन्ते'। कानि ? 'अवधिरवधिज्ञानं'। 'अष्टगुणा' अणिमामहिमेत्यादयः। 'दिव्यशरीरं च' सप्तधातुविवर्जितं शरीरं। एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते ॥६३॥

इस प्रकार अतिचार रहित पाँच अणुव्रतों का वर्णन किया। अब ये क्या फल देते हैं ? यह कहते हैं—

टीकार्थ— अतिचार रहित पाँच अणुव्रत निधियों के समान हैं। इनका निरतिचार पालन करने से नियम पूर्वक स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उस स्वर्ग की जहाँ कि भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान नियम से प्राप्त होता है। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ ऋद्धियाँ तथा धातु, उपधातु से रहित परम सुन्दर वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है।

विशेषार्थ— अणुव्रत धारण करने वाले जीव बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क की अपेक्षा दो प्रकार के हैं। जो अणुव्रत धारण करने के पहले आयु बाँध चुकते हैं वे बद्धायुष्क कहलाते हैं और जो अणुव्रतों के काल में आयु बाँधते हैं वे अबद्धायुष्क कहलाते हैं। ये दोनों प्रकार के जीव नियम से देव ही होते हैं। क्योंकि ऐसा नियम है कि देवायु को छोड़कर जिस जीव को अन्य आयु का बन्ध हो जाता है वह उस पर्याय में अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता और अणुव्रत के काल में यदि आयु बन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है। देवायु में भी वैमानिक देवायु का ही बन्ध होता है।

अणुव्रत धारण करने के पूर्व यदि किसी की मिथ्यादृष्टि अवस्था है तो उसमें भवनत्रिक की देवायु बंध सकती है, परन्तु अणुव्रत होने पर उसकी भवनत्रिक की आयु वैमानिक की आयु के रूप में परिवर्तित हो जावेगी। अणुव्रतों का धारी जीव सोलहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकता है उसके आगे नहीं। उसके आगे नवग्रैवेयक आदि में उत्पन्न होने के लिये निर्ग्रन्थ मुद्रा का धारण करना आवश्यक है ॥६३॥

इह लोके किं[१] न कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठीयते इत्याशङ्क्याह–

मातङ्गो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः, पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥

अन्वयार्थ–अणुव्रत धारियों में **(मातङ्गः)** यमपाल नामक चाण्डाल **(धनदेवः)** धनदेव **(वारिषेणः)** वारिषेण **(नीली)** वणिक्पुत्री नीली **(च)** और **(जयः)** जयकुमार क्र म से अहिंसा आदि अणुव्रतों में **(उत्तमम्)** उत्तम **(पूजातिशयम्)** पूजा के अतिशय को **(सम्प्राप्ताः)** प्राप्त हुए हैं।

आदिम में मातंग रहा है, दूजे में धनदेव रहे,
वारिषेण नीली जय क्रमशः अन्य व्रतों में, देव कहे।
इस विध अणुव्रत पालन में ये, दक्ष रहे निष्णात हुए,
पूजा अतिशय यश पाया है, भविक जनों में ख्यात हुए ॥६४॥

टीका–हिंसाविरत्यणुव्रतात् मातङ्गेन चाण्डालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

सुरम्यदेशे पोदन[२]पुरे राजा महाबलः[३] नन्दीश्वराष्टम्यां राज्ञा[४] अष्टदिनानि जीवामार[५]णघोषणायां कृतायां बलकुमारेण चात्यन्तमांसासक्तेन कञ्चिदपि पुरुषमपश्यता राजोद्याने[६] राजकीयमेण्ढकः प्रच्छन्नेन[७] मारयित्वा संस्कार्य भक्षितः। राज्ञा च मेण्ढकमारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्ढकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः। तदुद्यानमालाकारेण च वृक्षोपरि चटितेन स तन्मारणं कुर्वाणो दृष्टः। रात्रौ च निजभार्यायाः कथितं। ततः[८] प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं। प्रभाते मालाकारोऽप्याकारितः। तेनैव पुनः कथितं। मदीयामाज्ञां मम पुत्रः[९] खण्डयतीति रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो बलकुमारं नवखण्डं कारयेति। ततस्तं कुमारं मारणस्थानं नीत्वा[१०] मातङ्गमानेतुं[११] ये गताः पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्तं प्रिये ! मातङ्गो ग्रामं गत इति कथय त्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तलारैश्चाकारिते मातङ्गे कथितं मातङ्ग्या[१२] सोऽद्य ग्रामं गतः। भणितं च तलारैः स पापोऽपुण्यवानद्य ग्रामं गतः कुमारमारणात्तस्य

---

१. किं कस्याप्य घ। २. पोदनापुरे क ग पाठः। ३. पुत्रो बलः घ। ४. राजाज्ञया घ। ५. जीवामाणे घ। ६. राज्योद्याने ख ग पाठः। ७. प्रच्छन्नो घ। ८. ततः प्रच्चन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं इति पाठः घ पुस्तके नास्ति। ९. पुत्रोऽपि घ। १०. यमपालमातङ्गं घ। ११. मातङ्गं नेतुं घ। १२. सौ अद्य घ।

बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत्। तेषां वचनमाकर्ण्य द्रव्यलुब्धया तया[1] हस्तसंज्ञया स दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः पुनर्भणन्त्या। ततस्तैस्तं गृहान्निःसार्य तस्य मारणार्थं च कुमारः समर्पितः। तेनोक्तं नाहमद्य चतुर्दशीदिने जीवघातं करोमि। ततस्तलारैः स नीत्वा राज्ञः कथितः देव ! अयं राजकुमारं न मारयति। तेन च राज्ञः कथितं सर्पदष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वौषधिमुनिशरीरस्य[2] वायुना पुनर्जीवितोऽहं तत्पार्श्वे चतुर्दशीदिवसे मया जीवाहिंसाव्रतं गृहीतमतोऽद्य न मारयामि देवो यज्जानाति तत्करोतु। अस्पृश्यचाण्डालस्य[3] व्रतमिति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढं बन्धयित्वा सुमारद्रहे[4] निक्षेपितौ। तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्य-हिंसाव्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये[5] सिंहासन-मणिमण्डपिकादुन्दुभिसाधुकारादि-प्रातिहार्यादिकं कृतं। महाबलराजेन चैतदाकर्ण्यभीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतले स्नापयित्वा[6] स स्पृश्यो विशिष्ट[7]कृत इति प्रथमाणुव्रतस्य।

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहः पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौ। तत्र धनदेवः सत्यवादी। द्रव्यस्य लाभं द्वावप्यर्धमर्धं ग्रहीष्याव इति निःसाक्षिकां व्यवस्थां कृत्वा दूरदेशं गतौ। बहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुट्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामायातौ। तत्र जिनदेवो लाभार्धं धनदेवाय न ददाति। स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति ततो झकट[8]के न्याये[9] च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो निःसाक्षिक-व्यवहारबलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धंभणितमुचितमेव भणितं। धनदेवश्च सत्यदेवं वदति द्वयोरर्धमेव। ततो राजनियमात्तयोर्दिव्यं दत्तं धनदेवः शुद्धो नेतरः। ततः सर्वं द्रव्यं धनदेवस्य समर्पितं तथा सर्वे पूजितः साधुकारितश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य।

चौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशयः प्राप्तः। अस्य कथा स्थितीकरणगुण-व्याख्यानप्रघट्टके कथितेह द्रष्टव्येति तृतीयाणुव्रतस्य।

ततः परं नीली जयश्च। ततस्तेभ्यः परं यथा भवत्येवं पूजातिशयं प्राप्तौ। तत्राब्रह्म-विरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशयं प्राप्ता।

अस्याः कथा

लाटदेशे[10] भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपालः। वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीली अतिशयेन रूपवती। तत्रैवापरः श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्रः सागरदत्तः।

एकदा महापूजायां वसन्तौ कायोत्सर्गेण[11] संस्थितां सर्वाभरणविभूषितां नीलीमालोक्य सागरदत्ते-

---

१. तया मातङ्गभीतया ग घ पाठः। २. शरीरस्पर्शि घ। ३. चाण्डालस्यापि घ। ४. शिशुमारह्रदे पाठः ग घ पुस्तके। ५. सिंहासनमणि-मण्डपिका देवदुंदुभि-साधुकारादिप्रातिहार्यकृतं घ। ६. स्थापयित्वा ग। ७. सस्पृश्यो विशिष्टः कृत इति घ। ८. कटकेति पाठः। ९. न्यायस्य च घ। १०. ललाटे देशे ग। ११. काम्योत्सर्गस्थिता घ।

नोक्तं किमेषापि[1] देवता काचितदेतदाकर्ण्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणितं–जिनदत्तश्रेष्ठिन इयं पुत्री नीली। तद्रूपालोकनादतीवासक्तो भूत्वा कथमियं प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो जातः। समुद्रदत्तेन चैतदाकर्ण्य भणितः–हे पुत्र ! जैनं मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमां पुत्रिकां परिणेतुं। ततस्तौ कपटश्रावकौ जातौ परिणीता च सा, ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नील्याश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धं, एवं वञ्चने जाते भणितं जिनदत्तेन–इयं मम न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीता इति। नीली च श्वसुरगृहे भर्तुः वल्लभा[2] भिन्नगृहे जिनधर्ममनुतिष्ठन्ती तिष्ठति। दर्शनात् संसर्गाद्वचन-धर्मदेवाकर्णनाद्वा कालेनेयं बुद्धभक्ता भविष्यतीति पर्यालोच्य समुद्रदत्तेन भणिता–नीली पुत्रि! ज्ञानिनां वन्दकानामस्मदर्थं भोजनं देहि। ततस्तया वन्दकानामामन्त्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहितातिपिष्टा[3] संस्कार्य तेषामेव भोक्तुं दत्ता। तैर्भोजनं भुक्त्वा गच्छद्भिः प्रष्टं–क्व प्राणहिताः ? तथोक्तं भवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु यत्र तास्तिष्ठन्ति, यदि पुनर्ज्ञानं नास्ति तदा वमनं कुर्वन्तु भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति। एवं वमने कृते दृष्टानि प्राणहिताखण्डानि। ततोरुष्टश्च श्वसुरपक्षजनः। ततः सागरदत्तभगिन्या कोपात्तस्या असत्यपर–पुरुषदोषोद्भावना कृता। तस्मिन् प्रसिद्धिगते सा नीली देवाग्रं संन्यासं गृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता, दोषोत्तारे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति। ततः क्षुभितनगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता–हे महासति! मा प्राणत्यागमेवं कुरु, अहं राज्ञः प्रधानानां पुरजनस्य स्वप्नं ददामि। लग्ना यथा नगरप्रतोल्यः कीलिता महासतीवामचरणेन संस्पृश्य उद्घटिष्यन्तीति। ताश्च प्रभाते भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं वा उद्घटिष्यन्तीति[4] पादेन प्रतोलीस्पर्शं कुर्यास्त्वमिति भणित्वा राजादीनां तथा स्वप्नं दर्शयित्वा पत्तनप्रतोलीः कीलित्वा स्थिता सा नगरदेवता। प्रभाते कीलिताः प्रतोलीर्दृष्ट्वा राजादिभिस्तं स्वप्नं स्मृत्वा[5] नगरस्त्रीचरणताडनं प्रतोलीनां कारितं। न चैकापि प्रतोली कयाचिदप्युद्घटिता। सर्वासां पश्चान्नीली तत्रोत्क्षिप्य नीता। तच्चरणस्पर्शात् सर्वा अप्युद्घटिताः प्रतोल्यः, निर्दोषा राजादिपूजिता च नीली जाता चतुर्थाणुव्रतस्य।

परिग्रहविरत्यणुव्रताज्जयः पूजातिशयं प्राप्तः।

अस्य कथा

कुरुजाङ्गलदेशे हस्तिनागपुरे कुरुवंशे राजा सोमप्रभः, पुत्रो जयः परिमितपरिग्रहो भार्या-सुलोचनायामेव प्रवृत्तिः। एकदा पूर्वविद्याधर[6] भवकथनानन्तरं समायात–पूर्वजन्मविद्यौ[7] [8]हिरण्यधर्म-प्रभावतीविद्याधररूपमादाय च मेर्वादौ वन्दनाभक्तिं कृत्वा कैलासगिरौ भरतप्रतिष्ठापित–चतुर्विंशति-जिनालयान् वन्दितुमायातौ सुलोचनाजयौ। तत्प्रस्तावे च सौधर्मेन्द्रेण जयस्य स्वर्गे परिग्रहपरिमाणव्रतप्रशंसा कृता। तां परीक्षितुं रतिप्रभदेवः समायातः। ततः स्त्रीरूपमादाय चतसृभिर्विलासिनीभिः सह जयसमीपं

१. किमेषा घ। २. विभिन्न घ। ३. मृष्टा ग घ। नगर सर्वस्त्री। ४. ताश्च प्रभाते। ५. भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं व उद्घटिष्यन्तीति इति पङ्क्तिः घ पुस्तके नास्ति। ६. 'भवकथनान्तरं समायातपूर्वजन्मविद्यो हिरण्यधर्मप्रभावती' इत्यंशो घ पुस्तके नास्ति। ७. जन्माद्यः ग घ। ८. वर्म ग घ॥

गत्वा भणितो जयः। सुलोचनास्वयंवरे येन त्वया सह संग्रामः कृतः तस्य नमिविद्या[१]धरपते राज्ञो सुरूपामभिनवयौवनां सर्वविद्याधारिणीं तद्विरक्तचित्तामिच्छ, यदि तस्य राज्यमात्मजीवितं च वांछसीति। एतदाकर्ण्य जयेनोक्तं-हे सुन्दरि! मैवं ब्रूहि, परस्त्री मम जननीसमानेति। ततस्तया जयस्योपसर्गे महति कृतेऽपि चित्तं न चलितं। ततो मायामुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रशस्य वस्त्रादिभिः पूजयित्वा स्वर्गं गत इति पञ्चमाणुव्रतस्य ॥६४॥

आगे क्या इस लोक में किसी जीव को अहिंसादि अणुव्रतों के धारण करने के फल की प्राप्ति नहीं देखी गई है जिससे कि परलोक के लिये ही उनकी आराधना की जाती है ? ऐसी आशंका कर आचार्य उत्तर देते हैं–

टीकार्थ– हिंसा विरति नामक अणुव्रत से यमपाल चाण्डाल ने उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसकी कथा इस प्रकार है–

अहिंसाणुव्रत में प्रसिद्ध यमपाल चाण्डाल की कथा

सुरम्य देश पोदनपुर नगर में राजा महाबल रहता था। नंदीश्वर पर्व की अष्टमी के दिन राजा ने यह घोषणा की कि आठ दिन तक जीवघात नहीं किया जावेगा। राजा का बल नाम का एक पुत्र था, जो कि मांस खाने में आसक्त था। उसने यह विचारकर कि यहाँ कोई पुरुष दिखाई नहीं दे रहा है, इसलिये छिपकर राजा के बगीचे में राजा के मेंढा को मरवाकर तथा पकवाकर खा लिया। राजा ने जब मेंढा मारे जाने का समाचार सुना, तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने मेंढा मारने वाले की खोज शुरू कर दी। उस बगीचे का माली पेड़ के ऊपर चढ़ा था। उसने मेंढा को मारते हुए राजकुमार को देख लिया था। माली ने रात में यह बात अपनी स्त्री से कही। तदनन्तर छिपे हुए गुप्तचर पुरुष ने राजा से यह समाचार कह दिया। प्रातःकाल माली भी बुलाया गया। उसने भी यह समाचार फिर कह दिया। मेरी आज्ञा को मेरा पुत्र ही खण्डित करता है इससे रुष्ट होकर राजा ने कोटपाल से कहा कि बलकुमार के नौ टुकड़े करा दो अर्थात् उसे मरवा दो।

तदनन्तर उस कुमार को मारने के स्थान पर ले जाकर चाण्डाल को लाने के लिये जो आदमी गये थे उन्हें देखकर चाण्डाल ने अपनी स्त्री से कहा कि हे प्रिये! तुम इन लोगों से कह दो कि चाण्डाल गाँव गया है। ऐसा कहकर वह घर के कोने में छिपकर बैठ गया। जब सिपाहियों ने चाण्डाल को बुलाया तब चाण्डाली ने कह दिया कि वह आज गाँव गया है। सिपाहियों ने कहा कि वह पापी अभागा आज गाँव चला गया। राजकुमार को मारने से उसे बहुत भारी सुवर्ण और रत्नादि का लाभ होता। उनके वचन सुनकर चाण्डाली को धन का लोभ आ गया। अतः वह मुख से तो बार-बार यही कहती रही कि वह गाँव गया है परन्तु हाथ के संकेत से उसे दिखा दिया। तदनन्तर सिपाहियों ने उसे

---

१. नमिविद्याधराधिपतेः घ।

घर से निकाल कर मारने के लिये वह राजकुमार सौंप दिया। चाण्डाल ने कहा कि मैं आज चतुर्दशी के दिन जीवघात नहीं करता हूँ। तब सिपाहियों ने उसे ले जाकर राजा से कहा कि देव यह राजकुमार को नहीं मार रहा है। उसने राजा से कहा कि एक बार मुझे साँप ने डस लिया था, जिससे मृत समझकर मुझे श्मशान में डाल दिया गया था। वहाँ सर्वौषधि ऋद्धि के धारक मुनिराज के शरीर की वायु से मैं पुनः जीवित हो गया उस समय मैंने उन मुनिराज के पास चतुर्दशी के दिन जीवघात न करने का व्रत लिया था, इसलिये आज मैं नहीं मार रहा हूँ–आप जो जानो सो करो। अस्पृश्य चाण्डाल के भी व्रत होता है यह विचार कर राजा बहुत रुष्ट हुआ और उसने दोनों को मजबूत बंधवाकर सुमार (शिशुमार) नामक तालाब में डलवा दिया। उन दोनों में चाण्डाल ने प्राणघात होने पर भी अहिंसा व्रत को नहीं छोड़ा था, इसलिये उसके व्रत के माहात्म्य से जलदेवता ने जल के मध्य सिंहासन, मणिमय मण्डप, दुन्दुभिबाजों का शब्द तथा साधुकार–अच्छा किया आदि शब्दों का उच्चारण यह सब महिमा की। महाबल राजा ने जब यह समाचार सुना तब भयभीत होकर उसने चाण्डाल का सम्मान किया तथा अपने छत्र के नीचे उसका अभिषेक कराकर उसे स्पर्श करने के योग्य विशिष्ट पुरुष घोषित कर दिया। यह प्रथम अणुव्रत की कथा पूर्ण हुई।

सत्याणुव्रत से धनदेव सेठ ने पूजातिशय को प्राप्त किया था। उसकी कथा इस प्रकार है–

सत्याणुव्रत में प्रसिद्ध धनदेव की कथा

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देश में एक पुण्डरीकिणी नामक नगरी है। उसमें जिनदेव और धनदेव नाम के दो अल्प पूँजी वाले व्यापारी रहते थे। उन दोनों में धनदेव सत्यवादी था। एक बार वे दोनों जो लाभ होगा उसे आधा–आधा ले लेवेंगे। ऐसे बिना गवाह की व्यवस्था कर दूर देश गये। वहाँ बहुत–सा धन कमाकर लौटे और कुशलता–पूर्वक पुण्डरीकिणी नगरी आ गये। उनमें जिनदेव, धनदेव के लिये लाभ का आधा भाग नहीं देता था। वह उचित समझकर थोड़ा–सा द्रव्य उसे देता था। तदनन्तर झगड़ा होने पर न्याय होने लगा। पहले कुटुम्बीजनों के सामने, फिर महाजनों के सामने और अन्त में राजा के आगे मामला उपस्थित किया गया। परन्तु बिना गवाही का व्यवहार होने से जिनदेव कह देता कि मैंने इसके लिये लाभ का आधा भाग देना नहीं कहा था, उचित भाग ही देना कहा था। धनदेव सत्य ही कहता था कि दोनों का आधा–आधा भाग ही निश्चित हुआ था। तदनन्तर राजकीय नियम के अनुसार उन दोनों को दिव्यन्याय[१] दिया गया। अर्थात् उनके हाथों पर जलते हुए अंगारे रखे गए। इस दिव्य न्याय से धनदेव निर्दोष सिद्ध हुआ, दूसरा नहीं। तदनन्तर सब धन धनदेव के लिये दिया गया और धनदेव सब लोगों के द्वारा पूजित हुआ तथा धन्यवाद को प्राप्त हुआ। इस प्रकार द्वितीय अणुव्रत की कथा है।

---

१. जिन अभियोगों में गवाही नहीं होती थी, उनमें शुद्धपक्ष का निर्णय करने के लिये अग्निपरीक्षा, विषपरीक्षा और तुलारोहणपरीक्षा की जाती थी, इसे दिव्यन्याय कहते थे।

चौर्य विरति अणुव्रत से वारिषेण ने पूजा का अतिशय प्राप्त किया था। इसकी कथा स्थितीकरणगुण के व्याख्यान के प्रकरण में कही गई है। वह इस प्रकरण में भी देखना चाहिए। इस प्रकार तृतीय अणुव्रत की कथा है। मातङ्ग, धनदेव और वारिषेण के आगे नीली और जयकुमार पूजातिशय को प्राप्त हुए हैं। उनमें अब्रह्मविरति अणुव्रत-ब्रह्मचर्याणुव्रत से नीली नाम की वणिकपुत्री पूजातिशय को प्राप्त हुई है। उसकी कथा इस प्रकार है-

नीली की कथा

लाटदेश के भृगुकच्छ नगर में राजा वसुपाल रहता था। वहीं एक जिनदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था। उनके एक नीली नाम की पुत्री थी, जो अत्यन्त रूपवती थी। उसी नगर में एक समुद्रदत्त नाम का सेठ रहता था, उसकी स्त्री का नाम सागरदत्ता था और उन दोनों के एक सागरदत्त नाम का पुत्र था। एक बार महापूजा के अवसर पर मन्दिर में कायोत्सर्ग से खड़ी हुई तथा समस्त आभूषणों से सुन्दर नीली को देखकर सागरदत्त ने कहा कि क्या यह भी कोई देवी है ? यह सुनकर उसके मित्र प्रियदत्त ने कहा कि यह जिनदत्त सेठ की पुत्री नीली है। नीली का रूप देखने से सागरदत्त उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया और यह किस तरह प्राप्त हो सकती है, इस प्रकार उसके विवाह की चिन्ता से दुर्बल हो गया। समुद्रदत्त ने यह सुनकर उससे कहा कि हे पुत्र ! जैन को छोड़कर अन्य किसी के लिये जिनदत्त इस पुत्री को विवाह के लिये नहीं देता है।

तदनन्तर वे दोनों पिता पुत्र कपट से जैन हो गये और नीली को विवाह लिया। विवाह के पश्चात् वे फिर बुद्धभक्त हो गये। उन्होंने नीली का पिता के घर जाना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार धोखा होने पर जिनदत्त ने यह कहकर संतोष कर लिया कि यह पुत्री मेरे हुई ही नहीं है अथवा कुँआ आदि में गिर गई है अथवा मर गई है। नीली अपने पति को प्रिय थी, अतः वह ससुराल में, जिनधर्म का पालन करती हुई एक भिन्न घर में रहने लगी।

समुद्रदत्त ने यह विचार कर कि बौद्ध साधुओं के दर्शन से, संसर्ग से, उनके वचन, धर्म और देव का नाम सुनने से काल पाकर यह बुद्ध की भक्त हो जायेगी, एक दिन समुद्रदत्त ने कहा कि नीली बेटी ? बौद्ध साधु बहुत ज्ञानी होते हैं, उन्हें देने के लिये हमें भोजन बनाकर देओ। तदनन्तर नीली ने बौद्ध साधुओं को निमन्त्रित कर बुलाया और उनकी एक-एक प्राणहिता-पनहिया जूती को अच्छी तरह पीसकर तथा मसालों से सुसंस्कृत कर उन्हें खाने के लिए दे दिया। वे बौद्ध साधु भोजन कर जब जाने लगे तो उन्होंने पूछा कि हमारी जूतियाँ कहाँ हैं ? नीली ने कहा कि आप ही अपने ज्ञान से जानिये, जहाँ वे स्थित हैं। यदि ज्ञान नहीं है तो वमन कीजिये, आपकी जूतियाँ आपके ही पेट में स्थित हैं। इस प्रकार वमन किये जाने पर उनमें जूतियों के टुकड़े दिखाई दिये। इस घटना से नीली के ससुर पक्ष के लोग बहुत रुष्ट हो गये।

तदनन्तर सागरदत्त की बहन ने क्रोधवश उसे परपुरुष के संसर्ग का झूठा दोष लगाया। जब इस दोष की प्रसिद्धि सब ओर फैल गई, तब नीली भगवान् जिनेन्द्र के आगे संन्यास लेकर कायोत्सर्ग से खड़ी हो गई और उसने नियम ले लिया कि इस दोष से पार होने पर ही मेरी भोजन आदि में प्रवृत्ति होगी, अन्य प्रकार नहीं। तदनन्तर क्षोभ को प्राप्त हुई नगरदेवी ने आकर रात्रि में उससे कहा कि हे महासती! इस तरह प्राणत्याग मत करो, मैं राजा को तथा नगर के प्रधान पुरुषों को स्वप्न देती हूँ कि नगर के सब प्रधान द्वार कीलित हो गये हैं, वे महापतिव्रता स्त्री के बाँये चरण के स्पर्श से खुलेंगे। वे प्रधान द्वार प्रातःकाल आपके पैर का स्पर्श कर खुलेंगे, ऐसा कहकर वह नगरदेवी राजा आदि को वैसा स्वप्न दिखाकर तथा नगर के प्रधान द्वारों को बन्दकर बैठ गई। प्रातःकाल नगर के प्रधान द्वारों को कीलित देखकर राजा आदि ने पूर्वोक्त स्वप्न का स्मरण कर नगर-की सब स्त्रियों के पैरों से द्वारों को ताड़ना कराई। परन्तु किसी भी स्त्री के द्वारा एक भी प्रधान द्वार नहीं खुला। सब स्त्रियों के बाद नीली को भी वहाँ उठाकर ले जाया गया। उसके चरणों के स्पर्श से सभी प्रधान द्वार खुल गये। इस प्रकार नीली निर्दोष घोषित हुई और राजा आदि के द्वारा सम्मान को प्राप्त हुई। यह चतुर्थ अणुव्रत की कथा पूर्ण हुई।

परिग्रहविरति अणुव्रत से जयकुमार पूजातिशय को प्राप्त हुआ था। उसकी कथा इस प्रकार है–

जयकुमार की कथा

कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर नगर में कुरुवंशी राजा सोमप्रभ रहते थे। उनके जयकुमार नाम का पुत्र था। वह जयकुमार परिग्रहपरिमाणव्रत का धारी था तथा अपनी स्त्री सुलोचना से ही सम्बन्ध रखता था। एक समय, पूर्व विद्याधर के भवों की कथा के बाद जिन्हें अपने पूर्वभवों का ज्ञान हो गया था, ऐसे जयकुमार और सुलोचना हिरण्यधर्मा और प्रभावती नामक विद्याधर युगल का रूप रखकर मेरु आदि पर वन्दना-भक्ति करके कैलास पर्वत पर भरत चक्रवर्ती के द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस जिनालयों की वन्दना करने के लिये आये। उसी अवसर पर सौधर्मेन्द्र ने स्वर्ग में जयकुमार के परिग्रहपरिमाणव्रत की प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करने के लिये रतिप्रभ नाम का देव आया। उसने स्त्री का रूप रख चार स्त्रियों के साथ जयकुमार के समीप जाकर कहा कि सुलोचना के स्वयंवर के समय जिसने तुम्हारे साथ युद्ध किया था उस नमि विद्याधर राजा की रानी को जो कि अत्यन्त रूपवती, नवयौवनवती, समस्त विद्याओं को धारण करने वाली और उससे विरक्तचित्त है, स्वीकृत करो, यदि उसका राज्य और अपना जीवन चाहते हो तो। यह सुनकर जयकुमार ने कहा कि हे सुन्दरि! ऐसा मत कहो, परस्त्री मेरे लिये माता के समान है। तदनन्तर उस स्त्री ने जयकुमार के ऊपर बहुत उपसर्ग किया, परन्तु उसका चित्त विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर वह रतिप्रभदेव माया को संकुचित कर, पहले का सब समाचार कहकर प्रशंसा कर और वस्त्र आदि से पूजा कर स्वर्ग चला गया। इस प्रकार पंचम अणुव्रत की कथा पूर्ण हुई।

एवं पञ्चानामहिंसादिव्रतानां प्रत्येकं गुणं प्रतिपाद्येदानीं तद्विपक्षभूतानां हिंसाद्यव्रतानां दोषं दर्शयन्नाह–

धनश्रीसत्यघोषौ च, तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रु-नवनीतो यथाक्रमम् ॥६५॥

अन्वयार्थ–(धनश्रीसत्यघोषौ च) धनश्री और सत्यघोष **(तापसारक्षकौ)** तापस और कोतवाल **(अपि)** और **(श्मश्रुनवनीतः)** श्मश्रुनवनीत **(यथाक्रमम्)** क्रम से हिंसादि पाँच पापों में **(उपाख्येयाः)** उपाख्यान करने के योग्य हैं–दृष्टान्त देने के योग्य हैं।

सुनो! सुनो! हिंसा में कुशला रही धनश्री सेठानी,
असत्य में तो सत्यघोष वह चोरी में तापस नामी।
काम पाप में यमपालक था और श्मश्रु-नवनीत रहा,
पाँचों पापों में यों पाँचों ख्यात यही अघ-गीत रहा ॥६५॥

टीका–धनश्रीश्रेष्ठिन्या हिंसातो बहुप्रकारं दुःखफलमनुभूतं। सत्यघोषपुरोहितेनानृतात्। तापसेन चौर्यात्। आरक्षकेन कोट्टपालेण ब्रह्मणि वृत्त्यभावात्। ततोऽव्रतप्रभवदुःखानुभवने उपाख्येया दृष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्याः। के ते ? धनश्रीसत्यघोषौ च। न केवलं एतौ एव किन्तु तापसारक्षकावपि। तथा तेनैव प्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वणिक्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्त्यभावतो बहुतरदुःखमनुभूतं। यथाक्रमं उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादि-विरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः। तत्र धनश्री हिंसातो बहुदुःखं प्राप्ता।

अस्याः कथा

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपालः। वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि[१] जीववधेऽविरता। तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपालः। अपुत्रकाले धनश्रिया यः पुत्रबुद्ध्या कुण्डलो नाम बालकः पोषितः, धनपाले मृते तेन सह धनश्रीः कुकर्मरता जाता। गुणपाले च गुणदोषपरिज्ञानके[२] जाते धनश्रिया तच्छंकितया[३] भणितः कुण्डलः प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्यां गुणपालं प्रेषयामि, [४]लग्नस्त्वं तत्र तं मारय येनावयो-र्निरंकुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणां मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितं -अद्य[५] रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्यां प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेस्त्वमिति। धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भणितो हे पुत्र कुण्डलस्य शरीरं विरूपकं वर्तते। अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्य त्वं व्रजेत। स च गोधनमटव्यां नीत्वा काष्ठं[६] च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः। कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्ठे घातः कृतो गुणपालेन च स

---

१. मनागपि न जीववधविरता घ। २. परिज्ञायके घ। ३. तत्सक्त्या। ४. प्रेषयामो लग्नास्त्वं घ। ५. अत्र घ। ६. 'च' शब्दो नास्ति घ।

खड्गेन हत्वा मारितः। गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः क्व रे कुण्डलः। तेनोक्तं कुण्डलवार्तामयं खड्गोऽभिजानाति। ततो रक्तलिप्तं बाहुमालोक्य सा तेनैव खड्गेन मारितः। तं च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता। कोलाहले जाते कोट्टपालैर्धनश्रीर्धृत्वा राज्ञोऽग्रे नीता। राज्ञा च गर्दभारोहणे[1] कर्णनासिकाछेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाव्रतस्य।

सत्यघोषोऽनृताद्बहुदुःखं प्राप्तः।

अस्य कथा

जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्ता, पुरोहितः श्रीभूतिः। स ब्रह्मसूत्रे कर्तिकां बध्वा भ्रमति। वदति च यद्यसत्यं ब्रवीमि तदाऽनया कर्तिकया निजजिह्वाच्छेदं करोमि। एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीयं नाम संजातम्। लोकाश्च विश्वस्तास्तत्पार्श्वे द्रव्यं धरन्ति च। तद्द्रव्यं किञ्चित्तेषां समर्प्य स्वयं गृह्णाति। पूत्कर्तुं बिभेति लोकः। न च पूत्कृतं राजा शृणोति। अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिक्पुत्रस्तत्र सत्यघोषपार्श्वेऽनर्घाणि[2] पञ्च माणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जयितुं गतः। तत्र च तदुपार्ज्य व्याघुटितः स्फुटितप्रवहण एकफलकेनोत्तीर्य समुद्रं धृतमाणिक्यवांछया सिंहपुरे सत्यघोषसमीपमायातः। तं च रङ्कसमानमागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्य-हरणार्थिना सत्यघोषेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्टपुरुषाणां कथितं अयं पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य[3] माणिक्यानि याचिष्यतीति। तेनागत्य प्रणम्य चोक्तं भो! सत्यघोषपुरोहित! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्योपार्जितार्थस्य[4] महाननर्थो जात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसादं कृत्वा देहि, येनात्मानं स्फुटितप्रवहणात् गतद्रव्यं समुद्धरामि। तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन[5] सत्यघोषेण समीपोपविष्टा जना भणिता मया प्रथमं यद्भणितं तद्भवतां सत्यं जातं। तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्ययंग्रहिलोऽस्मात्स्थानान्निःसार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहान्निःसारितः ग्रहिल इति भण्यमानः। पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानर्घ्यपञ्चमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि। तथा राजगृहसमीपे चिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूत्कारं कुर्वन् षण्मासान् स्थितः। तां पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितः। सिंहसेनः-देव! नायं पुरुषः ग्रहिलः। राज्ञापि भणितं किं सत्यघोषस्य चौर्य सम्भाव्यते ? पुनरुक्तं राज्ञया देव ! सम्भाव्यते तस्य चौर्यं यतोऽयमेतादृशामेव सर्वदा वचनं ब्रवीति। एतदाकर्ण्य भणितं राज्ञा यदि सत्यघोषस्यैतत् सम्भाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति। लब्धादेशया रामदत्तया सत्यघोषो राजसेवार्थमागच्छन्नाकार्य दृष्टः-किं बृहद्वेलायामागतोऽसि ? तेनोक्तं-मम। ब्राह्मणीभ्राताद्य प्राघूर्णकः समायातस्तं भोजयतो बृहद्वेला लग्नेति। पुनरप्युक्तं तया-क्षणमेकमत्रोपविश। ममातिकौतुकं जातं। अक्षक्रीड़ां कुर्मः। राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येवं कुर्वित्युक्तं। ततोऽक्षद्यूते क्रीडया संजाते रामदत्तया निपुणमतिविलासिनीकर्णे लगित्वा भणिता सत्यघोषः पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं ग्रहिलमाणिक्यानि याचितुं प्रेषितेति तद्ब्राह्मण्यग्रे

---

१. रोहणं घ। २. ऽनर्घ्याणि घ। ३. ऽत्रागत्य मां रत्नानि घ। ४. गतस्योपार्जितार्थस्यापि घ। ५. कपटोपेतसत्य घ ७।

भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति। ततस्तया गत्वा याचितानि तद्ब्राह्मण्या च पूर्वं सुतरां निषिद्धया न दत्तानि। तद्विलासिन्या चागत्य देवीकर्णे कथितं सा न ददातीति। ततो जितमुद्रिकां तस्य साभिज्ञानं दत्त्वा पुनः प्रेषिता तथापि तया न दत्तानि। ततस्तस्य कर्तिकायज्ञोपवीतं जितं साभिज्ञानं दत्तं दर्शितं च तया। ब्राह्मण्या तद्दर्शना तुष्टया[1] भीतया च समर्पितानि माणिक्यानि तद्विलासिन्याः। तया च रामदत्तायाः समर्पितानि। तया च राज्ञो दर्शितानि। तेन च बहुमाणिक्यमध्ये निक्षेप्याकार्य च ग्रहिलो भणितः रे निज माणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण। तेन च तथैव गृहीतेषु राज्ञा रामदत्तया च वणिक्पुत्रः प्रतिपन्नः। ततो राज्ञा सत्यघोषः पृष्टः–इदं कर्म त्वया[2] कृतमिति। तेनोक्तं देव! न करोमि, किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते? ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रयं कृतं। गोमयभृतं भाजनत्रयं भक्षय, मल्लमुष्टिघातत्रयं वा सहस्व, द्रव्यं वा सर्वं देहि। तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमारब्धं। तदशक्ते न मुष्टिघातः सहितुमारब्धः। तदशक्तेन द्रव्यं दातुमारब्धं। एवं दण्डत्रयमनुभूय मृत्वाति–लोभवशाद्राजकीयभाण्डागारे[3] अगन्धनसर्पो जातः। तत्रापि मृत्वा दीर्घसंसारी जात इति द्वितीयाव्रतस्य।

तापसाश्चौर्याद्बहुदुःखं प्राप्तः।

अस्य कथा

वत्सदेश कौशाम्बीपुरे राजा सिंहरथो राज्ञी विजया। तत्रैकश्चौरः कोटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशदवलम्बमान[4] शिक्यस्थो दिवसे पञ्चाग्निसाधनं करोति। रात्रौ च कौशाम्बी मुषित्वा तिष्ठति। एकदा महाजनान्मुष्टं नगरमाकर्ण्य राजा कोट्टपालो भणितो रे सप्तरात्रमध्ये चौरं निजशिरो वाऽऽनय। ततश्चौरमलभमानश्चिन्तापरः तलारोऽपराह्ने बुभुक्षितब्राह्मणेन केनचिदागत्य भोजनं प्रार्थितः। तेनोक्तं–हे ब्राह्मण ! अछान्दसोऽसि मम प्राणसन्देहो वर्तते त्वं च भोजनं प्रार्थयसे। एतद्वचनमाकर्ण्य पृष्टं ब्राह्मणेन कुतस्ते प्राणसन्देहः ? कथितं च तेन। तदाकर्ण्य पुनः पृष्टं ब्राह्मणेन–अत्र किं कोऽप्यति–निस्पृहवृत्ति–पुरुषोऽप्यस्ति ? उक्तं तलारेण–अस्ति विशिष्टस्तपस्वी, न च तस्यैतत् सम्भाव्यते। भणितं ब्राह्मणेन–स एव चौरो भविष्यति अतिनिस्पृहत्वात्। श्रूयतामत्र मदीया कथा मम ब्राह्मणी महासती परपुरुषशरीरं न स्पृशतीति निजपुत्रस्याप्यतिकुक्कुटात् कर्पटेन सर्वं शरीरं प्रच्छाद्य स्तनं ददाति। रात्रौ तु गृहपिण्डारेण सह कुकर्म करोति (१)। तद्दर्शनात् संजातवैराग्योऽहं संबलार्थं सुवर्णशलाकां वंशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्रायां निर्गतः। अग्रे गच्छतश्च ममैकवटुको मिलितो न तस्य विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यत्नतः करोमि। तेनाकलिता सा यष्टिः सगर्भेति। एकदा रात्रौ कुम्भकार गृहे निद्रां कृत्वा दूराद्गत्वा तेन निजमस्तके लग्नं कथितं तृणमालोक्यातिकुक्कुटेन ममाग्रतो, हा हा मया परतृणमदत्तं ग्रसितमित्युक्त्वा व्याघुटय तृणं तत्रैव कुम्भकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृत भोजनस्य ममागत्य मिलितः। भिक्षार्थं गच्छतस्तस्यातिशुचिरयमिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टिः कुक्कुरादिनिवारणार्थं समर्पिता। तां गृहीत्वा स गतः (२)। ततो मया महाटव्यां गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽतिकुर्कुटं दृष्टं। यथा

१. हृष्टया तया घ। २. त्वया कृतं किं न कृतमिति घ। ३. अगंध घ। ४. मस्पृशन् विलम्ब्यमान घ।

एकस्मिन्महति वृक्षे मिलिताः पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो रे, रे पुत्राः! अहं अतीव गन्तुं न शक्नोमि। बुभुक्षितमनाः कदाचिद्भवत्पुत्राणां भक्षणं करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं प्रभाते बध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु। तैरुक्तं हा हा तात! पितामहस्त्वं किं तवैतत् सम्भाव्यते ? तेनोक्तं- बुभुक्षितः किं न करोति पापं' इति। एवं प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तन्मुखं बद्धवा ते गताः। स च बद्धो गतेषु चरणाभ्यां मुखाद्बन्धनं दूरीकृत्वा तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमनसमये पुनः चरणाभ्यां बन्धनं मुखे संयोज्यातिकुकुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३)। ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुर्कुटं दृष्टं मया। यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तपस्वि-रूपं धृत्वा बृहच्छिलां च मस्तकस्योपरिहस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा नगरमध्ये तिष्ठति दिवा रात्रौ चातिकुर्कटेन 'अपसर जीव पादं ददामि' अपसर जीव पादं ददामीति' भणन् भ्रमति। 'अपसर जीवेति' चासी भक्तसर्वजनैर्भण्यते। स च गर्तादिविजनस्थाने दिगवलोकनं कृत्वा सुवर्णभूषितमेकाकिनं प्रणमन्तं तया शिलया मारयित्वा तद्द्रव्यं गृह्णाति (४)। इत्यति- कुर्कुटचतुष्टयमालोक्य मया श्लोकोऽयं कृतः-

अबालस्पर्शका नारी ब्राह्मणोऽतृणहिंसकः।
वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः॥

इति कथयित्वा तलारं धीरयित्वा सन्ध्यायां ब्राह्मणः शिक्यतपस्विसमीपं गत्वा तपस्विप्रतिचारकै- र्निर्घाट्यमानोऽपि रात्र्यन्धो भूत्वा तत्र पतित्वैकदेशे स्थितः। ते च प्रतिचारकाः रात्र्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकड्डिकांगुल्यादिकं तस्याक्षिसमीपं नयन्ति। स च पश्यन्नपि न पश्यति। बृहद्रात्रौ गुहायामन्धकूपे नगरद्रव्यं ध्रियमाणमालोक्य तेषां खादनपानादिकं वालोक्य[१] प्रभाते राज्ञा मार्यमाणस्तलारो रक्षितः तेन रात्रिदृष्टमावेद्य। स शिक्यस्थस्तपस्वी चौरस्तेन तलारेण बहुकदर्थनादिभिः कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गतिं गतस्तृतीयाव्रतस्य।

[२]आरक्षिणाऽब्रह्मनिवृत्त्यभावाद् दुःखं प्राप्तम्।

अस्य कथा

[३]आहीरदेशे नासिक्यनगरे राजा कनकरथो राज्ञी कनकमाला, [४]तलारो यमदण्डस्तस्य माता बहुसुन्दरी तरुणरण्डा पुंश्चली। सा एकदा बध्वा धर्तुं समर्पिताभरणं गृहीत्वा रात्रौ संकेतितजारपार्श्वे गच्छन्ती यमदण्डेन दृष्टा सेविता चैकान्ते। तदाभरणं चानीय तेन निजभार्याया दत्तं। तया च दृष्ट्वा भणितं-[५]मदीयमिदमाभरणं, मया श्वश्रूहस्ते धृतं। तद्वचनमाकर्ण्य तेन चिन्तितं या मया सेविता सा मे जननी भविष्यतीति। ततस्तस्या जारसंकेतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सहकुकर्मरतः स्थितः। एकदा तद्भार्ययाऽसहनादतिरुष्टया रजक्याः कथितं। मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति। रजक्या च मालाकारिण्याः कथितं। अतिविश्वस्ता मालाकारिणी च कनकमालाराज्ञी-निमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा

१. खानपानस्र्त्र्यादिकं चालोक्य घ। २. आरक्षेण घ। ३. अहीरदेशे ख ग। ४. तलवरो घ। ५. मदीयमाभरणं घ।

गता। तया च पृष्टा सा कुतूहलेन, जानासि हे कामप्यपूर्वां[१] वार्तां। तया च तलारद्विष्टतया कथितं राज्ञयाः, देवि! यमदण्डतलारो[२]निजजनन्या सह तिष्ठति। कनकमालया च राज्ञः कथितं। राज्ञा च गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य [३]तलारो [४]गृहीतो दुर्गतिं गतश्चतुर्थाव्रतस्य।

परिग्रहनिवृत्त्यभावात्श्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तम्।

अस्य कथा

अस्त्ययोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो लुब्धदत्तः वाणिज्येन दूरं गतः। तत्र[५]स्वमुपार्जितं तस्य चौरैर्नीतं। ततोऽतिनिर्धनेन[६] तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुहः[७] तक्रं पातुं याचितं। तक्रे पीते स्तोकं नवनीतं कूर्चे लग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तितं तेन वाणिज्यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचिन्वतस्तस्य श्मश्रुनवनीत इति नाम जातं। एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य[८] भाजनं पादान्ते धृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादान्ते कृत्वा[९] रात्रौ संस्तरे पतितः संचिन्तयति, अनेन घृतेन बहुतरमर्थमुपार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा सामन्तमहासामन्तरा[१०]जाधिराजपदं प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा, तदा च मे सप्ततलप्रासादे शय्यागतस्य पादान्ते[११] समुपविष्टं स्त्रीरत्नं पादौ मुष्ट्या ग्रहीष्यति न जानासि पादमर्दनं कर्तुमतिस्नेहेन भणित्वा स्त्रीरत्नमेवं पादेन ताडयिष्यामि, एवं चिन्तयित्वा[१२] तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातितं[१३] तद्घृतभाजनं तेन च घृतेन द्वारे संधुक्षितोऽग्निः सुतरां प्रज्वलितः। ततो द्वारे प्रज्वलिते निःसर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गतः इच्छाप्रमाणरहितपञ्चमाव्रतस्य ॥६५॥

इस प्रकार अहिंसा आदि पाँच व्रतों में प्रत्येक का फल कहकर अब हिंसा आदि अव्रतों का दोष दिखलाते हुए कहते हैं—

टीकार्थ—धनश्री नाम की सेठानी ने हिंसा से बहुत प्रकार का दुःखदायक फल भोगा है। सत्यघोष पुरोहित ने असत्य बोलने से, तापस ने चोरी से और कोतवाल ने ब्रह्मचर्य का अभाव होने से बहुत दुःख भोगा है। इसी प्रकार श्मश्रुनवनीत नाम के वणिक् ने परिग्रह पाप के कारण बहुत दुःख भोगा है। अतः ये सब ऊपर बताये हुए क्रम से दृष्टान्त देने योग्य हैं। उनमें धनश्री हिंसा पाप के फल से दुर्गति को प्राप्त हुई थी। इसकी कथा निम्न प्रकार है—

धनश्री की कथा

लाटदेश के भृगुकच्छ नगर में राजा लोकपाल रहता था। वहीं एक धनपाल नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनश्री था। धनश्री जीवहिंसा से कुछ भी विरत नहीं थी अर्थात् निरन्तर

१. कामप्यपूर्ववार्तां घ। २. तलवरो घ। ३. तलवरो घ। ४. निगृहीतो घ। ५. समुपार्जितं द्रव्यं तत्तस्य घ। ६. ततो विर्द्धनेन घ। ७. गोकुले ख ग घ। ८. तस्य घ। ९. धृत्वा ग। १०. राज्यपदं। ११. तदुपविष्टं घ। १२. चिन्तयता नेम घ। १३. पतितं घ श्रवणोत्तमाः घ।

जीवहिंसा में तत्पर रहती थी। उसकी सुन्दरी नाम की पुत्री और गुणपाल नाम का पुत्र था। जब धनश्री के पुत्र नहीं हुआ था तब उसने एक कुण्डल नामक बालक का पुत्रबुद्धि से पालन-पोषण किया। समय पाकर जब धनपाल की मृत्यु हो गई तब धनश्री उस कुण्डल के साथ कुकर्म करने लगी। इधर धनश्री ने कुण्डल से कहा कि मैं गोंखर में गाएँ चराने के लिये गुणपाल को जंगल भेजूँगी सो तुम उसके पीछे लगकर उसे वहाँ मार डालो, जिससे हम दोनों का स्वच्छन्द रहना हो जायेगा-कोई रोक नहीं सकेगा। यह सब कहती हुई माता को सुन्दरी ने सुन लिया, इसलिये उसने अपने भाई गुणपाल से कह दिया कि आज रात्रि में गोधन लेकर गोंखर में माता तुम्हें जंगल भेजेगी और वहाँ कुण्डल के हाथ से तुम्हें मरवा डालेगी, इसलिये तुम्हें सावधान रहना चाहिये।

धनश्री ने रात्रि के पिछले पहर गुणपाल से कहा हे पुत्र! कुण्डल का शरीर ठीक नहीं है इसलिये आज तुम गोंखर में गोधन लेकर जाओ। गुणपाल गोधन को लेकर जंगल गया और वहाँ एक काष्ठ को कपड़े से ढककर छिपकर बैठ गया। कुण्डल ने आकर यह गुणपाल है ऐसा समझकर वस्त्र से ढके हुए काष्ठ पर प्रहार किया। उसी समय गुणपाल ने तलवार से उसे मार डाला। जब गुणपाल घर आया तब धनश्री ने पूछा कि रे गुणपाल कुण्डल कहाँ गया ? गुणपाल ने कहा कि कुण्डल की बात को यह तलवार जानती है। तदनन्तर खून से लिप्त बाहु को देखकर धनश्री ने उसी तलवार से गुणपाल को मार दिया। भाई को मारती देख सुन्दरी ने उसे मूसल से मारना शुरू किया। इसी बीच में कोलाहल होने से कोतवालों ने धनश्री को पकड़कर राजा के आगे उपस्थित किया। राजा ने उसे गधे पर चढ़ाया तथा कान, नाक आदि कटवाकर दण्डित किया, जिससे मरकर दुर्गति को प्राप्त हुई। इस तरह प्रथम अव्रत से सम्बद्ध कथा पूर्ण हुई।

सत्यघोष असत्य बोलने से बहुत दुःख को प्राप्त हुआ था। इसकी कथा इस प्रकार है-

सत्यघोष की कथा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी सिंहपुर नगर में राजा सिंहसेन रहता था। उसकी रानी का नाम रामदत्ता था। उसी राजा का एक श्रीभूति नाम का पुरोहित था। वह जनेऊ में कैंची बाँधकर घूमा करता था और कहता था कि यदि मैं असत्य बोलूँ तो इस कैंची से अपनी जिह्वा को छेद कर लूँ। इस तरह कपट से रहते हुए उस पुरोहित का सत्यघोष यह दूसरा नाम चल पड़ा। लोग विश्वास को प्राप्त होकर उसके पास अपना धन रखने लगे। वह उस धन में से कुछ तो रखने-वालों को दे देता था। और बाकी स्वयं ग्रहण कर लेता था। लोग रोने से डरते थे और कोई रोता भी था तो राजा उसकी सुनता भी नहीं था।

तदनन्तर एक समय पद्मखण्ड नगर से एक समुद्रदत्त नाम का सेठ आया। वह वहाँ सत्यघोष के पास अपने पाँच बहुमूल्य रत्न रखकर धन उपार्जित करने के लिये दूसरे पार चला गया और वहाँ

धनोपार्जन करके जब लौट रहा था तब उसका जहाज फट गया। काठ के एक पहिये से वह समुद्र को पारकर रखे हुए मणियों को प्राप्त करने की इच्छा से सिंहपुर में सत्यघोष के पास आया। रंक के समान आते हुए उसे देखकर उसके मणियों को हरने के इच्छुक सत्यघोष ने विश्वास की पूर्ति के लिये समीप में बैठे हुए लोगों से कहा कि यह पुरुष जहाज फट जाने से पागल हो गया है और यहाँ आकर मणि माँगेगा। उस सेठ ने आकर तथा प्रणाम कर कहा कि हे सत्यघोष पुरोहित! मैं धन कमाने के लिये गया था। धनोपार्जन करने के बाद मेरे ऊपर बड़ा संकट आ पड़ा है इसलिये मैंने जो रत्न तुम्हें रखने के लिये दिये थे वे रत्न कृपाकर मुझे दे दीजिये। जिससे जहाज फट जाने के कारण निर्धनता को प्राप्त हुए अपने आपका उद्धार कर सकूं। उसके वचन सुनकर कपटी सत्यघोष ने पास में बैठे हुए लोगों से कहा कि देखो, मैंने पहले आप लोगों से जो बात कही थी वह सत्य निकली। लोगों ने कहा कि आप ही जानते हैं, इस पागल को इस स्थान से निकाल दिया जावे। ऐसा कहकर उन्होंने समुद्रदत्त को घर से निकाल दिया। ''वह पागल है'' ऐसा कहा जाने लगा। ''सत्यघोष ने मेरे पाँच बहुमूल्य रत्न ले लिये हैं'' इस प्रकार रोता हुआ वह नगर में घूमने लगा। राजभवन के पास एक इमली के वृक्ष पर चढ़कर वह प्रतिदिन रात में रोता हुआ यही कहता था। यह करते हुए उसे छह माह निकल गये।

एक दिन उसका रोना सुनकर रामदत्ता रानी ने राजा सिंहसेन से कहा कि देव! यह पुरुष पागल नहीं है। राजा ने भी कहा कि तो क्या सत्यघोष से चोरी की संभावना की जा सकती है। रानी ने फिर कहा कि देव! उसके चोरी की संभावना की जा सकती है क्योंकि यह सदा ऐसे ही वचन कहता है। यह सुनकर राजा ने कहा कि यदि सत्यघोष के चोरी की संभावना है तो तुम परीक्षा करो। आज्ञा पाकर रामदत्ता ने एक दिन राजा की सेवा के लिये आते हुए सत्यघोष को बुलाकर पूछा कि आज बहुत देर से क्यों आये हैं ? सत्यघोष ने कहा कि आज मेरी ब्राह्मणी का भाई पाहुना बनकर आया था। उसे भोजन कराते हुए बहुत देर लग गई। रानी ने फिर कहा-अच्छा, यहाँ थोड़ी देर बैठो, मुझे अक्षक्रीड़ा का बहुत शौक है। आज अक्षक्रीड़ा करें-जुआ खेलें। राजा भी वहीं आ गये और उन्होंने कह दिया कि ऐसा करो।

तदनन्तर जब जुआ का खेल होने लगा तब रामदत्ता रानी ने निपुणमति नाम की दासी से उसके कान में लगकर कहा कि तुम ''सत्यघोष पुरोहित, रानी के पास बैठे हैं उन्होंने मुझे पागल के रत्न माँगने के लिये भेजा है'' ऐसा उसकी ब्राह्मणी के आगे कहकर वे रत्न माँगकर शीघ्र लाओ। तदनन्तर निपुणमति ने जाकर वे रत्न माँगे, परन्तु ब्राह्मणी ने नहीं दिये, क्योंकि सत्यघोष ने उसे पहले ही मना कर रखा था कि किसी के माँगने पर रत्न नहीं देना। निपुणमति ने आकर रानी के कान में कहा कि वह रत्न नहीं देती है। तदनन्तर रानी ने पुरोहित की अंगूठी जीत ली, उसे पहचान के रूप में देकर निपुणमति को फिर से भेजा, परन्तु उसने फिर भी नहीं दिये। अब की बार रानी ने पुरोहित का कैंची सहित जनेऊ जीत लिया। निपुणमति ने उसे पहचान के रूप में दिया और दिखाया। उसे देखकर

ब्राह्मणी आश्वस्त हुई तथा ''नहीं देती हूँ तो पुरोहित कुपित होंगे'', इस तरह भयभीत भी हुई, अतः उसने वे रत्न निपुणमति को दे दिये और निपुणमति ने रामदत्ता को सौंप दिये रामदत्ता ने राजा को दिखाये। राजा ने उन रत्नों को बहुत से रत्नों में मिलाकर उस पागल से कहा कि अपने रत्न पहचान कर उठा ले। उसने उसी प्रकार जब अपने रत्न उठा लिये तब राजा और रानी ने उसे वणिक्पुत्र-सेठ स्वीकृत किया अर्थात् यह मान लिया कि यह पागल नहीं है किन्तु वणिक् पुत्र है।

तदनन्तर राजा ने सत्यघोष से पूछा कि तुमने यह कार्य किया है ? उसने कहा कि देव! मैं यह काम नहीं करता हूँ। मुझे ऐसा करना क्या युक्त है ? तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुए राजा ने उसके लिये तीन दण्ड निर्धारित किये–१. तीन थाली गोबर खाओ, २. पहलवानों के तीन मुक्के खाओ अथवा ३. समस्त धन देओ। उसने विचारकर पहले गोबर खाना प्रारम्भ किया, पर जब गोबर खाने में असमर्थ रहा, तब पहलवानों के मुक्के सहन करना शुरू किया, पर जब उसमें भी असमर्थ रहा तब सब धन देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार तीनों दण्डों को भोगकर वह मरा और तीव्र लोभ के कारण राजा के खजाने में अगंधन जाति का साँप हुआ। वहाँ भी मरकर दीर्घ संसारी हुआ। इस प्रकार द्वितीय अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

तापस चोरी से बहुत दुःख को प्राप्त हुआ, इसकी कथा इस प्रकार है–

चोरी पाप में प्रसिद्ध तापस की कथा

वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी में राजा सिंहरथ रहता था। उसकी रानी का नाम विजया था। वहाँ एक चोर कपट से तापस होकर रहता था। वह दूसरे की भूमि का स्पर्श न करता हुआ लटकते हुए सींके पर बैठकर दिन में पञ्चाग्नि तप करता था और रात्रि में कौशाम्बी नगरी को लूटता था। एक समय ''नगर लुट गया है'' इस तरह महाजन से सुनकर राजा ने कोट्टपाल से कहा–रे कोट्टपाल! सात रात्रि के भीतर चोर लाओ या अपना शिर लाओ। तदनन्तर चोर को न पाता हुआ कोट्टपाल चिन्ता में निमग्न हो अपराह्नकाल में बैठा था कि किसी भूखे ब्राह्मण ने आकर उससे भोजन माँगा। कोट्टपाल ने कहा–हे ब्राह्मण! तुम अभिप्राय को नहीं जानते। मुझे तो प्राणों का सन्देह हो रहा है और तुम भोजन मांग रहे हो। यह वचन सुनकर ब्राह्मण ने पूछा कि, तुम्हें प्राणों का सन्देह किस कारण हो रहा है ? कोट्टपाल ने कारण कहा। उसे सुनकर ब्राह्मण ने फिर पूछा यहाँ क्या कोई अत्यन्त निःस्पृह वृत्ति वाला पुरुष रहता है। कोट्टपाल ने कहा कि विशिष्ट तपस्वी रहता है, परन्तु उसका यह कार्य सम्भव नहीं है। ब्राह्मण ने कहा कि वही चोर होगा, क्योंकि वह अत्यन्त निःस्पृह है। इस विषय में मेरी कहानी सुनिये–

(१) मेरी ब्राह्मणी अपने आपको महासती कहती है और ''मैं पर पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं करती'', यह कहकर तीव्र कपट से समस्त शरीर को कपड़े से आच्छादित कर अपने पुत्र को स्तन

देती है–दूध पिलाती है। परन्तु रात्रि में गृह के वरेदी के साथ कुकर्म करती है।

(२) यह देख मुझे वैराग्य उत्पन्न हो गया और मैं मार्ग में हितकारी भोजन के लिये सुवर्णशलाका को बाँस की लाठी के बीच रखकर तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़ा। आगे चलने पर मुझे एक ब्रह्मचारी बालक मिल गया, वह हमारे साथ हो गया। मैं उसका विश्वास नहीं करता था, इसलिये उस लाठी की बड़े यत्न से रक्षा करता था। उस बालक ने ताड़ लिया–समझ लिया कि यह लाठी सगर्भा है–इसके भीतर कुछ धन है। एक दिन वह बालक रात्रि में कुम्भकार के घर सोया। प्रातः वहाँ से चलकर जब दूर आ गया तब मस्तक में लगे हुए सड़े तृण को देखकर कपटवश उसने मेरे आगे कहा कि हाय–हाय मैं दूसरे के तृण को ले आया। ऐसा कहकर वह लौटा और उस तृण को उसी कुम्भकार के घर पर डालकर सायंकाल के समय तब हमसे मिला जब कि मैं भोजन कर चुका था। वह बालक जब भिक्षा के लिये जाने लगा तब मैंने सोचा कि यह तो बहुत पवित्र है, इस तरह उसका विश्वास कर कुत्ते आदि को भगाने के लिये मैंने वह लाठी उसके लिये दे दी। उसे लेकर वह चला गया।

(३) तदनन्तर महाअटवी में जाते हुए मैंने एक वृद्धपक्षी का बड़ा कपट देखा। एक बड़े वृक्ष पर रात्रि के समय बहुत पक्षियों का समूह एकत्रित हुआ। उसमें अत्यन्त वृद्ध पक्षी ने रात्रि के समय अपनी भाषा में दूसरे पक्षियों से कहा कि हे पुत्रो! अब मैं अधिक चल नहीं सकता। कदाचित् भूख से पीड़ित होकर आप लोगों के पुत्रों का भक्षण करने लगूँ, इसलिये प्रातः काल आप लोग हमारे मुख को बाँधकर जाइये। पक्षियों ने कहा कि हाय पिताजी! आप तो हमारे बाबा हैं, आपमें इसकी संभावना कैसे की जा सकती है ? वृद्धपक्षी ने कहा कि "**बुभुक्षितः किं न करोति पापम्**" भूखा प्राणी क्या पाप नहीं करता ? इस तरह प्रातःकाल सब पक्षी उस वृद्ध के कहने से उसके मुख को बाँधकर चले गये। वह बँधा हुआ वृद्ध पक्षी, सब पक्षियों के चले जाने पर अपने पैरों से मुख का बन्धन दूर कर उन पक्षियों के बच्चों को खा गया और जब उनके आने का समय हुआ तब फिर से पैरों के द्वारा मुख में बन्धन डालकर कपट से क्षीणोदर होकर पड़ गया।

(४) तदनन्तर मैं एक नगर में पहुँचा। वहाँ मैंने चौथा कपट देखा। वह इस प्रकार कि उस नगर में एक चोर तपस्वी का रूप रखकर तथा दोनों हाथों से मस्तक के ऊपर एक बड़ी शिला को उठाकर दिन में खड़ा रहता था और रात्रि में हे जीव! हटो मैं पैर रख रहा हूँ, हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ इस प्रकार कहता हुआ भ्रमण करता था। समस्त भक्तजन उसे अपसर जीव इस नाम से कहने लगे थे। वह चोर जब कोई गड्ढा आदि एकान्त स्थान मिलता तो सब ओर देखकर सुवर्ण से विभूषित प्रणाम करते हुए एकाकी पुरुष को उस शिला से मार डालता और उसका धन ले लेता था। इन चार तीव्र कपटों को देखकर मैंने यह श्लोक बनाया था–

अबालस्पर्शका नारी ब्राह्मणोऽतृणहिंसकः।
वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः॥

पुत्र का स्पर्श न करने वाली स्त्री, तृण का घात न करने वाला ब्राह्मण, वन में काष्ठ मुख पक्षी और नगर में अपसर जीवक ये चार महा कपट मैंने देखे हैं।

ऐसा कहकर तथा कोट्टपाल को धीरज बँधाकर वह ब्राह्मण सींके में रहने वाले तपस्वी के पास गया। तपस्वी के सेवकों ने उसे वहाँ से निकालना भी चाहा, परन्तु वह रात्र्यन्ध बनकर वहीं पड़ रहा और एक कोने में बैठ गया। तपस्वी के उन सेवकों से ''यह सचमुच ही रात्र्यन्ध है या नहीं'' इसकी परीक्षा करने के लिये तृण की काड़ी तथा अंगुली आदिक उसके नेत्रों के पास चलायी, परन्तु वह देखता हुआ भी नहीं देखता रहा। जब बड़ी रात्रि हो गई तब उसने गुहारूप अन्धकूप में रखे जाते हुए नगर के धन को देखा और उन लोगों के खान-पान आदि को देखा। प्रातःकाल उसने जो कुछ रात्रि में देखा था उसे कहकर राजा के द्वारा मारे जाने वाले कोट्टपाल की रक्षा की। सींके में बैठने वाला वह तपस्वी उस कोट्टपाल के द्वारा पकड़ा गया और बहुत भारी यातनाओं से दुःखी होता हुआ मरकर दुर्गति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार तृतीय अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

अब्रह्म-कुशील सेवन से निवृत्ति न होने के कारण यमदण्ड कोतवाल ने दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है–

यमदण्ड कोतवाल की कथा

आहीर देश के नासिक्य नगर में राजा कनकरथ रहते थे उनकी रानी का नाम कनकमाला था। उनका एक यमदण्ड नाम का कोतवाल था। उसकी माता अत्यन्त सुन्दरी थी। वह यौवन अवस्था में ही विधवा हो गई थी तथा व्यभिचारिणी बन गई थी। एक दिन उसकी पुत्रवधू ने रखने के लिये आभूषण दिया। उस आभूषण को पहनकर वह रात्रि में अपने पहले से संकेतिक जार के पास जा रही थी। यमदण्ड ने उसे देखा और एकान्त में उसका सेवन किया। यमदण्ड ने उसका आभूषण लाकर अपनी स्त्री को दिया। स्त्री ने देखकर कहा कि यह आभूषण तो मेरा है, मैंने रखने के लिए सास के हाथ में दिया था। स्त्री के वचन सुनकर यमदण्ड कोतवाल ने विचार किया कि मैंने जिसके साथ उपभोग किया है वह मेरी माता होगी। तदनन्तर यमदण्ड, माता के जार के संकेतगृह (मिलने के स्थान) पर जाकर उसका पुनः सेवन किया और उसमें आसक्त होकर गूढ़रीति से उसके साथ कुकर्म करने लगा।

एक दिन उसकी स्त्री को जब यह सहन नहीं हुआ तब उसने अत्यन्त कुपित होकर धोबिन से कहा कि हमारा पति अपनी माता के साथ रमता है। धोबिन ने मालिन से कहा और मालिन कनकमाला रानी की अत्यन्त विश्वासपात्र थी, वह उसके निमित्त फूल लेकर गई। रानी ने कौतूहल वश उससे पूछा कि कोई अपूर्व बात जानती हो? मालिन कोतवाल से द्वेष रखती थी, अतः उसने रानी से कह दिया कि देवि! यमदण्ड कोतवाल अपनी माता के साथ रमण करता है। कनकमाला ने यह

समाचार राजा से कहा और राजा ने गुप्तचर के द्वारा उसके कुकर्म का निश्चय कर कोतवाल को पकड़वाया। दण्डित होने पर वह दुर्गति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार चतुर्थ अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

परिग्रह पाप से निवृत्ति न होने के कारण श्मश्रुनवनीत ने बहुत दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है–

श्मश्रुनवनीत की कथा

अयोध्यानगरी में भवदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था और पुत्र का नाम लुब्धदत्त था। एक बार वह लुब्धदत्त व्यापार के निमित्त दूर गया। वहाँ उसने जो धन कमाया था वह सब चोरों ने चुरा लिया। तदनन्तर अत्यन्त निर्धन होकर किसी मार्ग से आ रहा था। वहाँ उसने किसी समय एक गोपाल से पीने के लिये छाछ माँगी। छाछ पी चुकने पर उसका कुछ मक्खन मूछों में लग गया। उसे देख उसने वह मक्खन यह विचार कर निकाल लिया कि इससे व्यापार होगा। इस तरह वह प्रतिदिन मक्खन का संचय करने लगा, जिससे उसका श्मश्रुनवनीत यह नाम प्रचलित हो गया।

इस प्रकार जब उसके पास एक प्रस्थप्रमाण घी हो गया तब वह घी के बर्तन को अपने पैरों के समीप रखकर तथा शीतकाल होने से झोपड़ी के द्वार पर पैरों के समीप अग्नि रखकर बिस्तर पर पड़ गया। वह बिस्तर पर पड़ा-पड़ा विचार करता है कि इस घी से बहुत धन कमाकर मैं सेठ हो जाऊँगा, फिर धीरे-धीरे सामन्त, महासामन्त, राजा और अधिराजा का पद प्राप्त कर क्रम से सबका चक्रवर्ती बन जाऊँगा। उस समय मैं सात खण्ड के महल में शय्यातल पर पड़ा होऊँगा। चरणों के समीप बैठी हुई सुन्दर स्त्री मुट्ठी से मेरे पैर दाबेगी। और मैं स्नेहवश उससे कहूँगा कि तुझे पैर दाबना भी नहीं आता। ऐसा कहकर मैं पैर से उसे ताड़ित करूँगा। ऐसा विचारकर उसने अपने आपको सचमुच ही चक्रवर्ती समझ लिया और पैर से ताड़ितकर घी का बर्तन गिरा दिया। उस घी से द्वार पर रखी हुई अग्नि बहुत जोर से प्रज्वलित हो गई। द्वार जलने लगा, जिससे इच्छाओं के परिमाण से रहित वह निकलने में असमर्थ हो वहीं जलकर मर गया और दुर्गति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार पञ्चम अव्रत की कथा पूर्ण हुई।

यानि चेतानि पञ्चाणुव्रतान्युक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याह–

मद्यमांसमधुत्यागैः, सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां [१]श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

अन्वयार्थ–(श्रमणोत्तमाः) मुनियों में उत्तम गणधरादिदेव **(मद्य-मांसमधु-त्यागैः सह)**

---

१. श्रवणोत्तमाः घ।

मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ **(अणुव्रत-पञ्चकम्)** पाँच अणुव्रतों को **(गृहिणां)** गृहस्थों के **(अष्टौ)** आठ **(मूलगुणान्)** मूलगुण **(आहु:)** कहते हैं।

मद्य-मांस-मधु मकार त्रय का प्रथम पूर्ण वारण करना,
अहिंसादि अणुव्रत पाँचों का सादर परिपालन करना।
गृही जनों के अष्टमूल-गुण श्रमणवरों ने बतलाया,
पाला जिसने पाया उसने पावन-पद शाश्वत काया ॥६६॥

टीका—'गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहुः'। के ते ? श्रमणोत्तमा जिनाः। किं तत्? 'अणुव्रतपञ्चकं'। कैः सह ? 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्यं च मांसं च मधु च तेषां त्यागास्तैः ॥६६॥

आगे जो यह पाँच अणुव्रत कहे गये हैं वही मद्यादि तीन के त्याग के साथ मिलकर आठ मूलगुण होते हैं, यह कहते हैं—

टीकार्थ—श्रमण, श्रवण अथवा शमन ये सब मुनियों के नाम हैं। इनमें जो उत्तम गणधरादिक देव हैं वे श्रमणोत्तम कहलाते हैं। उन्होंने गृहस्थों के आठ मूलगुण इस प्रकार बतलाये हैं—१. मद्यत्याग, २. मांसत्याग, ३. मधुत्याग, ४. अहिंसाणुव्रत, ५. सत्याणुव्रत, ६. अचौर्याणुव्रत, ७. ब्रह्मचर्याणुव्रत और ८. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

विशेषार्थ— मूलगुण मुख्यगुणों को कहते हैं। जिस प्रकार मूल-जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरते, उसी प्रकार मूलगुणों के बिना मुनि और श्रावक के व्रत नहीं ठहरते। इस तरह मूलगुण का वाच्यार्थ अनिवार्य आवश्यक गुण है। मुनियों के २८ मूलगुण होते हैं और श्रावकों के ८। श्रावकों के आठ मूलगुणों का उल्लेख कई प्रकार का मिलता है। सबसे पहला उल्लेख ग्रन्थकार समन्तभद्र स्वामी का है जिसमें उन्होंने मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग और अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों को सम्मिलित किया है। उनका अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि मुनियों के २८ मूलगुणों में पाँच महाव्रत सम्मिलित हैं तो गृहस्थों के आठ मूलगुणों में पाँच अणुव्रतों को स्थान दिया है। मद्यत्याग आदि यद्यपि अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत हो जाते हैं तथापि विशेषता बतलाने के लिये उनका पृथक् से उल्लेख किया है। आगे चलकर जिनसेनस्वामी ने मधुत्याग को मांसत्याग में गर्भित कर उसके स्थान पर द्यूतत्याग का उल्लेख किया है। जिनसेन के परवर्ती आचार्यों ने और भी सरलता करते हुए पाँच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग का समावेश किया है। इनके सिवाय पं. आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में एक मत का और भी उल्लेख किया है जिसके आधार पर निम्नलिखित आठ मूलगुण माने जाते हैं— १. मद्यत्याग, २. मांसत्याग, ३. मधुत्याग, ४. रात्रिभोजनत्याग, ५. पञ्चफलीत्याग, ६. आप्तनुति-देवदर्शन, ७. जीवदया, ८. जलगालन। गृहस्थाचार की रक्षा के लिये इन आठ गुणों का पालन करना उचित है। आठ मूलगुणों का पालन करने वाला ही जैन धर्म की देशना का पात्र होता है। यही नहीं, गृहस्थ की संज्ञा भी इस मनुष्य को तभी प्राप्त होती है जब वह आठ मूलगुणों का पालन

करता है[१] ॥६६॥

एवं पञ्चप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह–

दिग्व्रतमनर्थदण्ड,-व्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुबृंहणाद्गुणाना,-माख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६७॥

अन्वयार्थ–(आर्याः) तीर्थंकरदेव आदि उत्तम पुरुष **(गुणानाम्)** मूलगुणों की **(अनुबृंहणात्)** वृद्धि करने के कारण से **(दिग्व्रतम्)** दिग्व्रत को **(अनर्थ-दण्ड-व्रतम्)** अनर्थदण्ड व्रत को **(च)** और **(भोगोपभोग-परिमाणम्)** भोगोपभोग-परिमाणव्रत को **(गुणव्रतानि)** गुणव्रत **(आख्यान्ति)** कहते हैं।

गुणव्रत हैं त्रय दिग्व्रत आदिम अनर्थदण्डक व्रत प्यारा,
भोगोपभोग परिमाण तथा है रहा तीसरा व्रत सारा।
विमल बनाते सबल बनाते सकल मूलगुण के गण को,
सार्थक इनका नाम इसी से आर्य बताते भविजन को ॥६७॥

---

१. भवन्ति चात्र श्लोकाः –
हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥ जिनसेनस्य
मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥७-१॥ सोमदेवस्य यशस्तिलके
मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥ अमृतचन्द्रस्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
तत्रादौ श्रद्धधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्चक्षीरिफलानि च ॥२॥ सागारधर्मामृत अध्याय २
अष्टैतान गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥३॥ सागारधर्मामृत अध्याय २
मद्यफलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकारतनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥ सागारधर्मामृत
मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चाभंकेष्वपि॥ रत्नमालायां शिवकोटेः
तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्व चिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे॥७२३॥ पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥७२४॥
एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥७२५॥
मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥७२६॥

टीका–'आख्यान्ति' प्रतिपादयन्ति। कानि ? 'गुणव्रतानि'। के ते ? 'आर्याः' गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्यास्तीर्थंकरदेवादयः। किं तद् गुणव्रतं ? 'दिग्व्रतं' दिग्विरतिं। न केवलमेतदेव किन्तु 'अनर्थदण्डव्रतं' चानर्थदण्डविरतिं। तथा। 'भोगोपभोगपरिमाणं' सकृद्भुज्यत इति भोगोऽशनपान-गन्धमाल्यादिः पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वस्त्रा[१]भरणयानशयनादिस्तयोः परिमाणं कालनियमेन यावज्जीवनं वा। एतानि त्रीणि कस्माद्गुणव्रतान्युच्यन्ते? 'अनुबृंहणात्' वृद्धिंनयनात्। केषां ? गुणानां' अष्टमूलगुणानाम् ॥६७॥

इस तरह पाँच प्रकार के अणुव्रतों का वर्णन कर अब तीन प्रकार के गुणव्रतों का वर्णन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– गुणैः गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्याः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो गुणों अथवा गुणवान् मनुष्यों के द्वारा प्राप्त किये जावें उन्हें आर्य कहते हैं। ऐसे आर्य तीर्थंकर देव, गणधर, प्रतिगणधर तथा अन्य आचार्य कहलाते हैं। गुणाय व्रतं गुणव्रतं गुण के लिये जो व्रत हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं। उपरितन श्लोक में कहे गये आठ मूलगुणों की वृद्धि में सहायक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीन को आर्य पुरुषों ने गुणव्रतों में परिगणित किया है। दशों दिशाओं में आने-जाने की सीमा निर्धारित करना दिग्व्रत है। मन, वचन, काय के निष्प्रयोजन व्यापार परित्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं और भोग तथा उपभोग की वस्तुओं का समय का नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्त के लिये परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। जो वस्तु एक बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन, पेयपदार्थ तथा गन्धमाला आदि। और जो बार-बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र, आभूषण, यान-वाहन, शयन-शय्या आदि। इनका परिमाण काल का नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्त के लिए दोनों प्रकार से होता है।

विशेषार्थ– खेत की रक्षा के लिए बाड़ी का जो स्थान है वही स्थान अणुव्रतों की रक्षा के लिए तीनगुणव्रतों का है। यातायात की सीमा निर्धारित होने से, निष्प्रयोजन कार्यों का परित्याग करने से तथा भोग-उपभोग की सीमा को निश्चित करने से यह जीव अपने अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा करने में समर्थ होता है, इसलिये आचार्यों ने इन तीनों कार्यों को गुणव्रत में शामिल किया है। भोग और उपभोग की जो परिभाषा समन्तभद्रस्वामी को अभीष्ट है उसके अनुसार संस्कृत टीकाकार ने उनका स्पष्टीकरण किया है। परन्तु साथ में यह भी ज्ञातव्य है कि उमास्वामी महाराज ने भोगोपभोगपरिमाण के बदले उपभोगपरिभोगपरिमाण शब्द का प्रयोग किया है। उनके अभिप्रायानुसार उपभोग का अर्थ है जो एक बार भोगने में आवे और परिभोग का अर्थ है जो बार-बार भोगने में आवे। समन्तभद्र स्वामी का उपभोग और उमास्वामी का परिभोग एकार्थक है और समन्तभद्र स्वामी का भोग और उमास्वामी का उपभोग एकार्थक है। उमास्वामी ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत माना है

१. स्त्रीजनोपसेवनादि ख जंफनादि घ।

और समन्तभद्र स्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत को गुणव्रत माना है। यहाँ समन्तभद्रस्वामी का यह अभिप्राय जान पड़ता है कि भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करने से परिग्रहपरिमाणाणुव्रत की वृद्धि होती है– रक्षा होती है, इसलिए इसे गुणव्रत में सम्मिलित करना चाहिए। शिक्षाव्रतों की नाम गणना में भी दोनों आचार्यों में मतभेद है। उसका उल्लेख शिक्षाव्रतों के प्रकरण में किया जावेगा ॥६७॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूपंप्ररूपयन्नाह–

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रत,-मामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥६८॥

अन्वयार्थ–(आमृत्यणुपापविनिवृत्त्यै) मरणपर्यन्त सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए **(दिग्वलयं)** दिशाओं के समूह को **(परिगणितं)** मर्यादा सहित **(कृत्वा)** करके **(अहम्)** मैं **(अतः)** इससे **(बहिः)** बाहर **(न)** नहीं **(यास्यामि)** जाऊँगा **(इति)** इस प्रकार **(सङ्कल्पः)** संकल्प या प्रतिज्ञा **(दिग्व्रतम्)** दिग्व्रत है।

मरण काल तक दशों दिशाओं की मर्यादा अपनाना,
उससे बाहर कभी न जाऊँ यों संकल्पित हो जाना।
चूँकि ध्येय है सूक्ष्म पाप से भी पूरण बचकर रहना,
यही रहा है दिग्व्रत इस विध पूज्य गणधरों का कहना ॥६८॥

टीका– 'दिग्व्रतं' भवति। कोऽसौ? 'संकल्पः'। कथंभूतं? 'अतोऽहं बहिर्न यास्यामी'त्येवंरूपः। किं कृत्वा? 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा' समर्यादं कृत्वा। कथं? 'आमृति' मरणपर्यन्तं तावत्। किमर्थं 'अणुपापविनिवृत्त्यै' सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्त्यर्थम् ॥६८॥

आगे दिग्व्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऐशान, आग्नेय, नैॠत्य, वायव्यी, ऊर्ध्व और अधः इस प्रकार दश दिशाएँ होती हैं। इन सबके समूह का नाम दिग्वलय है। इन दशों दिशाओं की सीमा निश्चित कर ऐसा संकल्प करना कि मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा, दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत मरण पर्यन्त के लिये धारण किया जाता है अर्थात् इसमें देशावकाशिक व्रत के समान घड़ी, घंटा आदि समय की सीमा नहीं रहती। दिग्व्रत का प्रयोजन सूक्ष्म पापों की निवृत्ति करना है। मर्यादा के भीतर स्थूल पापों से निवृत्ति रहती है परन्तु मर्यादा के बाहर यातायात सर्वथा बन्द हो जाने से वहाँ सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ– परिग्रह स्वयं में एक बड़ा पाप है। उसी की पूर्ति के लिये यह मनुष्य जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, स्त्री में आसक्ति रखता है तथा सर्वत्र यातायात करता

है। जिसने परिग्रह सम्बन्धी अनन्त इच्छाओं का दमन कर लिया उसने अन्य अनेक पापों से अपने आपकी रक्षा स्वयं कर ली, ऐसा समझना चाहिए। दिग्व्रत में जो यातायात की सीमा निश्चित की जाती है वह उसी परिग्रह सम्बन्धी अनन्त इच्छाओं के दमन करने का एक प्रयास है। इस प्रकार दिग्व्रत का मुख्य उद्देश्य आरम्भ और लोभ को कम करने का है, अतः दिग्व्रत में तीर्थ क्षेत्रों का यातायात सम्मिलित नहीं। तीर्थयात्रा या तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि आदि सुनने के लिए मर्यादा के बाहर भी जाया जा सकता है ॥६८॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वेकानि मर्यादा इत्याह–

मकराकरसरिदटवी,-गिरि-जनपदयोजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥

अन्वयार्थ–(दशानाम् दिशाम्) दशों दिशाओं के **(प्रतिसंहारे)** परिमाण/सीमांकन में **(प्रसिद्धानि)** प्रसिद्ध **(मकराकर-सरिदटवी-गिरि-जनपदयोजनानि)** समुद्र, नदी, पहाड़ी-जंगल, पर्वत, शहर और योजनों को **(मर्यादाः)** मर्यादा/ सीमा **(प्राहुः)** कहते हैं।

सागर सरिता सरवर भूधर पुर गोपुर औ नगर महा,
यथा प्रयोजन, योजन आदिक वन-उपवन गिरि शिखर महा।
दशों दिशाओं की मर्यादा गुणव्रत धर के की जाती,
इन्हीं स्थलों को हेतु बनाते जिनवाणी यों बतलाती ॥६९॥

टीका–'प्राहुर्मर्यादाः'। कानीत्याह–'मकराकरे'त्यादि–मकराकरश्च समुद्रः सरितश्च नद्यो गंगाद्याः, अटवी दण्डकारण्यादिका, गिरिश्च पर्वतः सह्यविन्ध्यादिः, जनपदो देशो [१]वराट-वापीतटादिः, 'योजनानि' विंशतित्रिंशदादिसंख्यानि। किंविशिष्टान्येतानि ?

'प्रसिद्धानि' दिग्विरतिमर्यादानां दातृगृहीतुश्च प्रसिद्धानि। कासां मर्यादाः ? 'दिशां'। कति-संख्यावच्छिन्नानां 'दशानां'। कस्मिन् कर्त्तव्ये सति मर्यादाः ? 'प्रतिसंहारे' इतः परतो न यास्यामीति व्यावृतौ ॥६९॥

आगे दिग्वलय का परिगणन करने के लिए मर्यादा किस प्रकार ली जाती है, यह कहते हैं–

टीकार्थ– मकराकर समुद्र को कहते हैं, सरित् गंगा, सिन्धु आदि नदियों को कहते हैं, अटवी का अर्थ दण्डकवन आदि सघन जंगल है, गिरि का अर्थ सह्य, विन्ध्य आदि पर्वत है। जनपद का अर्थ वराट, वापीतट आदि देश है और योजन का अर्थ बीस योजन आदि है। लोकव्यवहार में चार कोश का एक योजन लिया जाता है। व्रत देने वाले और व्रत लेने वाले को जिनका परिचय प्राप्त है उन्हें प्रसिद्ध कहते हैं। पूर्वादि दशों दिशाओं सम्बन्धी सीमा निश्चित करने के लिए समुद्र, नदी, जंगल, देश

---

१. वरतटादिः घ।

अथवा योजन के खम्भों आदि को मर्यादा रूप से स्वीकृत किया जाता है।

विशेषार्थ—दिग्व्रत का धारक पुरुष ऐसा नियम करता है कि मैं अमुक दिशा में अमुक समुद्र तक, या अमुक नदी तक या अमुक जंगल तक या अमुक देश तक या इतने योजन तक यातायात करूँगा, बाहर नहीं। ऐसा करने से उसकी इच्छाएँ कम हुई वहीं हिंसादि पाप स्वयमेव कम हो जाते हैं। इसलिये दिग्वलय की सीमा प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए ॥६९॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याह–

अवधेर्बहिरणुपाप,-प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥

अन्वयार्थ—(दिग्व्रतानि) दिग्व्रतों को **(धारयताम्)** धारण करने वाले पुरुषों के **(अणुव्रतानि)** अणुव्रत **(अवधेः)** की हुई मर्यादा के **(बहिः)** बाहर **(अणुपापप्रतिविरतेः)** सूक्ष्म पापों की निवृत्ति हो जाने से **(पञ्चमहाव्रत-परिणतिम्)** पाँच महाव्रतों की समानता को **(प्रपद्यन्ते)** प्राप्त होते हैं।

मर्यादा के बाहर जबसे सूक्ष्म पाप से रहित हुए,
पापभीत हो यथा प्रयोजन सभी दिग्व्रतों सहित हुए।
तभी महाव्रत पन को पाते सागारों के अणुव्रत हो,
पाप त्याग की महिमा न्यारी अकथनीय है अनुगत हो ॥७०॥

टीका—अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते। कां ? 'पच्चमहाव्रतपरिणतिं'। केषां ? 'धारयतां' कानि ? 'दिग्व्रतानि' कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? 'अणुपापप्रतिविरतेः' सूक्ष्ममपि पापं प्रतिविरतेः व्यावृत्तेः। क्व? 'बहिः'। कस्मात् ? 'अवधेः' कृतमर्यादायाः ॥७०॥

इस प्रकार दिग्विरतिव्रत को धारण करने वाले पुरुषों के मर्यादा के बाहर क्या होता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ— जो मनुष्य दशों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा कर दिग्व्रतों को धारण करते हैं उनके मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं, इसीलिए उनके अणुव्रत महाव्रत जैसी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

विशेषार्थ–अणुव्रत धारण करने वाले जीवों का मर्यादा के भीतर गमनागमन जारी रहता है, इसलिए हिंसादि पापों का स्थूल रूप से ही त्याग हो पाता है। परन्तु मर्यादा के बाहर गमनागमन बिलकुल ही छूट जाता है, इसलिए मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में उनके अणुव्रत महाव्रतपने को प्राप्त हो जाते हैं ॥७०॥

तथा तेषां तत्परिणतावपरमपि हेतुमाह–

प्रत्याख्यानतनुत्वान्, मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥७१॥

अन्वयार्थ—(प्रत्याख्यानतनुत्वात्) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का मन्द उदय होने से **(मन्दतराः)** अत्यन्त मंद अवस्था को प्राप्त **(सत्त्वेन दुरवधाराः)** जिनका अस्तित्वरूप से निर्धारण करना भी कठिन है ऐसे **(चरणमोहपरिणामाः)** चारित्रमोह के परिणाम **(महाव्रताय)** महाव्रत के व्यवहार के लिए **(प्रकल्प्यन्ते)** कल्पना किए जाते हैं/उपचरित होते हैं।

कषाय प्रत्याख्यानावरणा मन्द-मन्दतर हुए जभी,
चरित मोह परिणाम सभी वे मन्द-मन्दतर हुए तभी।
मोहादिक के भाव यदपि हैं सहज पकड़ में नहिं आते,
तभी गृही उपचार मात्र से महाव्रती वे कहलाते ॥७१॥

टीका—'चरणमोहपरिणामाः' भावरूपाश्चारित्रमोहपरिणतयः।'प्रकल्प्यन्ते' उपचर्यन्ते। किमर्थं? महाव्रतनिमित्तं। कथंभूताः सन्तः ?'सत्त्वेन दुरवधारा' अस्तित्वेन महता कष्टेनावधार्यमाणाः सन्तोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितुं न शक्यन्त इत्यर्थः। कुतस्ते दुरवधाराः ? 'मन्दतराः' अतिशयेनानुत्कटाः। मन्दतरत्वमप्येषां कुतः ?'प्रत्याख्यान-तनुत्वात्' प्रत्याख्यानशब्देन हि प्रत्याख्यानावरणाः द्रव्यक्रोध-मानमायालोभा गृह्यन्ते। नामैकदेशे हि प्रवृत्ताः शब्दा नाम्न्यपि वर्तन्ते भीमादिवत्। प्रत्याख्यानं हि सविकल्पेन हिंसादिविरतिलक्षणः संयमस्तदावृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादयः, यदुदये ह्यात्मा कात्स्न्यीत्तद्विरतिं कर्तुं न शक्नोति, अतो द्रव्यरूपाणां क्रोधादीनां तनुत्वान्मन्दोदयत्वाद्भावरूपाणामेषां मन्दतरत्वं सिद्धम् ॥७१॥

आगे उनके अणुव्रतों की महाव्रत रूप परिणति में और भी कारण कहते हैं—

विशेषार्थ— नामैकदेशेन सर्वदेशो गृह्यते—नाम के एकदेश से सर्वदेश का ग्रहण होता है, इस नियम से जिस प्रकार भीमपद से भीमसेन का बोध होता है उसी प्रकार यहाँ प्रत्याख्यान शब्द से प्रत्याख्यानावरण द्रव्य क्रोध, मान, माया, लोभ का ग्रहण होता है, क्योंकि प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ विकल्प पूर्वक हिंसादि पापों का त्याग रूप संयम होता है। उस संयम को जो आवृत्त करते हैं अर्थात् जिनके उदय से यह जीव हिंसादि पापों का पूर्ण त्याग करने के लिए समर्थ नहीं हो पाता है वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं। यह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं। पौद्गलिक कर्म प्रवृत्ति को द्रव्य प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं और उनके उदय से आत्मा में जो हिंसादि पापों के त्याग न करने रूप भाव होते हैं उन्हें भाव प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। जब गृहस्थ के इन प्रकृतियों का इतना मन्द उदय हो जाता है, कि चारित्र मोह के परिणामों का अस्तित्व भी बड़ी कठिनाई से समझा जाता है तब उनके उपचार से महाव्रत

जैसी अवस्था हो जाती है। दिग्व्रत के धारक जीव के मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में हिंसादि पापों की स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की निवृत्ति हो जाती है, इसलिये उनके अणुव्रत उपचार से महाव्रतपने को प्राप्त होते हैं परमार्थ से नहीं। परमार्थ से व्यवहार तभी हो सकता है जब उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय भी दूर हो जावे।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय की अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें दर्शनमोहनीय आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करता है और चारित्र मोहनीय चारित्र गुण का घात करता है। चारित्र मोहनीयकर्म के कषाय वेदनीय और अकषायवेदनीय की अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें कषाय वेदनीय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से ४×४=१६भेद होते हैं। और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद की अपेक्षा अकषायवेदनीय के नौ भेद हैं।[१] अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घातते हैं। यद्यपि ये चारित्र मोह की प्रकृतियाँ हैं तथापि इनका उदय रहते हुए सम्यक्त्वगुण प्रकट नहीं हो पाता, इसलिए उन्हें आगम में सम्यग्दर्शन का घातक कहा गया है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ एकदेशचारित्र को घातते हैं अर्थात् इनके उदय रहते हुए श्रावक के व्रत रूप देशचारित्र प्रकट नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ सकलचारित्र को घातता है अर्थात् इनका उदय रहते हुए मुनि के व्रत रूप सकलचारित्र प्रकट नहीं हो सकता और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ यथाख्यातचारित्र को घातते हैं अर्थात् इनका उदय रहते हुए पूर्ण वीतरागता रूप यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं हो पाता। इन अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों की तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर के भेद से चार-चार प्रकार की अनुभाग दशाएँ होती हैं। अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों के तीव्रतर आदि अवस्थाओं का अनुभाग इसी से लगाया जा सकता है कि- अनन्तानुबन्धी के उदय से सहित एक जीव निर्ग्रन्थ साधु का घात करने के लिए प्रवृत्त होता है और एक स्वयं निर्ग्रन्थ साधु बन कर अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता हुआ कोलू में पेल देने पर भी संक्लेश का अनुभव नहीं करता। एक जीव अनन्तानुबन्धी के उदय काल में सातवें नरक की तैंतीस सागर की आयु का बन्ध करता है और एक जीव अनन्तानुबन्धी के उदय काल में नौ वे ग्रैवेयक के अहमिन्द्र की इकतीस सागर की आयु का बन्ध करता है। यद्यपि अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के मन्दोदय के काल में इस जीव की अणुव्रत या महाव्रताचरण रूप परिणति हो जाती है परन्तु करणानुयोग उसे अणुव्रताचरण या महाव्रताचरण रूप से स्वीकृत नहीं करता। वह तभी स्वीकृत करता

---

१. सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउ-सील-असंखलोगमिदा॥ २८३॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड
पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयल चारितं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसा वि॥ ४५॥ -गोम्मटसार कर्म काण्ड

है जबकि प्रतिपक्षी कषाय का अनुदय हो जाता है। यहाँ प्रकरण यह है कि दिग्व्रत के धारक जीव के अणुव्रत मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में महाव्रत जैसी परिणति को क्यों प्राप्त होते हैं ? उत्तर यह दिया गया है कि प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का अत्यन्त मन्द उदय रहने से उसके उपचार से महाव्रत जैसा व्यवहार होता है, परमार्थ से नहीं ॥७१॥

ननु कुतस्ते महाव्रताय कल्प्यन्ते न पुनः साक्षान्महाव्रतरूपा भवन्तीत्याह–

पञ्चानां पापानां, हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥७२॥

अन्वयार्थ–(हिंसादीनाम् पञ्चानाम् पापानाम्) हिंसादिक पाँचों पापों का **(मनोवचः कायैः)** मन, वचन और काय से तथा **(कृतकारितानुमोदैः)** कृत, कारित और अनुमोदना से **(त्यागः)** त्याग करना **(महतां)** प्रमत्तविरत आदि गुणस्थानवर्ती महापुरुषों का **(महाव्रतम्)** महाव्रत [**भवति**] होता है।

हिंसादिक पाँचों पापों को तन से वच से औ मति से,
पूर्ण त्यागना भूल राग को कृतकारित से अनुमति से।
महामना मुनि महाराज का रहा महाव्रत सुधा वही,
संग सहित हो स्वयं आपको मुनि माने जो मुधा वही॥७२॥

टीका–'त्यागस्तु' पुनर्महाव्रतं भवति। केषां त्यागः 'हिंसादीनां पञ्चानां'। कथंभूतानां 'पापानां पापोपार्जन-हेतुभूतानां। कैस्तेषां त्यागः 'मनोवचःकायैः'। तैरपि कैः कृत्वा त्यागः ? 'कृतकारितानुमोदैः'। अयमर्थः-हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमोदैस्त्यागः। तथा वचसा कायेन चेति। केषां तैस्त्यागो महाव्रतं? 'महतां' प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनां विशिष्टात्मनाम् ॥७२॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि उसके वे चारित्र मोह के परिणाम उपचार से महाव्रत के कारण क्यों हैं ? साक्षात् महाव्रत रूप क्यों नहीं होते ? इसका समाधान करते हुए महाव्रत का लक्षण कहते हैं–

टीकार्थ– पाप बन्ध में कारणभूत हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों का कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय इन नौ कोटियों से त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियों के ही होता है, अन्य के नहीं।

विशेषार्थ– महच्च तत् व्रतञ्चेति महाव्रतम् इस विग्रह के अनुसार जो स्वयं महान् हैं– उत्कृष्ट हैं उन्हें महाव्रत कहते हैं। संसार के अधिकांश प्राणियों की प्रवृत्ति हिंसादि पाँच पापों में हो रही है और उसके कारण वे पाप कर्मों का बन्धकर इसी संसार में भ्रमण करते रहते हैं। कुछ ही प्राणी इन हिंसादि कार्यों को पाप समझकर उनका परित्याग करते हैं। त्याग करने वाले पुरुषों को आचार्यों ने 'महान्' संज्ञा दी है। तथा उनके इस कार्य को महाव्रत नाम दिया है। जो पाप स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते हैं, जो दूसरों से कराया जाता है उसे कारित कहते हैं और किसी के करने पर जिसकी प्रशंसा

की जाती है उसे अनुमोदित कहते हैं। ये तीनों कार्य मन से, वचन से और काय से होते हैं इसलिए सब मिलाकर ३×३ = ९ कोटियों से होते हैं। इन नौ कोटियों से हिंसादिक पापों का परित्याग कर देना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत, १. अहिंसामहाव्रत, २. सत्यमहाव्रत, ३. अचौर्यमहाव्रत, ४. ब्रह्मचर्यमहाव्रत और ५. परिग्रहत्यागमहाव्रत के भेद से पाँच प्रकार का होता है। इसका प्रारम्भ प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान से ही होता है। इसके पूर्व पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव का व्रत अणुव्रत कहलाता है। इसके पूर्ववर्ती चार गुणस्थानवर्ती जीव अव्रत कहलाते हैं। अर्थात् उनमें कोई व्रत नहीं होता। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय होने से किन्हीं जीवों के अणुव्रतों और महाव्रतों का आचरण होने लगता है, पर करणानुयोग उन्हें अणुव्रत और महाव्रत नहीं मानता ॥७२॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाह–

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धि-रवधीनां।
विस्मरणं दिग्विरते - रत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥७३॥

अन्वयार्थ–अज्ञान व प्रमाद से **(ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः)** ऊपर नीचे तथा दिशाओं-विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना **(क्षेत्रवृद्धिः)** क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना और **(अवधीनाम्)** की हुई सीमाओं/मर्यादाओं का **(विस्मरणम्)** भूल जाना ये **(पञ्च)** पाँच **(दिग्विरतेः)** दिग्व्रत के **(अत्याशाः)** अतिचार **(मन्यन्ते)** माने जाते हैं।

ऊपर - नीचे आजू - बाजू सीमा उल्लंघन करना,
किसी प्रलोभनवश निर्धारित, सीमा संवर्धन करना।
प्रमादवश कृत सीमा की स्मृति विस्मृत करना, मूढ़ रहे,
आगम कहता सुनो! पाँच ये दिग्व्रत के हैं शूल रहे ॥७३॥

टीका–'दिग्विरतेरत्याशा' अतीचाराः 'पञ्च मन्यन्ते'ऽभ्युपगम्यन्ते। तथा हि। अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशस्तिर्यग्दिशश्च व्यतीपाता विशेषेणा[1]तिक्रमणानि त्रयः। तथाऽज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धिः' क्षेत्राधिक्यावधारणं। तथाऽवधीनां दिग्विरतेः कृतमर्यादानां 'विस्मरण' मिति ॥७३॥

अब दिग्विरति व्रत के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ–ऊपर पर्वत आदि पर चढ़ते समय, नीचे कुआँ, बावड़ी या खान आदि में उतरते समय और तिर्यग् अर्थात् समान धरातल पर चलते समय प्रमाद अथवा अज्ञान के कारण सीमा का उल्लंघन करना, प्रमाद और अज्ञान से किसी दिशा का क्षेत्र बढ़ा लेना और व्रत लेते समय दशों दिशाओं में आने-जाने की जो सीमायें निश्चित की थीं, उन्हें भूल जाना ये पाँच दिग्विरति व्रत के

---
१. विशेषातिक्रमणानि घ।

अतिचार माने जाते हैं।

विशेषार्थ– जैसे किसी ने नियम किया कि मैं दस हजार फुट तक ऊपर जाऊँगा, परन्तु किसी पर्वत पर चढ़ते समय या वायुयान से यात्रा करते समय इस नियम का ध्यान नहीं रखा और की हुई मर्यादा से अधिक ऊँचाई तक चला गया, यह ऊर्ध्व व्यतिपात नाम का अतिचार है। इसी तरह किसी ने नियम किया कि मैं इतने फुट तक नीचे जाऊँगा, परन्तु कुआँ या खान आदि में उतरते समय उस नियम का ध्यान नहीं रखा, यह अधस्ताद् व्यतिपात नाम का अतिचार है। यही बात समान धरातल पर की हुई सीमा के विषय में समझना चाहिए। क्षेत्र वृद्धि का अर्थ यह है कि जैसे किसी ने चारों दिशाओं में पचास-पचास कोश तक जाने का नियम किया, परन्तु नियम करने के बाद पूर्व दिशा में ६० कोश की दूरी पर अच्छा कारखाना खुल गया वहाँ से माल लाने में अधिक लाभ होने लगा और पश्चिम दिशा में ऐसा कोई कारखाना नहीं, अतः नियम लेने वाला पूर्व दिशा की सीमा ६० कोश कर लेता है और पश्चिम दिशा की सीमा घटा कर ४० कोश कर लेता है। यहाँ क्षेत्रफल की अपेक्षा तो प्रतिज्ञा का पालन हुआ परन्तु प्रतिज्ञा करने का मूल उद्देश्य जो आरम्भ और लोभ को कम करने का था उसका भंग हो गया। अतः भंगाभंग की अपेक्षा अतिचार माना गया है। सीमा के विस्मरण का अभिप्राय ऐसा है जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं अमुक दिशा में ४० कोश तक जाऊँगा, पीछे वह नियम भूल कर कहने लगा कि मैंने ४० कोश तक का नियम लिया था या ५० कोश तक का, ऐसी दुविधा की स्थिति में ४० कोश से आगे जाने में यह अतिचार होता है। इसी को तत्त्वार्थसूत्रकार ने स्मृत्यन्तराधान कहा है अर्थात् की हुई स्मृति के बदले दूसरी स्मृति का धारण करना ॥७३॥

[१]इदानीमनर्थदण्डविरतिलक्षणं द्वितीयं गुणव्रतं व्याख्यातुमाह–

अभ्यन्तरं दिगवधे-रपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्ड,-व्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥

अन्वयार्थ–(व्रतधराग्रण्यः) व्रतधारण करने वाले मुनियों में प्रधान तीर्थंकर देव आदि **(दिगवधेः)** दिशाओं की मर्यादा के **(अभ्यन्तरम्)** भीतर **(अपार्थकेभ्यः)** अर्थ/प्रयोजन रहित **(सपापयोगेभ्यः)** पापबंध के कारण मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों से **(विरमणम्)** विरक्त होने को **(अनर्थदण्ड-व्रतम्)** अनर्थदण्डत्याग व्रत **(विदुः)** कहते हैं।

दशों दिशाओं की मर्यादा के भीतर भी वच तन को,
बिना प्रयोजन पाप कार्य से रोक लगाना निज मन को।
अनर्थदण्डक व्रत यह माना, व्रत धर के गुरु बतलाते,
जिसके जीवन में यह उतरा तरा भवोदधि वह तातैं ॥७४॥

१. इदानीं द्वितीयमनर्थदण्डव्रतं इति ख।

टीका—'अनर्थदण्डव्रतं विदु' र्जानन्ति। के ते? 'व्रतधराग्रण्यः' व्रतधराणां यतीनां मध्येऽग्रण्यः प्रधानभूतास्तीर्थंकरदेवादयः। 'विरमणं' व्यावृत्तिः। केभ्यः? 'सपापयोगेभ्यः' पापेन सह योगः सम्बन्धः पापयोगस्तेन सह वर्तमानेभ्यः पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः किंविशिष्टेभ्यः? अपार्थकेभ्यः' निष्प्रयोजनेभ्यः। कथं तेभ्यो विरमणं? 'अभ्यन्तरं दिगवधेः' दिगवधेरभ्यन्तरं यथा भवेत्येवं तेभ्यो विरमणं। अतएव दिग्विरतिव्रतादस्य भेदः। तद्व्रते हि मर्यादातो बहिः पापोपदेशादिविरमणं अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरे तद्विरमणं ॥७४॥

अब अनर्थदण्डविरति नामक द्वितीय गुणव्रत का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं–

टीकार्थ—व्रतधर का अर्थ पञ्च महाव्रतों को धारण करने वाले मुनि होते हैं। उन मुनियों में जो अग्रणी–प्रधान हैं वे व्रतधराग्रणी कहलाते हैं। इस तरह मुनियों में प्रधान तीर्थंकर देव आदि ने अनर्थदण्डव्रत का लक्षण इस प्रकार कहा है कि दिग्विरतिव्रत की मर्यादा के भीतर प्रयोजन रहित, पापपूर्ण मन, वचन, काय के व्यापार रूप योगों से निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत है। दिग्व्रत में मर्यादा के बाहर होने वाले पाप पूर्ण निरर्थक कार्यों से निवृत्ति होती है और अनर्थदण्डव्रत में दिग्व्रत की सीमा के भीतर होने वाले पापपूर्ण निरर्थक कार्यों से निवृत्ति होती हैं। यही इन दोनों में अन्तर है।

विशेषार्थ—अपगतः अर्थः प्रयोजनं येषां ते अपार्थकास्तेभ्यः इस समास के अनुसार जिनका कुछ भी प्रयोजन नहीं है उन्हें अपार्थक या अनर्थ कहते हैं। **योगप्रवृत्तिर्दण्डः** योगों की प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं अर्थात् मन से विचार करना, वचन से उपदेश देना और शरीर से कुछ कार्य करना दण्ड कहलाता है। यह दण्ड जब पाप से युक्त होता है तब अपराध कहलाता है। जैसे किसी के विषय में खोटा चिन्तन करना, पाप कर्मों का उपदेश देना तथा प्रमाद पूर्वक शरीर से प्रवृत्ति करना आदि। जिन कार्यों में अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं है ऐसे कार्यों से दूर रहना अनर्थदण्डव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत कहलाता है ॥७४॥

अथ के ते अनर्थदण्ड यतो विरमणं स्यादित्याह–

[१]पापोपदेश–हिंसादानापध्यान–दुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहुःप्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(अदण्डधराः) मनवचनकाय की दुःप्रवृत्तिरूप दण्ड से रहित गणधरादि देव **(पापोपदेश–हिंसादानापध्यान–दुःश्रुतीः)** पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और **(प्रमादचर्याम्)** प्रमादचर्या इन **(पञ्च)** पाँच को **(अनर्थदण्डान्)** अनर्थदण्ड **(प्राहुः)** कहते हैं।

रुचि से सुनना पाप कथायें और सुनाना औरों को,
प्रमाद करना, प्रदान करना हिंसा के उपकरणों को।

---

१. अनर्थदण्डः पंचधाऽपध्यानपापोपदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात्।

अनर्थ-दण्डक पाँच पाप ये दुश्चिंतन में रत रहना,
इन दण्डों को नहीं धारते गणधर देवों का कहना ॥७५॥

टीका—दण्डा इव दण्डा अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात्, तान्न धरन्तीत्यदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहुः। कान्? अनर्थदण्डान्। कति? 'पञ्च'। कथमित्याह 'पापेत्यादि। पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुःश्रुतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या चेति पञ्चामी ॥७५॥

अब वे अनर्थदण्ड कौन हैं जिनसे निवृत्त हुआ जाता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ— मन, वचन, काय के अशुभ व्यापार को दण्ड कहते हैं क्योंकि वे दण्ड- डंडे के समान दूसरों को पीड़ा करते हैं। तथोक्त दण्डों को न धारण करने वाले गणधर देव आदि ने पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पाँच को अनर्थदण्ड कहा है। इनसे निवृत्त होना सो पाँच प्रकार का अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—पाप का उपदेश देना और पाप का उपदेश सुनना ये दोनों कार्य वचनयोग की दुष्प्रवृत्ति रूप हैं। खोटा चिन्तन करना, यह मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है। और हिंसा के उपकरण दूसरों को देना तथा प्रमाद पूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करना, यह काययोग की दुष्प्रवृत्ति है। इस प्रकार तीनों योगों की दुष्प्रवृत्ति रूप पाँच कार्य होते हैं १. पापोपदेश, २. हिंसादान, ३. अपध्यान, ४. दुःश्रुति और ५. प्रमाद चर्या ये पाँच कार्य अनर्थदण्ड हैं। इनसे व्यर्थ ही पापकर्म का बन्ध होता रहता है, इसलिए व्रती मनुष्य इनसे निवृत्त होकर पाँच प्रकार के अनर्थदण्डव्रत को धारण करता है ॥७५॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूपं प्ररूपयन्नाह–

[१]तिर्यक्क्लेशवणिज्या,-हिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
[२]कथाप्रसङ्गः प्रसवः, स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः ॥७६॥

अन्वयार्थ—[१](तिर्यक्क्लेशवणिज्या-हिंसारम्भ-प्रलम्भनादीनाम्) पशुओं को क्लेश पहुँचाने वाली क्रियाएँ, व्यापार, हिंसा, आरम्भ और छलने आदि की **(कथाप्रसंगः)** कथाओं का प्रसंग

---

१. क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारंभकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। तद्यथा– अस्मिन् देशे दासी दास्यः सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीनमुत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशाकु निकादिभ्यो मृगवराहशा-कुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरंभकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदक-ज्वलन-पवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेन कर्त्तव्य इत्याख्यानमारंभोपदेश इत्येवंप्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेहाः।

२. प्रसवः कथाप्रसङ्गः घ।

३. विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशादानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्॥१४२॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

(प्रसवः) उत्पन्न करना **(पापः उपदेशः)** पाप सम्बन्धि उपदेश/पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड **(स्मर्त्तव्यः)** स्मरण रखना चाहिए/जानना चाहिए।

पशुओं को पीड़ा हो जिनसे कृषि आदिक हिंसाधिक हो,
जिन उपदेशों से यदि बढ़ते प्रचलित प्रवंचनादिक हो।
उन्हीं कथायें बार-बार बस, सतत सुनाते जो रहना,
वही रहा पापोपदेश है अनर्थ जड़ है भवगहना ॥७६॥

टीका—'स्मर्त्तव्यो' ज्ञातव्यः। कः ? 'पापोपदेशाः' पापः पापोपार्जनहेतुरुपदेशः। कथंभूतः ? 'कथाप्रसङ्गः' कथानां तिर्यक्क्लेशादिवार्तानां प्रसङ्गः पुनः पुनः प्रवृत्तिः। किंविशिष्टः ? 'प्रसवः' प्रसूत इति प्रभवः उत्पादकः। केषामित्याह–'तिर्यगित्यादि' तिर्यक्क्लेशश्च हस्तिदमनादिः, वणिज्या च वणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा च प्राणिवधः, आरम्भश्च कृष्यादिः, प्रलम्भनं च वञ्चनं तानि आदिर्येषां मनुष्यक्लेशादीनां तानि तथोक्तानि तेषाम् ॥७६॥

अब उन पाँच अनर्थदण्डों में सर्वप्रथम पापोपदेश अनर्थदण्ड का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं –

टीकार्थ— जो उपदेश पाप के उपार्जन में कारण हो उसे पापोपदेश कहा है। तिर्यक्क्लेश आदि उसके भेद हैं। हाथी आदि को वश में करने की प्रक्रिया तिर्यक्क्लेश है, लेन-देन आदि व्यापारियों का कार्य वणिज्य है, प्राणि वध करना हिंसा है, खेती आदिक आरम्भ है तथा दूसरों को किस तरह ठगना आदि की कला प्रलम्भन है। तिर्यक्क्लेश के समान मनुष्य क्लेश भी होता है अर्थात् ऐसी क्रियाएँ जिनसे कि मनुष्य को क्लेश होता है। इन सबकी कथाओं का प्रसङ्ग उपस्थित करना अर्थात् बार-बार इनका उपदेश देना पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। इसका परित्याग करने से पापोपदेशानर्थदण्डव्रत होता है।

विशेषार्थ—कहीं-कहीं पापोपदेश अनर्थदण्ड का ऐसा भी व्याख्यान किया जाता है-**क्लेश-तिर्यग्वणिज्यावधकारम्भकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः** अर्थात् क्लेशवणिज्या तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश इस प्रकार के पाप संयुक्त जो वचन हैं उन्हें पापोपदेश कहते हैं। इस देश में दास और दासियाँ सुलभ हैं उन्हें अमुक देश में ले जाकर बेचने पर अधिक लाभ होता है ऐसा उपदेश करना क्लेशवणिज्या है। गाय, भैंस आदि को अमुक देश में खरीदकर अमुक देश में बेचने से अधिक लाभ होता है ऐसा उपदेश तिर्यग्वणिज्या है। वागुरिक-मृगादिक को पकड़ने के लिए जाल फैलाने वाले, शौकरिक-सुअर आदि का शिकार करने वाले और शाकुनिक-पक्षियों को मारने वाले लोगों को यह उपदेश देना कि अमुक स्थान पर मृग, शूकर तथा पक्षी आदिक अधिक हैं वधकोपदेश है और किसान आदि आरम्भ कर्त्ताओं को पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति का आरम्भ इस उपाय से करना चाहिए, ऐसा उपदेश देना आरम्भकोपदेश है। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध 'घ' प्रति में इस

प्रकार है-प्रसवः कथाप्रसङ्गः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः इस पाठ में श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है-तिर्यक्क्लेश आदि को उत्पन्न करने वाली कथाओं का जो प्रसङ्ग है उसे पापोपदेश जानना चाहिए। संस्कृत टीका के द्वारा भी इसी पाठ का समर्थन होता है ॥७६॥

अथ हिंसादानं किमित्याह-

[१]परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृंखलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं, [२]हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥७७॥

अन्वयार्थ-(बुधाः) ज्ञानी गणधर आदि देव **(परशु-कृपाण-खनित्र-ज्वलनायुध-शृङ्गि-शृंखलादीनाम्)** फरसा, तलवार, कुदाली-फावड़ा, अग्नि, छुरी कटार आदि हथियार, सींगी या विष और सांकल आदि **(वधहेतूनां)** हिंसा के कारणों के **(दानं)** देने को **(हिंसादानं)** हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड **(ब्रुवन्ति)** कहते हैं।

हिंसा के जो कारण माने फरसा भाला हाला को,
खड्ग कुदारी तथा शृंखला जलती ज्वाला जाला को।
प्रदान करना, अनर्थदण्डक यह है हिंसा दान रहा,
बुध कहते, दुख प्रदान करता भव-भव में दुख खान रहा ॥७७॥

टीका-'हिंसादानं ब्रुवन्ति'। के ते ? 'बुधाः' गणधरदेवादयः। किं तत् ? 'दानं'। यत्केषां ? 'वधहेतूनां हिंसाकारणानां। केषां तत्कारणानामित्याह-'परशु'इत्यादि। परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च क्षुरिकाकालकूटादीनि शृङ्गि च विषसामान्यं शृङ्खला च ता आदयो येषां ते तथोक्तास्तेषाम् ॥७७॥

अब हिंसादान क्या है ? यह कहते हैं-

टीकार्थ- फरसा तथा कुल्हाड़ी आदि को परशु कहते हैं, तलवार को कृपाण कहते हैं, जमीन खोदने के साधन गेंती, कुदारी, फावड़ा आदि को खनित्र कहते हैं, अग्नि को ज्वलन कहते हैं, छुरी, लाठी, भाला आदि को आयुध कहते हैं, विष सामान्य को शृङ्गी कहते हैं और बन्धन के साधन को शृङ्खला कहते हैं। ये सब हिंसा के कारण हैं। इनका दूसरों के लिये देना सो हिंसादान अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना हिंसादान अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ- यद्यपि व्रती मनुष्य स्वयं के उपयोग के लिए परशु, तलवार तथा गेंती, फावड़ा

---

१. असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनाम्
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२. विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते ॥

आदि हिंसा के उपकरणों को रखता है और सावधानी के साथ उनका उपयोग करता है। परन्तु वह दूसरों के लिए माँगने पर नहीं देता, क्योंकि वह इसका दुरुपयोग नहीं करेगा, इसका विश्वास नहीं है। यदि कोई परदेशी मनुष्य भोजन बनाने के लिए अग्नि माँगता है तो उसके लिये अग्नि देना इस अनर्थदण्ड में नहीं आता है ॥७७॥

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह–

[१]वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं[२], शासति जिनशासने विशदाः ॥७८॥

अन्वयार्थ–(जिनशासने) जिनशासन में **(विशदाः)** निपुण पुरुष **(द्वेषात्)** द्वेष से **(वधबन्धच्छेदादेः)** मारने, बाँधने, छेदने आदि का **(च)** और **(रागात्)** राग से **(परकलत्रादेः)** परस्त्री आदि का **(आध्यानम्)** चिन्तन करने को **(अपध्यानम्)** अपध्यान नामक अनर्थदण्ड **(शासति)** कहते हैं।

द्वेषभाव से कभी किसी के बंधन छेदन का वध का,
रागभाव के वशीभूत हो पर-वनितादिक का धन का।
मन से चिंतन करना हो तो दुःख हेतु दुर्ध्यान रहा,
जिन-शासन के शासक कहते सौख्य हेतु शुभ ध्यान रहा ॥७८॥

टीका–'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति। के ते ? 'विशदा' विचक्षणाः। क्वः ? 'जिनशासने'। किंतत् ? 'आध्यानं' चिन्तनं। कस्य ? 'वधबन्ध च्छेदादेः। कस्मात्? 'द्वेषात्। न केवलं द्वेषादपि 'रागाद्वा' ध्यानं। कस्य ? 'परकलत्रादेः' ॥७८॥

अब अपध्यान के स्वरूप का व्याख्यान करने के लिये कहते हैं–

टीकार्थ– द्वेष के कारण किसी के मर जाने, बँध जाने अथवा अंगोपांग के छिद जाने आदि का और राग के कारण परस्त्री आदि का आध्यान–बार–बार चिन्तन करना सो अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है ऐसा जिनशासन के ज्ञाता पुरुष कहते हैं।

विशेषार्थ–अपकृष्टं ध्यानं अपध्यानम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपध्यान का अर्थ खोटा ध्यान होता है। खोटा ध्यान राग और द्वेष के कारण होता है। राग के वशीभूत होकर परस्त्री आदि का ध्यान होता है और द्वेष के कारण किसी के मर जाने, बंध जाने अथवा छिद जाने आदि का विचार होता

---

१. पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्॥ १४१॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२. परेषां जयपराजयवधाऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्।

है। यह सब अपध्यान है–मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है। किसी की हार–जीत का विचार भी इसी अपध्यान में आता है। इसे पापबन्ध का कारण जानकर व्रती मनुष्य इससे दूर रहता है। यह अपध्यान अनर्थदण्डव्रत है ॥७८॥

साम्प्रतं दुःश्रुतिस्वरूपयन्नाह–

[1]आरम्भ–सङ्ग–साहस,–मिथ्यात्व–द्वेष–राग–मद–मदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुति,–रवधीनां [2]दुःश्रुतिर्भवति ॥७९॥

अन्वयार्थ–(आरम्भ–सङ्ग–साहस–मिथ्यात्व–द्वेष–राग–मद–मदनैः) आरम्भ, परिग्रह, साहस (कथा में आश्चर्यकारी वीरता), मिथ्यात्व, द्वेष, राग, घमण्ड और विषयभोग से **(चेतः)** चित्त को **(कलुषयताम्)** कलुषित/ मलीन करने वाले **(अवधीनाम्)** शास्त्रों का **(श्रुतिः)** सुनना **(दुःश्रुतिः)** दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड **(भवति)** होता है।

कृषि आदिक का वशीकरण का, संग वृद्धि का वर्णन हो,
वीर रसों का मिश्रण जिनमें द्वेषभाव का चित्रण हो।
कुमत मदन मद के पोषक हैं, उन शास्त्रों का श्रवण रहा,
मन कलुषित करता, 'दुःश्रुति' यह इसका फल भवभ्रमण रहा ॥७९॥

टीका–'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ ? 'श्रुतिः श्रवणं। केषां ? 'अवधीनां' शास्त्राणां। किं कुर्वतां ? 'कलुषयतां मलिनयतां। किं तत्? 'चेतः' क्रोधमानमायालोभाद्याविष्टं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह–'आरम्भेत्यादि' आरम्भश्च कृष्यादिः सङ्गश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादनं वार्तानीतौ विधीयते। 'कृषिः पशुपाल्यं[3] वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात्, साहसं चात्याद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपाद्यते मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिकमित्यादि, प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च, विद्वेषीकरणादि–शास्त्रेणाभिधीयते रागश्च वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदश्च 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरु' रित्यादि–ग्रन्थाज्ज्ञायते, मदनश्च [4]रतिगुणविलासपताकादिशास्त्रादुत्कटो भवति तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयतां शास्त्राणां श्रुतिर्दुःश्रुतिर्भवति ॥७९॥

अब दुःश्रुति का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– खेती आदि को आरम्भ कहते हैं और परिग्रह को सङ्ग कहते हैं। इन दोनों का वर्णन वार्तानीति में किया जाता है क्योंकि **कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता इत्यभिधानात्** अर्थात्

---

१. रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥ १४५॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२. हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथा–श्रवणशिक्षणव्यावृत्तिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते॥

३. कृषिः पशुपाल्यवाणिज्या च घ। ४. रतिविलासगुणपताकादि घ।

खेती, पशुपालन और व्यापार यह सब वार्ता है, यह कहा गया है। अर्थशास्त्र को वार्ता कहते हैं। साहस का अर्थ अत्यन्त आश्चर्यजनक कार्य है। इसका वर्णन वीर मनुष्यों की कथा में किया जाता है। अद्वैतवाद तथा क्षणिकवाद आदि मिथ्यात्व है। इसका वर्णन प्रमाण विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र के द्वारा किया जाता है। द्वेष का अर्थ प्रसिद्ध यह द्वेष विद्वेषीकरण-द्वेष उत्पन्न करने वाले शास्त्र के द्वारा कहा जाता है। वशीकरण आदि शास्त्र के द्वारा राग उत्पन्न किया जाता है। मद अहंकार को कहते हैं। इसकी उत्पत्ति **वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः** वर्णों का ब्राह्मण गुरु है इत्यादि ग्रन्थों से जानी जाती है। मदन का अर्थ काम है। यह रतिगुण विलास पताका आदि शास्त्रों से उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार आरम्भ आदि के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का श्रवण करना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना दुःश्रुति अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—जो शास्त्र आरम्भ, परिग्रह, अद्भुत कार्य, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहंकार और काम की उत्कटता से चित्त को कलुषित करते हैं, उन्हें दुःश्रुति कहते हैं। इनके सुनने का त्याग करना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डव्रत है। व्रती मनुष्य सदा ऐसे शास्त्रों का ही स्वाध्याय करता है जिससे उसे अपने सर्वज्ञ-वीतराग स्वरूप की श्रद्धा दृढ़ हो जावे। इसके विपरीत जिन शास्त्रों के सुनने से आरम्भ आदि की वृद्धि होती है वे सब कुशास्त्र हैं व्रती मनुष्य को इन सबका त्याग करना चाहिए ॥७९॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्नाह–

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च, [१]प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥८०॥

अन्वयार्थ—(विफलम्) निष्प्रयोजन **(क्षिति-सलिल-दहन-पवनारम्भम्)** पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु का आरम्भ/अपव्यय करने **(वनस्पतिच्छेदम्)** वनस्पति के छेदने **(सरणं)** स्वयं घूमने **(च)** और **(सारणं)** दूसरों के घुमाने इन सबको **(प्रमादचर्यां)** प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड **(प्रभाषन्ते)** कहते हैं।

अनल जलाना अनिल चलाना सलिल सींचना वृथा कभी,
धरा खोदना, धूल उछालन लता तोड़ना तथा कभी।
बिना प्रयोजन स्वयं घूमना और घुमाना परजन को,
प्रमाद नामक अनर्थ-दण्डक यह कारण भव-बंधन को ॥८०॥

टीका—'प्रभाषन्ते' प्रतिपादयन्ति। कां ? 'प्रमादचर्यां'। किं तदित्याह-'क्षितीत्यादि'। क्षितिश्च सलिलं च दहनश्च तेषामारम्भं क्षितिखननसलिल-प्रक्षेपणदहनप्रज्वलनपवनकरणलक्षणं। किंविशिष्टं? 'विफलं' निष्प्रयोजनं। तथा 'वनस्पतिच्छेदं' विफलं। न केवलमेतदेव किन्तु 'सरणं' सारणमपि च'

१. प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचन-वधकर्मं प्रमादचरितमिति कथ्यते।

सरणं स्वयं निष्प्रयोजनं पर्यटनं सारणमन्यस्य निष्प्रयोजनं गमनप्रेरणम् ॥८०॥

अब प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–व्यर्थ ही पृथिवी को खोदना, पानी को बिखेरना, अग्नि को जलाना, वायु को रोकना, फल-फूल-पत्ती आदि को तोड़ना, स्वयं निष्प्रयोजन घूमना और दूसरों को भी निष्प्रयोजन घुमाना यह सब प्रमाद चर्या नामक अनर्थदण्ड है। इससे निवृत्त होने को प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

विशेषार्थ–कितने ही लोग पृथिवी को निष्प्रयोजन खोदने लगते हैं, पानी सींचने लगते हैं अथवा तालाब, नदी आदि में घंटों तैरते रहते हैं, अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, पंखा आदि चलाकर वायुकायिक जीवों को त्रास देते हैं अथवा सिरहाने या गद्दा आदि में हवा भर कर उस पर शयन करते हैं, अनावश्यक फूल, फल, पत्ती आदि को तोड़कर वनस्पतिकायिक जीवों का घात करते हैं, स्वयं निष्प्रयोजन घूमते हैं और दूसरों को भी घूमने के लिये प्रेरणा करते हैं। उनका यह सब कार्य प्रमाद चर्या अनर्थदण्ड में आता है। यह ठीक है कि अणुव्रत के धारक मनुष्य के स्थावर हिंसा का त्याग नहीं है परन्तु अनावश्यक स्थावर हिंसा मुझसे न हो जावे, इस बात का ध्यान उसे रखना आवश्यक है। प्रमादात् चर्या प्रमादचर्या इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाद पूर्वक जितनी प्रवृत्ति है वह सब प्रमाद चर्या अनर्थदण्ड में गर्भित है। व्रती मनुष्य इसका त्यागकर प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत को धारण करता है[१]॥८०॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह–

कन्दर्पं कौत्कुच्यं, मौखर्य-मतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥८१॥

अन्वयार्थ–(कन्दर्पं) राग की तीव्रता से हँसी करते हुए अशिष्ट वचन कहना **(कौत्कुच्यम्)** शरीर की कुचेष्टा करना **(मौखर्यम्)** व्यर्थ अधिक बकवास करना **(अतिप्रसाधनम्)** भोगोपभोग सामग्री का आवश्यकता से ज्यादा संग्रह करना **(च)** और **(असमीक्ष्य अधिकरणम्)** पूर्वापर विचार किए बिना अधिक कार्य करना ये **(पञ्च)** पाँच **(अनर्थदण्डकृद्विरतेः)** अनर्थदण्डव्रत के **(व्यतीतयः)** अतिचार हैं।

बहु बकना अति राग भाव से, असभ्य बातें भी करना,
भोग्य वस्तुयें अधिक बढ़ाना कुत्सित चेष्टायें करना।
किसी कार्य काऽऽरम्भ अधिक भी पूर्व भूमिका बिन करना,
अनर्थदण्डकव्रत के पाँचों दोष रहें ये, नहिं करना ॥८१॥

---

१. भूखनन-वृक्षमोट्टन-शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

टीका—'व्यतीतयो'ऽतीचारा भवन्ति। कस्य ? 'अनर्थदण्डकृद्विरतेः' अनर्थं निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्तीत्यनर्थदण्डकृतः पापोपदेशादयस्तेषां विरतिर्यस्य तस्य। कति ? 'पञ्च'। कथमित्याह- 'कन्दर्पेत्यादि।', रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कन्दर्पः, प्रहासो भण्डिमावचनं भण्डिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौत्कुच्यं, धाष्टर्यप्रायं बहुप्रलापित्वं मौखर्यं, यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनम्, एतानि चत्वारि, असमीक्ष्याधिकरणं पञ्चमं असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणम् ॥८१॥

इस प्रकार अनर्थदण्डविरतिव्रत का निरूपण कर अब उसके अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ— यद्यपि कोष में कन्दर्प का अर्थ काम है, परन्तु यहाँ काम को उत्तेजित करने वाले भद्दे वचन बोलना कन्दर्प माना गया है। भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अङ्गों से शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। आवश्यकता से अधिक-निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य कहलाता है। जितने पदार्थ से अपने उपभोग और परिभोग की पूर्ति होती है उससे अधिक का संग्रह करना अतिप्रसाधन कहलाता है तथा असमीक्ष्य-प्रयोजन का विचार किये बिना ही अधिक कार्य का करना असमीक्ष्याधिकरण है। ये पाँच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—हमजोली के चार मित्र इकट्ठे बैठने पर हँसी-मजाक करते हुए भद्दे-भद्दे वचन बोलकर अपनी वचनवर्गणा का दुरुपयोग करते हैं। साथ ही संभोगादिक का संकेत करते हुए शरीर की भद्दी चेष्टा करते हैं। मित्र-गोष्ठी में बैठकर घंटों गपशप करते रहते हैं। स्नानादि के लिये तालाब या नदी आदि को जाते समय तैल आदि शृङ्गार सामग्री इतनी अधिक ले जाते हैं जो अपनी आवश्यकता से अधिक होती है तथा दूसरे लोग उसका उपयोग कर जीव घात करते हैं। कितने ही लोग अपना खुद का प्रयोजन थोड़ा होने पर भी आरम्भ कर्ताओं से अधिक आरम्भ कराते हैं। उनके यह सब काम गृहीतव्रत को मलिन करने के कारण अतिचार माने गये हैं। उमास्वामी[१] महाराज के उपभोग-परिभोगानार्थक्य के स्थान पर समन्तभद्र स्वामी ने अतिप्रसाधन शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु यह शब्द भेद ही है, अर्थभेद नहीं ॥८१॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं गुणव्रतमाख्यातुमाह–

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ, रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥

अन्वयार्थ—(रागरतीनाम्) राग से होने वाली विषयों की लालसा के **(तनूकृतये)** घटाने के लिए **(अवधौ)** परिग्रह परिमाणव्रत में की हुई परिग्रह की मर्यादा में **(अपि)** भी **(अर्थवताम्)** प्रयोजनभूत **(अक्षार्थानाम्)** इन्द्रियों के विषयों का **(परिसंख्यानम्)** परिमाण करना **(भोगोपभोग-**

१. कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि। त. सू. ७-३२।

परिमाणम्) भोगोपभोग-परिमाण नामक व्रत है।

विषय राग की लिप्सा को जब और क्षीणतम करना है,
विषयों की सीमा को उसके भीतर भी कम करना है।
आवश्यक पंचेन्द्रिय विषयों की सीमा सीमित करना,
भोगोपभोग परिमाण यही है गुणव्रत धरना हित करना ॥८२॥

टीका—'भोगोपभोगपरिमाणं' भवति। किं तत्? 'यत्परिसंख्यानं' परिगणनं। केषां ? 'अक्षार्थाना' मिन्द्रियविषयाणां कथंभूतानामपि तेषां ? अर्थवतामपि सुखादिलक्षणप्रयोजनसम्पादकानामपि अथवाऽर्थवतां सग्रन्थामपि श्रावकाणां। तेषां परिसंख्यानं। किमर्थं ? 'तनूकृतये' कृश[1]तरत्वकरणार्थं। कासां ? 'रागरतीनां रागेण विषयेषु रागोद्रेकेण रतयः आसक्तयस्तासां। कस्मिन् सति ? अवधौ विषयपरिमाणे ॥८२॥

अब भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रत का निरूपण करने के लिये कहते हैं–

टीकार्थ— परिग्रहपरिमाणव्रत की जो सीमा निश्चित की थी उसके भीतर विषय सम्बन्धी राग के तीव्र उदय से होने वाली आसक्तियों को अत्यन्त कृश करने के लिये सुखादि रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले भी इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों का जो परिसंख्यान-नियम किया जाता है वह भोगोपभोगपरिमाण नाम का गुणव्रत है। टीकाकार ने 'अर्थवतामपि' शब्द का एक अर्थ यह भी किया है कि अर्थ- परिग्रह रहित मुनि तो इन्द्रिय विषयों का परिगणन करते ही हैं परन्तु-परिग्रह सहित गृहस्थ भी इन्द्रिय विषयों का जो परिगणन करते हैं वह भोगोपभोगपरिमाण व्रत कहलाता है।

विशेषार्थ—परिग्रहपरिमाणव्रत में भोग और उपभोग की वस्तुओं की जो संख्या निश्चित की जाती है उनका प्रतिदिन उपयोग नहीं होता, इसलिए उस सीमा को और भी संकुचित करने के लिये भोगोपभोगपरिमाणव्रत धारण किया जाता है। स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के विषयभूत जो पदार्थ हैं वे संक्षेप में भोग-उपभोग नाम से व्यवहृत होते हैं। विषय सम्बन्धी राग की तीव्रता से विषयों में जो आसक्तियाँ बढ़ती रहती हैं उन्हें कम करने के लिए व्रती मनुष्य इन्द्रिय विषयों की सीमा को और भी संकुचित करता है। भोग और उपभोग में जो अभक्ष्य अथवा अनुपसेव्य पदार्थ हैं उनका तो जीवनपर्यन्त के लिए त्याग होता है और जो भक्ष्य तथा उपसेव्य हैं उनका जीवनपर्यन्त के लिए अथवा कुछ काल के लिए भी परिगणन किया जाता है। अभक्ष्य के पाँच प्रकार हैं–१. त्रसघात, २. प्रमाद, ३. बहुघात, ४. अनिष्ट और ५. अनुपसेव्य। जो मनुष्य त्रस हिंसा का त्याग करना चाहता है उसे मधु और मांस का त्याग करना चाहिए, क्योंकि उसकी उत्पत्ति त्रसघात के बिना नहीं होती। जो त्रसघात के साथ प्रमाद का परित्याग करना चाहते हैं उन्हें मद्य का त्याग करना चाहिए, क्योंकि उसके सेवन

---

१. कृशत्वकरणाय घ.।

से त्रसघात और प्रमाद दोनों उत्पन्न होते हैं। अदरक, मूली, हल्दी आदि के सेवन से बहुघात होता है। अनिष्ट तथा अनुपसेव्य पदार्थों का सेवन भी संक्लेश का कारण होता है, अतः व्रती मनुष्य इनसे दूर ही रहता है। इसके अतिरिक्त भक्ष्य और उपसेव्य पदार्थों के विषय में भी नियम किया जाता है कि आज इतने अन्न, इतने रस और इतने सचित्त पदार्थों का सेवन करूँगा। इतने वस्त्र, इतने आभूषण तथा इतने शयन-आसन, वाहन आदि ग्रहण करूँगा। इस व्रत का उद्देश्य विषय सम्बन्धी राग को कम करना है ॥८२॥

अथ को भोगः कश्चोपभोगो यत्परिमाणं क्रियते इत्याशंक्याह–

[1]भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसन,-प्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥८३॥

अन्वयार्थ—(अशनवसनप्रभृतिः) भोजन, वस्त्र आदि **(पाञ्चेन्द्रियः)** पाँचों इन्द्रिय सम्बन्धी जो **(विषयः)** विषय **(भुक्त्वा)** भोग करके **(परिहातव्यः)** छोड़ देने के योग्य है वह तो **(भोगः)** भोग है **(च)** और **(भुक्त्वा)** भोग करके **(पुनः)** फिर **(भोक्तव्यः)** भोगने योग्य है वह **(उपभोगः)** उपभोग है।

भोग वही जो भोग काम में एकबार ही आता है,
किन्तु रहा उपभोग काम में बार-बार जो आता है।
अशन सुमन आसन वसनादिक पंचेन्द्रिय के विषय रहें,
श्रावक इनमें रचे-पचे नहिं निज व्रत में नित अभय रहें ॥८३॥

टीका—पञ्चेन्द्रियाणामयं 'पाञ्चेन्द्रियो' विषयः। 'भुक्त्वा परिहातव्यः' स्त्याज्यः स 'भोगो'ऽशन-पुष्पगन्धविलेपनप्रभृतिः। यः पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः स 'उपभोगो' वसनाभरणप्रभृतिः वसनं वस्त्रम् ॥८३॥

अब भोग क्या है और उपभोग क्या है, जिसका कि परिमाण किया जाता है ? ऐसी आशंका उठाकर उसके लक्षण कहते हैं–

टीकार्थ—जो पदार्थ एकबार भोगकर छोड़ दिये जाते हैं फिर से काम में नहीं आते ऐसे भोजन, पुष्प, गन्ध तथा विलेपन आदि पदार्थ भोग कहलाते हैं और जो पहले भोगकर फिर से भोगने में आते हैं ऐसे वस्त्र तथा आभूषण आदि उपभोग कहलाते हैं। इनकी सीमा निश्चित करना सो भोगोपभोगपरिमाणव्रत है।

---

१. भोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। मधु मांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रतिनिवृत्तचेतसा। मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय अनुष्ठेयं।

विशेषार्थ—भुज्यते सकृत् सेव्यते इति भोगः जो एक बार सेवन में आवे सो भोग है और **उपभुज्यते भूयो भूयः सेव्यते** जो अनेक बार सेवन में आवे वह उपभोग है। जैसे भोजन और वस्त्र आदि। भोजनादि भोग का दृष्टान्त है और वसनादि उपभोग का ॥८३॥

[१]मध्वादिर्भोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याह–

त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(जिनचरणौ) जिनेन्द्रदेव के चरणों की **(शरणम्)** शरण को **(उपयातैः)** प्राप्त हुए श्रावकों के द्वारा **(त्रसहति-परिहरणार्थं)** त्रसजीवों की हिंसा को दूर करने के लिए **(क्षौद्रम्)** मधु/शहद **(पिशितम्)** माँस **(च)** और **(प्रमादपरिहृतये)** प्रमाद (यह माता है यह स्त्री है इस प्रकार के विवेक के अभाव) को दूर करने के लिए **(मद्यम्)** मदिरा **(वर्जनीयम्)** त्यागने योग्य है।

जिसने जिनवर के जग-तारण-तरण-चरण की शरण गही,
कहा जा रहा उसका, निश्चित बनता है आचरण सही।
त्रस-हिंसा से जब बचता है माँस तथा मधु तजता है,
तथा साथ ही प्रमाद तजने मद्य-पान भी तजता है ॥८४॥

टीका—'वर्जनीयं'। किं तत् ? 'क्षौद्रं मधु'। तथा 'पिशितं'। किमर्थं ? 'त्रसहतिपरिहरणार्थं त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वधस्तत्परिहरणार्थं। तथा 'मद्यं च' वर्जनीयं। किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति विवेकाभावः प्रमादस्तस्य परिहृतये परिहारार्थं। कैरेतद्वर्जनीयं ? 'शरणमुपयातैः' शरणमुपगतैः। कौ ? 'जिनचरणौ' श्रावकैस्तत्त्याज्यमित्यर्थः ॥८४॥

अब मधु आदिक पदार्थ भोग रूप होने पर भी त्रस जीवों के घात का कारण होने से अणुव्रत धारियों के द्वारा छोड़ने योग्य हैं यह कहते हैं–

टीकार्थ— जो जिनेन्द्रदेव के चरणों की शरण को प्राप्त है अर्थात् जैनधर्म के धारक हैं ऐसे श्रावकों को द्वीन्द्रियादि त्रसजीवों के हिंसा से बचने के लिये मधु और मांस का त्याग करना चाहिए तथा प्रमाद से बचने के लिये मद्य-मदिरा का त्याग करना चाहिए। ''यह माता है अथवा स्त्री है।'' इस प्रकार के विवेक के अभाव को प्रमाद कहते हैं।

विशेषार्थ—जैनधर्म धारण करने का प्रारम्भिक नियम है कि मद्य, मांस और मधु का त्याग किया जावे। इसके बिना जैनधर्म का धारण नहीं हो सकता। क्षुद्रा, मधुमक्षिका को कहते हैं। अतः क्षुद्राभिः निर्वृतम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार मधुमक्षिकाओं के द्वारा रचा हुआ पदार्थ क्षौद्रया मधु कहलाता है। इसमें अनन्त त्रसजीव उत्पन्न होते रहते हैं। और पिशित-मांस द्वीन्द्रियादिक जीवों का कलेवर है।

१. मद्यादिरुपभोगरूपोऽपि घ.।

इसकी भी कच्ची तथा पक्की दोनों अवस्थाओं में अनन्त त्रसजीव उत्पन्न होते हैं। इनके सेवन करने से उन जीवों का घात होता है। इसी प्रकार मद्य भी त्रस हिंसा का कारण है। साथ ही उसके सेवन से हिता-हित का विवेक भी नष्ट हो जाता है। अतः वह भी श्रावक के द्वारा जीवन पर्यन्त के लिये छोड़ने योग्य है ॥८४॥

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह –

[1]अल्पफलबहुविघातान्, मूलक-मार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीत-निम्बकुसुमं, कैतकमित्येव-मवहेयम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—इस व्रत में **(अल्पफलबहुविघातात्)** थोड़ा फल और अधिक हिंसा होने से **(आर्द्राणि)** गीले/अपक्व/अशुष्क/सचित्त **(शृङ्गवेराणि)** अदरक **(मूलकम्)** मूली, गाजर आदि **(नवनीत)** मक्खन **(निम्बकुसुमं)** नीम के फूल **(कैतकम्)** केवड़ा/केतकी के फूल **(इति)** इत्यादि **(एवम्)** ऐसी और वस्तुएँ **(अवहेयम्)** छोड़ने योग्य है।

मूली, लहसुन, प्याज, गाजरा, आलू, अदरक आदिक को,
नीम कुसुम नवनीत केवड़ा गुलाब गुलकन्दादिक को।
साधु जनों ने त्याज्य बताया इसका कारण यह श्रोता!
जीव घात तो अधिक, अल्प फल इनके भक्षण से होता ॥८५॥

टीका— 'अवहेयं' त्याज्यं। किं तत्? 'मूलकं। तथा 'शृङ्गवेराणि' आर्द्रकाणि। किं विशिष्टानि? 'आर्द्राणि'अशुष्काणि[2]। तथा नवनीतं च। निम्बकुसुममित्युपलक्षणं सकलकुसुमविशेषाणां तेषां। तथा कैतकं केतक्या इदं कैतकं गुधरा इत्येवं, इत्यादि सर्वमवहेयं। कस्मात् 'अल्पफलबहुविघातात्'। अल्पं फलं यस्यासावल्पफलः, बहूनां त्रसजीवानां विघातो विनाशो बहुविघातः अल्पफलश्चासौ बहुविघातश्च तस्मात् ॥८५॥

इसके सिवाय श्रावकों द्वारा और भी कुछ वस्तुएँ त्यागने योग्य हैं, यह कहते हैं—

टीकार्थ—मूली, गीला[3] अर्थात् बिना सूखा अदरक, उपलक्षण से आलू, घुइंयाँ, गाजर, सकरकंद आदि, मक्खन, नीम के फूल, उपलक्षण से सभी प्रकार के फूल तथा केतकी के फूल और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी अल्पफल और बहुत जीवों का घात होने से छोड़ने के योग्य हैं।

---

१. केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयात्। २. अपक्वानि घ.।

३. संस्कृतटीकाकार ने 'आर्द्राणि' शब्द की व्याख्या करते हुए 'अशुष्काणि' पद दिया है। इससे ज्ञात होता है कि जो अदरक स्वतः स्वभाव से सूखकर सौंठ रूप में परिवर्तित हो गया है उसे व्रती मनुष्य ले सकता है।

विशेषार्थ– जिन वस्तुओं के खाने में त्रस जीवों का घात होता है वे तो त्याज्य हैं ही। परन्तु जिनमें अनन्त स्थावर कायो का घात होता है ऐसी मूली तथा गीला अदरक, घुइंयाँ आदि भी त्याज्य हैं। अंगुल के असंख्यातवें भाग बराबर अवगाहना के धारक एक निगोद जीव के शरीर में सिद्धों तथा समस्त भूतकाल से अनन्तगुणित जीवों का निवास है।[1] जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी अल्प सुख के लिये इन सब जीवों का विघात हो जाता है। दूध या दही को मथकर निकाला हुआ मक्खन नवनीत (लोनी) कहलाता है। इसमें अन्तर्मुहूर्त के बाद असंख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार नीम आदि के फूल भी त्रस जीवों के निवास स्थान हैं। केतकी-केवड़ा आदि के फूलों में भी चलते फिरते त्रस जीव दिखाई देते हैं। अतः उन फूलों से सुवासित किये हुए कत्था आदि पदार्थ भी श्रावकों के द्वारा छोड़ने योग्य हैं ॥८५॥

प्रासुकमपि यदेवंविधं तत्त्याज्यमित्याह–

[2]यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानु[3]पसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥८६॥

अन्वयार्थ–इस व्रत में **(यत्)** जो वस्तु **(अनिष्टम्)** अनिष्ट-अहितकर है **(तद्)** उसको **(व्रतयेत्)** छोड़े **(च)** और **(यत्)** जो **(अनुपसेव्यम्)** सेवन करने के अयोग्य है **(एतदपि)** यह भी **(जह्यात्)** छोड़े **(यतः)** क्योंकि **(योग्यात्)** योग्य **(विषयात्)** विषय से **(अभिसन्धिकृता)** अभिप्राय-पूर्वक की हुई **(विरतिः)** निवृत्ति **(व्रतम्)** व्रत **(भवति)** होती है।

रोग जनक प्रतिकूल अन्न हो भक्ष्य भले ही त्याज्य रहे,
प्रासुक हो पर अनुपसेव्य भी व्रतीजनों को त्याज्य रहे।
क्योंकि ग्रहण के योग्य विषय को, इच्छापूर्वक तजना ही,
व्रत है इस विध आगम कहता, मोह राग को तज राही ॥८६॥

टीका–'यदनिष्टं' उदरसूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्न भवति 'तद्व्रतयेत् व्रतनिवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः। न केवलमेतदेव व्रतयेदपि तु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्'। यच्च यदपि गोमूत्र-करभदुग्ध-शङ्खचूर्ण-ताम्बूलोद्गाललाला-मूत्रपुरीष-श्लेष्मादिकमनुपसेव्यं प्रासुकमपि शिष्टलोकानामा-स्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रतं कुर्यात्। कुत एतदित्याह-[4]अभिसन्धीत्यादि- अनिष्टतया अनुपसेव्यतया

---

१. एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

२. यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं।

३. न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमितीष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः।

४. 'अभिसन्धीत्यादि अनिष्टतया अनुपसेव्यतया च व्यावृतेर्योग्याद् विषयाद्' इति पंक्तिः घ प्रतौ नास्ति।

च व्यावृत्तेर्योग्यविषयादभि-सन्धिकृताऽभिप्रायपूर्विका या विरतिः सा यतो व्रतं भवति ॥८६॥

जो पदार्थ प्रासुक होने पर भी इस प्रकार का है– अनिष्ट है और अनुपसेव्य है वह छोड़ने योग्य हैं–

टीकार्थ–जो वस्तु प्रासुक होने पर भी अनिष्ट है अर्थात् उदरशूल आदि का कारण होने से प्रकृति के अनुकूल नहीं है उसे छोड़ना चाहिए। इसी प्रकार जो भी गोमूत्र, ऊँटनी का दूध, शङ्खचूर्ण, पान का उगाल, लार, मूत्र, पुरीष तथा खकार आदि वस्तुएँ अनुपसेव्य हैं–शिष्ट मनुष्यों के सेवन करने योग्य नहीं हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि अनिष्टपन और अनुपसेव्यपन के कारण छोड़ने के योग्य विषय से अभिप्राय पूर्वक जो निवृत्ति होती है वही व्रत कहलाता है।

विशेषार्थ– मनुष्य की प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। कोई वस्तु किसी के लिये लाभदायक है और किसी के लिये हानिकारक है। इस तरह जो वस्तु जिसके लिये हानिकारक हो वह प्रासुक-त्रस स्थावर के घात से रहित होने पर भी अनिष्ट कहलाती है। व्रती मनुष्य को इसका त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार जो वस्तुएँ शिष्ट मनुष्यों के सेवन में नहीं आती हैं वे अनुपसेव्य हैं, व्रती मनुष्य को इसका भी त्याग करना चाहिए, क्योंकि योग्य विषय का अभिप्राय पूर्वक जो त्याग किया जाता है वही व्रत कहलाता है। इस प्रकार व्रती मनुष्य को १. त्रसघात, २. बहुघात, ३. प्रमादवर्धक, ४. अनिष्ट और ५. अनुपसेव्य इन पाँचों प्रकार के अभक्ष्यों का त्याग करना चाहिए ॥८६॥

तच्च द्विधा भिद्यत इति –

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥८७॥

अन्वयार्थ–(भोगोपभोगसंहारात्) भोग और उपभोग के परिमाण से **(नियमः)** नियम **(च)** और **(यमः)** यम **(द्वेधा)** दो प्रकार से **(विहितौ)** कहा गया है उनमें **(परिमितकालः)** जो नियत काल की मर्यादापूर्वक किया गया त्याग वह **(नियमः)** नियम है और जो **(यावज्जीवं)** जीवनपर्यन्त के लिए **(ध्रियते)** धारण किया जाता है वह त्याग **(यमः)** यम है।

भोगोपभोग परिमाण द्विविध है कहता जिन-आगम प्यारा,
नियम नाम का एक रहा है, रहा दूसरा 'यम' वाला।
तथा काल की सीमा करना, वही नियम से नियम रहा,
आजीवन जो धारा जाता यम कहलाता परम रहा ॥८७॥

टीका–'भोगोपभोगसंहारात् भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् तमाश्रित्य। 'द्वेधा विहितौ' द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वेधां व्यवस्थापितौ। कौ ? 'नियमो यमश्चे'त्येतौ। तत्र को नियमः कश्च यम इत्याह– 'नियमः परिमितकालो' वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः। 'यमश्च

यावज्जीवं ध्रियते' ॥८७॥

आगे वह परित्याग दो प्रकार का होता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ–भोग और उपभोग का परिमाण नियम और यम के भेद से दो प्रकार का होता है। जो परिमाण समय की अवधि लेकर किया जाता है वह नियम कहलाता है और जो जीवन पर्यन्त के लिये धारण किया जाता है वह यम कहलाता है।

विशेषार्थ– जो वस्तुएँ ऊपर कहे हुए पाँच प्रकार के अभक्ष्य की कोटि में आती हैं उनका तो यम रूप से त्याग करना चाहिए अर्थात् जीवनपर्यन्त के लिये त्याग करना चाहिए और जो अभक्ष्य की कोटि में नहीं आती हैं उनका अपने परिणाम तथा देश काल की योग्यता देखते हुए नियम और यम दोनों रूप से त्याग किया जाता है ॥८७॥

तत्र परिमितकाले तत्संहारलक्षणनियमं दर्शयन्नाह–

भोजन-वाहन-शयन-स्नान-पवित्राङ्गराग-कुसुमेषु ।
ताम्बूल-वसन-भूषण,-मन्मथ-संगीतगीतेषु ॥८८॥

अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
[1]इति कालपरिच्छित्त्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥८९॥

अन्वयार्थ–(भोजन-वाहन-शयन-स्नान-पवित्राङ्गराग-कुसुमेषु) भोजन– भोज्य वस्तुओं, वाहन–मोटर गाड़ी, शयन–शय्या पलंग आदि, स्नान पवित्रांगराग–उबटन, साबुन, तेल आदि लगाने, सुगन्धित पुष्पों के विषय में तथा **(ताम्बूल-वसन-भूषण-मन्मथ-संगीत-गीतेषु)** पान, वस्त्र, अलंकार, कामभोग, संगीत और गीत के विषय में **(अद्य)** आज एक घड़ी पहर आदि **(दिवा)** एक दिन **(रजनी)** एक रात्रि **(पक्षः)** एक पक्ष पन्द्रह दिन **(मासः)** एक माह **(ऋतुः)** दो माह **(वा)** अथवा **(अयनम्)** छह माह **(इति)** इस प्रकार **(कालपरिच्छित्त्या)** काल के नियम से **(प्रत्याख्यानम्)** त्याग करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत में **(नियमः)** नियम **(भवेत्)** होता है।

अशन पान का शयन स्नान का तथा काम के सेवन का,
श्रवण गान का सुमन माल का ललित काय के लेपन का।
पचन पान का वसन मान का शोभन भूषण धारण का,
वाद्य गीत संगीत प्रीति का हय-गय अतिशय वाहन का ॥८८॥

घटिका में या दिनभर में या निशि में निशिवासर में या,
पक्ष मास ऋतु एक अयन में पूरण संवत्सर में या।

१. इति से सल्लेखना के समय पूर्ण रूप से त्याग करने पर वे यम रूप त्याग हो जाते हैं।

यथाशक्ति इन्द्रिय विषयों का जो तजना है 'नियम' रहा,
इसका पालन करने वाला सुख पाता अप्रतिम रहा ॥८९॥

टीका—युगलं। नियमो भवेत्। किं तत्? प्रत्याख्यानं। कया ? कालपरिच्छित्या। तामेव कालपरिच्छितिं दर्शयन्नाह-अद्येत्यादि, अद्येति प्रवर्तमानघटिका-प्रहरादिलक्षणकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। तथा दिवेति। रजनी रात्रिरिति वा। पक्ष इति वा। मास इति वा। ऋतुरिति वा मासद्वयं। अयनमिति वा षण्मासा। इत्येवं कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं। केष्वित्याह-भोजनेत्यादिभोजनं च, वाहनं च घोटकादि, शयनं च पल्यङ्कादि, स्नानं च, पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुम्कुमादिविलेपनं। उपलक्षण मेतदञ्जन-तिलकादीनां पवित्रविशेषणं दोषापनयनार्थं तेनौषधाद्यङ्गरागो निरस्तः। कुसुमानि च तेषु विषयभूतेषु। तथा ताम्बूलं च वसनं च वस्त्रं भूषणं च कटकादि मन्मथश्च कामसेवा सङ्गीतं च गीतनृत्यवादित्रत्रयं गीतं च केवलं नृत्यवाद्यरहितं तेषु च विषयेषु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्त्या यत्प्रत्याख्यानं स नियम इति व्याख्यातम् ॥८८-८९॥

अब उस भोगोपभोगपरिमाणव्रत में परिमित काल वाला जो नियम रूप त्याग है उसे दिखलाते हुए कहते हैं—

टीकार्थ—भोजन का अर्थ प्रसिद्ध है, घोड़ा आदि को वाहन कहते हैं, पलंग आदि को शयन कहते हैं, स्नान का अर्थ प्रसिद्ध है, अपवित्र वस्तुओं के संपर्क से रहित केशर आदि के विलेपन को पवित्राङ्गराग कहते हैं, यह अङ्गराग अञ्जन तथा तिलक आदि का उपलक्षण है। अङ्गराग के साथ जो पवित्र विशेषण दिया गया है वह दोषों को दूर करने के लिए दिया गया है। इसलिए सदोष औषध तथा अङ्गराग का निराकरण होता है। कुसुम का अर्थ प्रसिद्ध है, ताम्बूल पान को कहते हैं, वसन वस्त्र को कहते हैं, कटक आदि को भूषण कहते हैं, कामसेवन को मन्मथ कहते हैं, जिसमें गीत, नृत्य और वादित्र होते हैं, उसे संगीत कहते हैं। जिसमें केवल गीत होता है, नृत्य और वादित्र नहीं उसे गीत कहते हैं। इन सबके विषय में समय की अवधि लेकर जो त्याग होता है वह नियम कहलाता है। चालू दिन में एक घड़ी, एक पहर आदि काल का परिमाण कर त्याग करना आज का त्याग है। दिन और रात्रि का अर्थ स्पष्ट है। पन्द्रह दिन को पक्ष कहते हैं। तीस दिन को मास कहते हैं। दो मास को ऋतु कहते हैं। एक वर्ष में चैत्र और वैशाख से लेकर दो-दो मास में क्रम से वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ होती हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन के भेद से वर्ष में छह-छह मास के दो अयन होते हैं। इस प्रकार समय की अवधि रखकर भोजन आदि का त्याग करना नियम कहलाता है।

विशेषार्थ-मैं आज एकबार या दो बार भोजन करूँगा, आज सवारी पर नहीं बैठूँगा, आज पलंग पर नहीं सोऊँगा, आज एकबार ही स्नान करूँगा, आज शरीर में विलेपन नहीं लगाऊँगा, आज फूलों की माला नहीं पहनूँगा, आज पान बिल्कुल नहीं खाऊँगा अथवा इतने परिमाण में खाऊँगा, आज दो वस्त्र अथवा चार-पाँच आदि वस्त्र पहनूँगा, आज आभूषण नहीं पहनूँगा अथवा इतने आभूषण

पहनूँगा, आज कामसेवन नहीं करूँगा, आज संगीत में सम्मिलित नहीं होऊँगा और आज गीत बन्द रखूँगा। इस प्रकार काल का परिमाण रखकर जो त्याग किया जाता है वह नियम कहलाता है। और इन्हीं वस्तुओं का जीवन पर्यन्त के लिए जो त्याग होता है वह यम कहलाता है ॥८८-८९॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचारानाह–

विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमा,-व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥९०॥

अन्वयार्थ–(विषयविषतः) विषयरूपी विष से **(अनुपेक्षा)** उपेक्षा नहीं करना अर्थात् उसमें आदर होना **(अनुस्मृतिः)** भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना तथा उसके प्रतिकार होने पर भी बार-बार अनुभवन की इच्छा होना **(अतिलौल्यम्)** वर्तमान विषयों में अति लम्पटता रखना **(अतितृषानुभवौ)** आगामी भोगोपभोगरूप विषयों की अधिक तृष्णा रखना तथा वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्तिपूर्वक अनुभव करना ये **(पञ्च)** पाँच **(भोगोपभोग-परिमाव्यतिक्रमाः)** भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार **(कथ्यन्ते)** कहे गये हैं।

विषम-विषमतम विष सम विषयों को अनपेक्षित नहिं करना,
विगत काल में भोगे-भोगों, की स्मृति भी पुनि-पुनि करना।
भावी भोगों की अति तृष्णा, लोलुपता अति अपनाना,
भोगोपभोग परिमाण दोष ये, भोगों में अति रम जाना ॥९०॥

टीका–भोगोपभोगपरिमाणं तस्य व्यतिक्रमा अतीचाराः पञ्च कथ्यन्ते। के ते इत्याह विषयेत्यादि–विषय एव विषं प्राणिनां दाहसंतापादिविधायित्वात् तेषु ततोऽनुपेक्षा उपेक्षायास्त्यागस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः। विषयवेदनाप्रतिकारार्थो हि विषयानुभवस्तस्मात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्यत्संभाषणा-लिङ्गनाद्यादरः सोऽत्यासक्तिजनकत्वादतीचारः। अनुस्मृतिस्तदनुभवात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विषयाणां सौन्दर्यसुख-साधनत्वादनुस्मरणमत्यासक्तिहेतुत्वादतीचारः। अतिलौल्यमतिगृद्धिस्तत्प्रतीकारजातेऽपि पुनःपुनस्तद-नुभवाकांक्षेत्यर्थः। अतितृषा भाविभोगोपभोगादेरतिगृद्धया प्राप्त्याकांक्षा। अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगावनु भवति तदाऽत्यासक्त्यानु भवति न पुनर्वेदना-प्रतीकार-तयाऽतोऽतीचारः ॥९०॥

इतिप्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां तृतीयः परिच्छेदः।

अब आगे भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ– विषय विष के समान हैं क्योंकि जिस प्रकार विष प्राणियों को दाह तथा सन्ताप आदि करता है उसी प्रकार विषय भी प्राणियों को दाह और संताप आदि उत्पन्न करते हैं। इस विषय रूपी विष से उपेक्षा नहीं होना अर्थात् उनके प्रति आदर का भाव बना रहना अनुपेक्षा नाम का अतिचार है। विषयों का अनुभव-उपभोग विषय सम्बन्धी वेदना के प्रतिकार के लिये किया जाता है सो

विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी फिर से संभाषण तथा आलिंगन आदि में जो आदर है वह अत्यन्त आसक्ति का जनक होने से अतिचार माना जाता है। विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी सौन्दर्य जनित सुख का साधन होने से विषयों का बार-बार स्मरण करना यह अनुस्मृति नाम का अतिचार है। अत्यन्त आसक्ति का कारण होने से यह अतिचार माना जाता है। विषयों में अत्यन्त गृद्धता रखना अर्थात् विषयानुभव से वेदन का प्रतिकार हो जाने पर भी बार-बार उसके अनुभव की आकांक्षा रखना अतिलौल्य नाम का अतिचार है। आगामी भोगोपभोग आदि की अत्यधिक गृद्धता के साथ प्राप्ति की आकांक्षा रखना अतितृषा नाम का अतिचार है। और नियत काल में भी जब भोग और उपभोग का अनुभव करता है तब अत्यन्त आसक्ति से करता है वेदना के प्रतिकार की भावना से नहीं, यह अत्यनुभव नाम का अतिचार है।

विशेषार्थ-तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी महाराज ने[१] भोगोपभोग-परिमाणव्रत के सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये पाँच अतिचार निरूपित किये हैं। भोग और उपभोग की वस्तुएँ अनेक हैं अतः सबसे सम्बद्ध अतिचारों का दिग्दर्शन असम्भव जानकर उन्होंने मात्र भोजन सम्बन्धी अतिचारों का वर्णन किया है। उपलक्षण से अन्य भोगोपभोग सम्बन्धी अतिचारों की ओर संकेत किया है। परन्तु समन्तभद्रस्वामी ने भोगोपभोगसामान्य को लक्ष्य में रखकर अतिचारों का वर्णन किया है। अनुपेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृषा और अत्यनुभव इनका सम्बन्ध प्रत्येक भोग एवं उपभोग के साथ होता है। अनुपेक्षा आदि अतिचार क्यों हैं ? इसका स्पष्टीकरण टीकार्थ में किया जा चुका है ॥९०॥

इस प्रकार समन्तभद्र स्वामी विरचित उपासकाध्ययन की
प्रभाचन्द्राचार्य विरचित टीका में[२] तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

१. सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः। त. सू. ७-३५॥
२. मूलग्रन्थ में अणुव्रत और गुणव्रत के पृथक्-पृथक् परिच्छेद रखे हैं परन्तु संस्कृत टीकाकार ने अणुव्रतों का उपकारक होने से गुणव्रतों को अणुव्रतों के साथ ही एक परिच्छेद में रखा है।

शिक्षाव्रताधिकारश्चतुर्थः

अथ चारित्ररूपं धर्मव्याचिख्यासुराह–

साम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपणार्थमाह–

(आर्या छन्द १२,१८,१२,१५ मात्राएँ)

देशावकाशिकं वा, सामयिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥९१॥

अन्वयार्थ–(देशावकाशिकम्) देशावकाशिक **(सामायिकम्)** सामायिक **(प्रोषधोपवासः)** प्रोषधोपवास **(वा)** और **(वैयावृत्त्यं)** वैयावृत्य ये **(चत्वारि)** चार **(शिक्षाव्रतानि)** शिक्षाव्रत **(शिष्टानि)** कहे गये हैं।

प्रथम देश अवकाशिक प्यारा दूजा है सामयिक तथा,
रहा प्रोषधा उपवासा है, ''वैयावृत्त्या, श्रमिक-कथा''।
मुनिव्रत शिक्षा मिलती इनसे, शिक्षाव्रत ये चार रहे,
मुनि बनने की इच्छा रखते श्रावक इनको धार रहे ॥९१॥

टीका–शिष्टानि प्रतिपादितानि। कानि ? शिक्षाव्रतानि। कति ? चत्वारि। कस्मात् ? देशावकाशिक-मित्यादिचतुःप्रकारसद्भावात्। वाशब्दोऽत्र परस्पर[1]प्रकारसमुच्चये। देशावकाशिकादीनां लक्षणं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति ॥९१॥

अब शिक्षाव्रत का स्वरूप बतलाने के लिये उसके नाम कहते हैं–

टीकार्थ– श्लोक में जो 'वा' शब्द है वह परस्पर के समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शिक्षाव्रत के चार प्रकार कहे गये हैं– १. देशावकाशिक, २. सामायिक, ३. प्रोषधोपवास और ४. वैयावृत्त्य। इन सबके स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कहेंगे।

विशेषार्थ–शिक्षायै व्रतं शिक्षाव्रतं इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुनिव्रत की शिक्षा के लिये जो व्रत होते हैं, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं, इस विषय में तो सर्व आचार्य सहमत हैं। परन्तु

---

१. परस्परसमुच्चय घ।

उनके नाम–निर्धारण में आचार्यों के विभिन्न मत हैं। सर्वप्रथम [1]कुन्दकुन्दस्वामी ने १. सामायिक, २. प्रोषध, ३. अतिथिपूजा और ४. सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है। उमास्वामी ने १. सामायिक, २. प्रोषधोपवास, ३. भोगोपभोगपरिमाण और ४. अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। समन्तभद्रस्वामी ने १. देशावकाशिक, २. सामायिक, ३. प्रोषधोपवास और ४. वैयावृत्त्य इन चार को शिक्षाव्रत में परिगणित किया है। आचार्य वसुनन्दी ने १. भोगपरिमाण, २. उपभोगपरिमाण, ३. अतिथिसंविभाग और ४. सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है।[2] चूँकि सामायिक और प्रोषध को तृतीय और चतुर्थ प्रतिमा का रूप दिया गया है। इसलिये वसुनन्दी ने इन्हें शिक्षाव्रतों में शामिल नहीं किया है। कुन्दकुन्द स्वामी ने देशावकाशिक (देशव्रत) का वर्णन गुणव्रतों में किया है। इसी प्रकार समन्तभद्र स्वामी ने भोगोपभोगपरिमाण व्रत को भी गुणव्रतों में सम्मिलित किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की सल्लेखना को शिक्षाव्रत मानने सम्बन्धी मान्यता अन्य आचार्यों को सम्मत नहीं हुई क्योंकि सल्लेखना मरणकाल में ही धारण की जा सकती है और शिक्षाव्रत सदा धारण किया जाता है। इसी दृष्टि से अन्य आचार्यों ने सल्लेखना का वर्णन बारह व्रतों के अतिरिक्त किया है। इसके स्थान पर उमास्वामी ने अतिथिसंविभाग और समन्तभद्र स्वामी ने वैयावृत्त्य को शिक्षाव्रत स्वीकृत किया है। वैयावृत्त्य, अतिथि संविभागव्रत का ही विस्तृत रूप है। कुन्दकुन्दस्वामी ने सल्लेखना को जो शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है उसमें उनका अभिप्राय सल्लेखना की भावना से जान पड़ता है अर्थात् शिक्षाव्रत में सदा ऐसी भावना रखनी चाहिए कि मैं जीवनान्त में सल्लेखना से मरण करूँ। ऐसी भावना सदा रखी जा सकती है ॥९१॥

तत्र देशावकाशिकस्य तावल्लक्षणम्–

देशावकाशिकं स्यात्, कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां, प्रतिसंहारो विशालस्य ॥९२॥

अन्वयार्थ–(अणुव्रतानाम्) अणुव्रत पालक श्रावकों का **(विशालस्य)** दिग्व्रत में की हुई लम्बी–चौड़ी **(देशस्य)** क्षेत्र की मर्यादा का **(कालपरिच्छेदनेन)** काल के विभाग से **(प्रत्यहम्)** प्रतिदिन **(प्रतिसंहारः)** संकुचित/कम करना **(देशावकाशिकम्)** देशावकाशिक व्रत **(स्यात्)** होता है।

बहुत क्षेत्र की दशों दिशाओं, में सीमा आजीवन थी,
उसे काल की मर्यादा से, कम–कम करना प्रतिदिन भी।

---

१. सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते॥ २५॥ – चारित्रप्राभृत

२. मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता। त. सू. ७–२२॥

यही देश अवकाशिक व्रत है, अणुव्रत पालक श्रावक का,
यही देशनामृत मृतिनाशक जिन-शासन के शासक का ॥९२॥

टीका—देशावकाशिकं देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमवस्थानं-सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात्। कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः। कस्य ? देशस्य कथंभूतस्य ? विशालस्य बहोः। केन ? कालपरिच्छेदनेन दिवसादिकालमर्यादया। कथं ? प्रत्यहं प्रतिदिनं। केषां ? अणुव्रतानां अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि तेषां केषां श्रावकाणामित्यर्थः ॥९२॥

अब देशावकाशिक शिक्षाव्रत का लक्षण कहते हैं–

टीकार्थ—मर्यादित देश में नियत काल तक रहना देशावकाश कहलाता है। यह देशावकाश जिस व्रत का प्रयोजन है उसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं। दिग्व्रत नामक गुणव्रत में जीवनपर्यन्त के लिये जो विशाल क्षेत्र निश्चित किया था उसमें एक दिन, एक पहर आदि काल की मर्यादा लेकर और भी संकोच करना देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहलाता है। यह व्रत अणुव्रत के धारक श्रावकों के होता है। अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां ते अणुव्रताः तेषाम् इस प्रकार समास करने से अणुव्रत का अर्थ श्रावक हो जाता है।

विशेषार्थ— श्रावक को प्रतिदिन प्रातःकाल समय की अवधि लेकर अपने यातायात की सीमा निश्चित करना चाहिए, क्योंकि दिग्व्रत का क्षेत्र जीवन पर्यन्त के लिए होने से विस्तृत होता है। उतने विस्तृत क्षेत्र में प्रतिदिन गमन नहीं होता। इसलिये अपनी उस दिन की आवश्यकताओं को देखकर विस्तृत क्षेत्र को संकुचित कर लेना चाहिए ॥९२॥

अथ देशावकाशिकस्य वा मर्यादा इत्याह -

गृहहारिग्रामाणां, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥९३॥

अन्वयार्थ—**(तपोवृद्धाः)** तपों की वृद्धि को प्राप्त गणधर देव आदि **(देशावकाशिकस्य)** देशावकाशिक शिक्षाव्रत के क्षेत्र की **(गृह-हारि-ग्रामाणाम्)** प्रसिद्ध घर, गली, गाँव **(च)** और **(क्षेत्र-नदी-दाव-योजनानाम्)** खेत, नदी, जंगल और योजनों की **(सीम्नाम्)** मर्यादा **(स्मरन्ति)** स्मरण करते हैं।

ग्राम तथा आरामधाम निज पुर गोपुर औ भवन महा,
यथा प्रयोजन योजन-योजन नद नदिका वन गहन अहा।
सुनो! देश अवकाशिक व्रत में, इनकी सीमा की जाती,
गणी कहें, भवतीर लगाती वीर-भारती भी गाती ॥९३॥

टीका—तपोवृद्धादिश्चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः। सीम्नां स्मरन्ति मर्यादाः प्रतिपाद्यन्ते।

सीम्नामित्यत्र "[१]स्मृत्यर्थदयीशां कर्म" इत्यनेन षष्ठी। केषां सीमाभूतानां ? गृहहारिग्रामाणां हारिः कटकं। तथा क्षेत्रनदीदावयोजनानां च दावो वनं। कस्यैतेषां सीमाभूतानां ? देशावकाशिकस्य देशनिवृतिव्रतस्य ॥९३॥

अब देशावकाशिक व्रत में किस प्रकार मर्यादा की जाती है, यह कहते हैं–

टीकार्थ–तपसा वृद्धास्तपोवृद्धाः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो तप से वृद्ध हैं ऐसे गणधरदेवादिक चिरन्तन–प्राचीन आचार्यों का ग्रहण होता है। उन्होंने देशावकाशिक व्रत की सीमाएँ बतलाते हुए मर्यादा के रूप में घर, छावनी, ग्राम, खेत, नदी, वन अथवा योजन का सीमा रूप में स्मरण किया है। 'सीम्नां' यहाँ पर कर्म अर्थ में '**स्मृत्यर्थदयीशां कर्म**' इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है– स्मृत्यर्थक धातुएँ तथा दय और ईश धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

विशेषार्थ– मैं आज अमुक महानुभाव के घर तक जाऊँगा, मैं आज नगर के बाहर बनी हुई छावनी तक जाऊँगा, मैं आज अमुक गाँव तक जाऊँगा, मैं आज नगर के खेत तक जाऊँगा, मैं आज अमुक नदी तक जाऊँगा, मैं आज अमुक वन तक जाऊँगा और मैं आज इतने योजन तक जाऊँगा, इस प्रकार का नियम श्रावक को प्रतिदिन करना चाहिए। चार कोश का एक योजन होता है। जिस प्रकार आजकल मार्ग में माइलस्टोन–मील के पत्थर गड़े रहते हैं उस प्रकार पहले योजन के स्तम्भ बनाये जाते थे। सीमा निर्धारित करते समय योजन के स्तम्भों की भी सीमा निश्चित की जाती थी। आजकल उसके स्थान पर मील के पत्थर की सीमा निश्चित की जा सकती है ॥९३॥

एवं द्रव्यावधिं योजनावधिं चास्य प्रतिपाद्य कालावधिं प्रतिपादयन्नाह –

संवत्सरमृतुर(म) यनं, मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य, प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥९४॥

अन्वयार्थ–(प्राज्ञाः) प्रकृष्टज्ञानी गणधर आदि देव **(देशावकाशिकस्य)** देशावकाशिक व्रत की **(कालावधिम्)** काल की मर्यादा को **(संवत्सरम्)** एक वर्ष **(अयनम्)** छह माह **(ऋतुः)** दो माह **(मासचतुर्मासपक्षम्)** एक माह चार माह पन्द्रह दिन **(च)** और **(ऋक्षम्)** एक दिन या एक नक्षत्र तक **(प्राहुः)** कहते हैं।

एक स्थान पर रहूँ वर्ष या एक अयन ऋतु पक्ष कभी,
चार मास या मास बनाना नियम कभी नक्षत्र कभी।
यही देश अवकाशिक व्रत की कालावधि मानी जाती,
ज्ञानी ध्यानी कहते हैं औ जिनवर की वाणी गाती ॥९४॥

१. 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' पाणिनीय सूत्र।

टीका—देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादां प्राहुः। के ते ? प्राज्ञाः गणधरदेवादयः। किं तदित्याह संवत्सरमित्यादि—संवत्सरं यावदेतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यं। तथा ऋतुमयनं वा यावत्। मासचतुर्मासपक्षं यावत्। ऋक्षं च चन्द्रभुक्त्या आदित्यभुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत् ॥९४॥

इस प्रकार देशावकाशिक व्रत की द्रव्यावधि और योजनावधि को बताकर अब कालावधि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

टीकार्थ—देशावकाशिकव्रत में काल की मर्यादा बताते हुए गणधर देवादिक ने एक वर्ष, एक ऋतु, एक अयन, एक माह, चार माह, एक पक्ष अथवा एक नक्षत्र को कालावधि कहा है। अर्थात् संवत्सर आदि की सीमा लेकर देशावकाशिकव्रत में यातायात का क्षेत्र निश्चित किया जाता है। ऋक्ष – नक्षत्र दो प्रकार के होते हैं— एकचन्द्रभुक्ति की अपेक्षा और दूसरे सूर्यभुक्ति की अपेक्षा। चन्द्रभुक्ति की अपेक्षा अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र प्रतिदिन बदलते रहते हैं अर्थात् एक दिन में एक नक्षत्र रहता है और सूर्यभुक्ति की अपेक्षा एकवर्ष में अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र क्रम से परिवर्तित होते हैं। संवत्सर आदि का अर्थ स्पष्ट है।

विशेषार्थ—देशावकाशिकव्रत के क्षेत्र की अवधि का वर्णन पूर्व श्लोक में किया गया था, यहाँ काल की अवधि का वर्णन किया गया है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए। कि मैं एक वर्ष तक, अथवा अमुक ऋतु–दो माह तक, एक अयन–छह माह तक, एक माह तक, चार माह तक, एक पक्ष तक अथवा अमुक नक्षत्र तक इस स्थान से आगे नहीं जाऊँगा। इस प्रकार समय की सीमा निश्चित करना चाहिए। दिग्व्रत जीवनपर्यन्त के लिये होता है परन्तु देशावकाशिक व्रत समय की मर्यादा लेकर धारण किया जाता है ॥९४॥

एवंदेशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याह –

सीमान्तानां परतः, स्थूलेतरपञ्चपापसन्त्यागात्।
देशावकाशिकेन च, महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५॥

अन्वयार्थ—(सीमान्तानाम्) सीमाओं के अन्तभाग के **(परतः)** आगे **(स्थूलेतर-पञ्चपापसन्त्यागात्)** स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापों का सम्यक् प्रकार त्याग हो जाने से **(देशावकाशिकेन च)** देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी **(महाव्रतानि)** महाव्रत **(प्रसाध्यन्ते)** सिद्ध किए जाते हैं।

देश काल की सीमायें जब, निर्धारित कर पाने से,
उनके बाहर स्थूल सूक्ष्म अघ पाँचों ही मिट जाने से।
स्वयं देश अवकाशिक व्रत भी अणुव्रत होकर महा बने,
व्रत की महिमा यही रही है दुख बनता सुख सुधा बने ॥९५॥

टीका—प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते। कानि ? महाव्रतानि। केन ? देशावकाशिकेन च न केवलं

दिग्विरत्यापि तु देशावकाशिकेनापि कुतः ? स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षणपञ्चपापानि च तेषां सम्यक् त्यागात्। क्व ? सीमान्तानां परतः देशावकाशिकव्रतस्य सीमाभूता ये 'अन्ता धर्मा' गृहादयः संवत्सरादिविशेषाः तेषां वा अन्ताः पर्यन्तास्तेषां परतः परस्मिन् भागे ॥९५॥

इस प्रकार देशावकाशिक व्रत लेने पर मर्यादा के आगे क्या होता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ–देशावकाशिकव्रत में जो क्षेत्र और काल की अपेक्षा सीमाएँ निर्धारित की गई हैं उनके आगे हिंसादि पाँच पापों का स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार से परित्याग हो जाता है इसलिये दिग्व्रत के समान देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रतों की साधना की जाती है।

विशेषार्थ–क्षेत्र मर्यादा में जो गृह, छावनी आदि की मर्यादा ली थी तथा काल मर्यादा में जो संवत्सर आदि की मर्यादा निश्चित की थी उन मर्यादाओं के आगे गमन न होने से स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार से पाँच पापों का परित्याग हो जाता है। इसलिये वहाँ अणुव्रतधारियों के भी महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है ॥९५॥

इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाह–

प्रेषणशब्दानयनं, रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य, व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥९६॥

अन्वयार्थ–देशावकाशिकव्रत में की हुई मर्यादा के बाहर **(प्रेषणशब्दानयनम्)** भेजना, शब्द करना, मँगाना **(रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ)** शरीर दिखाना और पत्थर आदि फेंकना ये **(पञ्च)** पाँच **(देशावकाशिकस्य)** देशावकाशिक शिक्षाव्रत के **(अत्ययाः)** अतिचार **(व्यपदिश्यन्ते)** कहे जाते हैं।

कभी भेजना सीमा बाहर पर को अथवा बुलवाना,
कंकर आदिक फेंक सूचना करना ध्वनि देकर गाना।
सीमा के अन्दर रहना पर रूप दिखाना बाहर को,
दोष, देश अवकाशिक व्रत के ये हैं; तज अघ-आकर को ॥९६॥

टीका–अत्यया अतिचाराः। पञ्च व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते ? इत्याह –प्रेषणेत्यादि मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेषणं। मर्यादीकृत-देशाद्बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खात्करणादिः शब्दः। तद्देशाद्बहिः प्रयोजन-वशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुर्वतां कर्मकरणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। तेषामेव लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः ॥९६॥

अब देशावकाशिकव्रत के अतिचार दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ— स्वयं मर्यादित देश में रहकर तुम यह काम करो' इस प्रकार कहकर दूसरे को मर्यादा के बाहर भेजना प्रेषण नाम का अतिचार है। मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं के प्रति खकार या खाँसी आदि का शब्द करना शब्द नाम का अतिचार है। मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में रहने वाले लोगों को प्रयोजनवश यह आज्ञा देना कि तुम अमुक वस्तु लाओ आनयन नाम का अतिचार है। स्वयं मर्यादित क्षेत्र के भीतर स्थित रहकर बाह्य क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को अपना शरीर दिखलाना रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है और उन्हीं लोगों को लक्ष्य कर कंकड़-पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप नाम का अतिचार है। देशावकाशिक व्रत के ये पाँच अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—व्रत धारण करने का मूल प्रयोजन रागादिक भावों पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। जहाँ इन भावों पर नियन्त्रण नहीं हो पाता है वहाँ व्रत निर्दोष नहीं पलता है– उसमें अनेकदोष लगने लगते हैं। उन दोषों का नाम ही अतिचार है। देशावकाशिक व्रत के अतिचारों का वर्णन इस प्रकार है– किसी ने नियम लिया कि मैं इतने समय तक इस स्थान से आगे नहीं जाऊँगा। नियम के अनुसार वह अपने मर्यादित क्षेत्र में स्थित है परन्तु राग की उत्कटता से दूसरे लोगों को मर्यादा के बाहर भेजकर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है। यहाँ कृत की अपेक्षा व्रत की रक्षा होती है और कारित की अपेक्षा उसका भंग हो जाता है। इस प्रकार भंगाभंग की अपेक्षा यह प्रेषण नाम का अतिचार होता है। स्वयं तो मर्यादा के भीतर स्थित रहता है परन्तु मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोगों को खांस कर या खकार कर सावधान करता है यह शब्द नाम का अतिचार है। मर्यादा के बाहर के लोगों से फोन आदि करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत है। स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर बाहर के क्षेत्र में किसी वस्तु को बुलवाना आनयन अतिचार है। तार या पत्र देकर आर्डर से किसी वस्तु को बुलवाना भी इसी अतिचार में गर्भित है। स्वयं मर्यादा के भीतर के क्षेत्र में स्थित रहकर मर्यादा के बाहर के लोगों को अपना रूप दिखाना, ऐसे स्थान पर बैठना जिससे कि मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोग अपना रूप देखकर सावधानी से काम करते रहें यह रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है। टेलीविजन के द्वारा अपना चित्र प्रसारित करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत है। स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर मर्यादा के बाहर काम करने वालों को कंकण-पत्थर आदि फेंककर सावधान करना पुद्गलक्षेप नाम का अतिचार है। मर्यादा के बाहर पत्र भेजना भी इसी में गर्भित होता है ॥९६॥

एवं देशावकाशिकरूपं शिक्षाव्रतं व्याख्यायेदानीं सामायिकरूपं तद्व्याख्यातुमाह–

आसमयमुक्ति मुक्तं, पञ्चाघाना-मशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः, सामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७॥

अन्वयार्थ—(सामयिकाः) सामायिक के ज्ञाता गणधरदेवादिक **(अशेषभावेन)** पूर्णभाव मन/सम्पूर्ण रूप से वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से **(सर्वत्र)** सब जगह–मर्यादा के भीतर और बाहर भी **(आसमयमुक्ति)** सामायिक के लिए निश्चित समय तक **(पञ्चाघा-नाम्)** पाँचों पापों

के **(मुक्तम्)** त्याग करने को **(सामयिकं नाम)** सामायिक नामक शिक्षाव्रत **(शंसन्ति)** कहते हैं।

सीमा के भीतर बाहर पाँचों पापों का त्याग करो,
तन से मन से और वचन से आतम में अनुराग करो।
यही रहा सामयिक नाम का शिक्षाव्रत अघहारक है,
ऐसे कहते गणधर आदिक अगाध आगम धारक हैं ॥९७॥

टीका—सामयिकं नाम स्फुटं शंसन्ति प्रतिपादयन्ति। के ते ? सामयिकाः समयसमागमं विन्दन्ति ये ते सामयिका गणधरदेवादयः। किं तत् ? मुक्तं मोचनं परिहरणं यत् तत् सामयिकं। केषां मोचनं ? पञ्चाघानां हिंसादि पञ्चपापानां। कथं ? आसमयमुक्ति वक्ष्यमाणलक्षणसमयमोचनं आ समन्ताद्व्याप्य गृहीतनियमकालमुक्तिं यावदित्यर्थः। कथं तेषां मोचनं ? अशेषभावेन सामस्त्येन न पुनर्देशतः। सर्वत्र च अवधेः परभागे च। अनेन देशावकाशिकस्य भेदः प्रतिपादितः ॥९७॥

इस प्रकार देशावकाशिकरूप शिक्षाव्रत का व्याख्यान कर अब सामायिक रूप शिक्षाव्रत का वर्णन करने के लिये कहते हैं–

टीकार्थ— किसी समय की अवधि लेकर उतने समय तक मर्यादा के भीतर और बाहर दोनों जगह सम्पूर्ण रूप से हिंसादि पाँच पापों का त्याग करना सामयिक नाम का शिक्षाव्रत कहलाता है। देशावकाशिकव्रत में मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में पाँच पापों का त्याग होता है, मर्यादा के भीतर नहीं। परन्तु सामयिक शिक्षाव्रत में भीतर और बाहर दोनों क्षेत्रों में उनका त्याग होता है। अतः उसकी अपेक्षा सामयिक शिक्षाव्रत में भेद है। श्लोक में जो 'मुक्त' शब्द है उसमें भाववाचक 'क्त' प्रत्यय हुआ है इसलिये 'मुक्त' का अर्थ 'मोचनं' छोड़ना होता है। 'आसमयमुक्ति' यह उसका विशेषण है।

विशेषार्थ— जिनागम में सामायिक और सामयिक इस तरह दो शब्द प्रचलित हैं। उनमें 'सामायिक' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार है–समायः – समता प्रयोजनं यस्य सः सामायिकः इस व्युत्पत्ति के अनुसार समाय–समताभाव की प्राप्ति जिसका प्रयोजन है वह सामायिक कहलाता है। मुनिव्रत में सदा समताभाव धारण करना पड़ता है, इसलिये मुनियों के पंचविध चारित्र में सामायिक शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु गृहस्थ सदा के लिये समताभाव धारण करने में असमर्थ रहता है, अतः वह दिन में दो बार अथवा तीन बार दो घड़ी, चार घड़ी अथवा छह घड़ी के लिये समस्त पापों का परित्याग कर समताभाव धारण करता है। समय की अवधि से सहित होने के कारण उसकी यह क्रिया सामायिक शिक्षाव्रत कहलाती है। जितने समय की अवधि लेकर वह सामयिक में बैठा है उतने समय के लिये वह पूर्ण मध्यस्थ रहता है। सुख–दुःख, बन्धुवर्ग–शत्रु, संयोग–वियोग आदि इष्टानिष्ट परिणतियों में उसे हर्ष–विषाद नहीं होता। तथा पञ्च पापों का भी वह उतने समय के लिये पूर्ण त्यागी होता है। समन्तभद्रस्वामी ने इस प्रकरण सम्बन्धी समस्त श्लोकों में सामयिक शब्द का ही प्रयोग किया

है। इससे जान पड़ता है कि उन्हें शिक्षाव्रत का नाम सामयिक इष्ट है, सामायिक नहीं ॥९७॥

आसमयमुक्तीत्यत्र यः समयशब्दः प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह –

मूर्धरुहमुष्टिवासो, बन्धं पर्य्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥९८॥

अन्वयार्थ–(समयज्ञाः) आगम के ज्ञाता पुरुष **(मूर्धरुहमुष्टि-वासोबन्धं)** केशबंधन, मुष्टिबंधन, वस्त्रबंधन के बंध काल को **(च)** और **(पर्य्यङ्क- बन्धनं)** पद्मासन लगाना **(स्थानं)** कायोत्सर्ग से खड़े रहना **(वा)** अथवा **(उपवेशनम्)** बैठकर कायोत्सर्ग करना **(अपि)** भी **(समयं)** सामायिक के योग्य समय **(जानन्ति)** जानते हैं।

केशबन्ध का मुष्टिबन्ध का वस्त्र बन्ध का काल रहा,
तथा बैठने स्थित होने का जो आसन का काल रहा।
वही रहा सामयिक समय है कहते आगम ज्ञाता हैं,
जो करता सामयिक नियम से बोधि समागम पाता है ॥९८॥

टीका–समयज्ञा आगमज्ञाः। समयं जानन्ति। किं तत् ? मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं, बन्धशब्दः प्रत्येकमभि-सम्बद्ध्यते मूर्द्धरुहाणां केशानां बन्धं बन्धकालं समयं जानन्ति। तथा मुष्टिबन्धं वासोबन्धं वस्त्रग्रन्थि पर्यङ्कबन्धनं चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्गं उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टा-वस्थानमपि समयं जानन्ति ॥९८॥

अब आसमयमुक्ति-यहाँ पर जो समय शब्द कहा है उसका व्याख्यान करने के लिये कहते हैं–

टीकार्थ– मूर्धरुह, मुष्टि और वासस् इन तीन शब्दों का द्वन्द्वसमास हुआ है। द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते इस नियम के अनुसार यहाँ द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण बन्ध शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक शब्द के साथ होता है। अतः मूर्धरुहबन्ध, मुष्टिबन्ध और वासोबन्ध ये तीन शब्द निष्पन्न हुए हैं। बन्ध का अर्थ बन्ध का काल है। इसी तरह पर्यङ्कबन्धन, स्थान और उपवेशन में भी उनसे काल का ज्ञान ग्राह्य है। जब तक चोटी में गाँठ लगी है, मुट्ठी बंधी है, वस्त्र में गाँठ लगी है, पालथी बाँध कर बैठा हूँ, कायोत्सर्ग मुद्रा से खड़ा हूँ अथवा पद्मासन से बैठा हूँ तब तक सामयिक करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामयिक करने वाला करता है। इसलिये इन सबमें जो काल लगता है वही सामयिक का काल कहलाता है।

विशेषार्थ–जिस प्रकार समय का ज्ञान करने के लिये आजकल घड़ियों का प्रचलन चल पड़ा है उस प्रकार पहले इनका प्रचलन नहीं था। पहले समय का ज्ञान करने के लिये श्रावक सामयिक में बैठते समय ऐसा विचार कर लेते थे कि जब तक सहज स्वभाव से चोटी की गाँठ लगी रहेगी, अथवा जब तक मैं मुट्ठी बाँध सकूँगा, अथवा जब तक दुपट्टा आदि की गाँठ सहज स्वभाव से लगी

रहेगी अथवा जब तक मैं पालथी बाँधकर निराकुलता से बैठ सकूँगा अथवा जब तक निराकुलता से खड़ा रह सकूँगा अथवा जब तक निराकुलता पूर्वक पद्मासन से बैठ सकूँगा तब तक सामायिक करूँगा। वही उनका सामायिक का काल कहलाता था।

संस्कृत में [१]समय का एक अर्थ आचार भी होता है, अतः समयं जानन्ति समयज्ञाः यहाँ पर समय का अर्थ आचार हो सकता है, और आचार का अर्थ विधि है। अतः सामायिक के लिये बैठते समय श्रावक को चाहिए कि वह अपने केशों और वस्त्रों को सम्भाल कर बाँध ले, जिससे वे बीच में खुलकर आकुलता उत्पन्न न करें। हाथों की अंगुलियों को खुला न रखे किन्तु उनकी अंजलि बाँध ले। आसनों में पालथी बाँधना, कायोत्सर्ग से खड़े होना अथवा पद्मासन से बैठना इन तीन आसनों में जिस आसन से निश्चित समय तक निराकुलता पूर्वक रह सके उस आसन को स्वीकृत करे, सामयिक के बीच में आसनों में परिवर्तन न करे।...श्लोक का एक अर्थ यह भी हो सकता है ॥९८॥

एवंविधे[२] समये भवत् यत् सामायिकं पञ्चप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूपं तस्योत्तरोत्तरा वृद्धिः कर्त्तव्येत्याह–

एकान्ते सामयिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च, परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥९९॥

अन्वयार्थ–(सामयिकं) सामायिक **(प्रसन्नधिया)** प्रसन्नचित्त से **(निर्व्याक्षेपे)** उपद्रव रहित **(एकान्ते)** स्त्री, पशु तथा नपुंसकों से रहित एकान्त स्थान में **(वनेषु)** वनों में **(वास्तुषु)** एकान्त घरों या धर्मशालाओं में **(वा)** अथवा **(चैत्यालयेषु)** चैत्यालयों में **(च)** और पर्वत की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि में **(अपि)** भी **(परिचेतव्यम्)** बढ़ाना चाहिए।

व्यभिचारी महिलाजन पशु से रहित रहे एकान्त रहे,
सभी तरह की बाधाओं से रहित रहे पै, शान्त रहे।
निजी भवन में वन उपवन में चैत्य भवन या जंगल में,
व्रती सदा सामयिक करे वह प्रसन्न मन से मंगल में ॥९९॥

टीका–परिचेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं। किं तत् ? सामायिकं। क्व ? एकान्ते [३]स्त्रीपशुपाण्डुकिविवर्जिते प्रदेशे। कथंभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदंशमशकादिबाधावर्जितः इत्यर्थः इत्थंभूते एकान्ते। क्व ? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद् गिरिगह्वरादिपरिग्रहः। केन चेतव्यं ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवाप्रसन्नासौ धीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥९९॥

---

१. 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। २. एवंविधसमये घ.।
३. 'वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातकपाण्डुकिः स' इति पाण्डुकिलक्षणम्।

आगे इस प्रकार के समय में होने वाला जो सामायिक पाँच प्रकार के पापों से सम्पूर्ण रूप से निवृत्त होने रूप लक्षण से युक्त है उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहना चाहिए, यह कहते हैं–

टीकार्थ– पूर्व श्लोक में सामयिक का काल बताया था, इस श्लोक में सामयिक का क्षेत्र बताया जा रहा है। सर्वप्रथम सामायिक के लिए एकान्त स्थान होना चाहिए। एकान्त का अर्थ है जो स्त्री, पशु तथा नपुंसकों से रहित हो। फिर निर्व्याक्षेप स्थान होना चाहिए अर्थात् जिसमें शीत, वायु तथा डांश-मच्छर आदि का उपद्रव न हो, ऐसा स्थान अटवियों, अपने मकानों, मन्दिरों अथवा पर्वतों की गुफा आदि में कहीं भी हो, वहाँ प्रसन्नचित्त होकर सामायिक करना चाहिए। '**प्रसन्नधिया**' शब्द में '**प्रसन्ना धीर्यस्य स प्रसन्नधीस्तेन**' इस प्रकार बहुब्रीहिसमास और '**प्रसन्ना चासौ धीश्च इति प्रसन्नस्धीस्तया**' इस प्रकार कर्मधारय समास भी होता है। बहुब्रीहि समास के पक्ष में '**प्रसन्नधिया आत्मना**' इस प्रकार विशेष्य की कल्पना ऊपर से करनी चाहिए और कर्मधारयसमास के पक्ष में 'प्रसन्नधिया' पद का हेतुरूप से व्याख्यान करना चाहिए।

विशेषार्थ–सामयिक को प्रसन्नचित्त से करना चाहिए, बेगार समझकर नहीं। और उसके लिए बुद्धिपूर्वक ऐसा स्थान चुनना चाहिए, जहाँ किसी प्रकार का उत्पात न हो या चित्त को चञ्चल बनाने वाले कारणों का प्रसङ्ग उपस्थित न हो। बुद्धिपूर्वक निर्द्वन्द्व स्थान में सामायिक के लिए बैठ चुकने पर यदि कोई बाधा उपस्थित होती है तो उसे उपसर्ग समझ कर समताभाव से सहन करना चाहिए ॥९९॥

इत्थंभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह –

व्यापार-वैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्म – विनिवृत्त्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे [1]चैकभुक्ते वा ॥१००॥

अन्वयार्थ–(व्यापारवैमनस्यात्) काय आदि की चेष्टा और मनोव्यग्रता/ कलुषता से **(विनिवृत्त्याम्)** निवृत्ति होने पर **(अन्तरात्मविनिवृत्त्या)** मन के सूक्ष्म विकल्पों की निवृत्तिपूर्वक **(उपवासे)** उपवास के दिन **(वा)** अथवा **(एकभुक्ते)** एकाशन के दिन **(च)** और अन्य समय भी **(सामयिकम्)** सामायिक को **(बध्नीयात्)** बढ़ाना चाहिए।

देहाहिक की दूषित चेष्टा प्रथम नियन्त्रित भी करके,
संकल्पों औ विकल्प जल्पों का निग्रह कर भीतर से।
अनशन के दिन करना अथवा एकाशन के दिन करना,
व्रती पुरुष सामयिक यथाविधि अन्य दिनों में भी करना ॥१००॥

टीका–बध्नीयादनुतिष्ठेत्। किं तत् ? सामयिकं। कस्यां सत्यां ? विनिवृत्त्यां। कस्मात् ? व्यापार-वैमनस्यात्व्यापारः कायादिचेष्टा वैमनस्यं मनोव्यग्रता चित्तकालुष्यं वा तस्माद्विनिवृत्त्यामपि

---

१. चैकभक्तेवा घ.।

सत्यां अन्तरात्मविनिवृत्त्या कृत्वा तद्बध्नीयात् अन्तरात्मनो मनोविकल्पस्य विशेषेण निवृत्या। कस्मिन् सति तस्यां तया तद्बध्नीयात् ? उपवासे [१]चैकभुक्तेवा ॥१००॥

इस प्रकार के स्थानों में सामयिक किस प्रकार बढ़ाना चाहिए, यह कहते हैं–

टीकार्थ– पिछले दो श्लोकों में सामयिक के योग्य काल और क्षेत्र की चर्चा कर चुकने के बाद इस श्लोक में सामायिक के योग्य भाव की चर्चा की जा रही है। सामायिक किस भाव में किस समय बढ़ायी जा सकती है ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि व्यापार–शरीर और वचन की चेष्टा तथा वैमनस्य–मानसिक व्यग्रता अथवा मन की कलुषता से विनिवृत्ति होने पर अन्तरात्मा–मानसिक विकल्पों को विशिष्ट रूप से दूर करते हुए उपवास और एकाशन के दिन विशेष रूप से सामयिक को बढ़ाना चाहिए। यहाँ चकार का ग्रहण किया है, उससे अन्य समयों का भी समुच्चय होता है अर्थात् उपवास और एकाशन के सिवाय अन्य दिनों में भी सामयिक को बढ़ाना चाहिए।

विशेषार्थ– इस श्लोक में सामयिक के योग्य भावों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि सामयिक के पहले शरीर तथा वचन की चेष्टा अर्थात् शरीर का हिलाना–डुलाना तथा वचन का जोर से उच्चारण और वैमनस्य–मन की व्यग्रता अथवा कलुषता को दूर करना चाहिए। साथ ही अन्तरात्मा – मन में जो नाना प्रकार के विकल्प उठते हैं उन्हें विशेष रूप से दूर करना चाहिए। ऐसे भावों से ही सामयिक में वृद्धि हो सकती है। सामयिक की वृद्धि, उपवास अथवा एकाशन के दिन विशिष्ट रूप से करना चाहिए ॥१००॥

इत्थंभूतं तत्किं कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा वेत्यत्राह–

सामयिकं प्रतिदिवसं, यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपञ्चकपरिपूरण,-कारणमवधानयुक्तेन ॥१०१॥

अन्वयार्थ–(अनलसेन) आलस्य से रहित और **(अवधान-युक्तेन)** एकाग्रचित्त सहित श्रावक के द्वारा **(व्रतपञ्चक-परिपूरण-कारणम्)** हिंसात्याग आदि पाँचों व्रतों की पूर्ति का कारण **(सामयिकम्)** सामायिक **(प्रतिदिवसम् अपि)** प्रतिदिन भी **(यथावत्)** शास्त्रोक्त विधि से **(चेतव्यम्)** बढ़ाया जाना चाहिए।

यथाविधी एकाग्र-चित्त से श्रावकजन नित प्रतिदिन भी,
अहोभाग्य सामयिक करें वे अनुत्साह आलस बिन ही।
क्योंकि अहिंसादिक अणुव्रत हो पूर्ण इसी से सफल रहे,
गीत इसी के निशिदिन गाते मुनिगण नायक सकल रहे ॥१०१॥

टीका–चेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं। किं ? सामायिकं। कदा ? प्रतिदिवसमपि न पुनः कदाचित्

१. चैकभक्तेवा घ.।

पर्वदिवस एव। कथं ? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव। कथंभूतेन ? अनलसेनाऽऽलस्यरहितेन उद्यतेनेत्यर्थः। तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा। कुतस्तदित्थं परिचेतव्यं ? व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणं यतः व्रतानां हिंसाविरत्यादीनां पञ्चकं तस्य परिपूरणत्वं महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं। यथोक्त–सामायिकानुष्ठानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणम् ॥१०१॥

आगे इस प्रकार का सामयिक क्या कभी–पर्व दिनों में करने योग्य है या अन्य प्रकार की कुछ व्यवस्था है, यह कहते हैं–

टीकार्थ–पिछले श्लोक में उपवास अथवा एकाशन के दिन सामायिक को बढ़ाने की बात कही गई थी, इसलिये कोई ऐसा न समझ ले कि सामायिक उसी दिन करने के योग्य है, अन्य दिनों में नहीं। इसका निराकरण करने के लिये इस श्लोक में कहा गया है कि सामायिक प्रतिदिन भी शास्त्रोक्त विधि से करना चाहिए, क्योंकि यह सामायिक हिंसाविरति आदि पाँचों व्रतों की परिपूर्णता अर्थात् उनकी महाव्रतरूपता का कारण है। सामायिक करने वाले पुरुष को आलस्य रहित तथा चित्त की एकाग्रता से युक्त होना चाहिए।

विशेषार्थ–कितने ही लोग आलस्य के वशीभूत होकर बिस्तर पर बैठे–बैठे ही सामायिक करने लगते हैं तथा खड़े होकर चारों दिशाओं में दण्डवत्, आवर्त तथा शिरोनति नहीं करते हैं। अथवा कुछ लोग ऊँघते–ऊँघते सामायिक करते हैं। उन्हें सचेत करते हुए आचार्य ने अनलसेन विशेषण दिया है जिसका अर्थ होता है कि सामायिक आलस्य रहित होकर करना चाहिए अर्थात् सामायिक के जो अङ्ग आगम में बतलाये गये हैं उन्हें विधिपूर्वक करना चाहिए। कितने ही लोग मालाएँ फेरने को ही सामायिक समझ लेते हैं। अतः वे चित्त की स्थिरता की ओर ध्यान न देकर मात्र चार–छह मालाएँ फेरकर ही अपना सामायिक का काल पूरा कर लेते हैं। उन्हें सचेत करते हुए आचार्य ने अवधानयुक्तेन विशेषण दिया है। अर्थात् सामायिक चित्त की एकाग्रता से युक्त होकर करना चाहिए। सामायिक से हिंसाविरति आदि पाँचों व्रतों में पूर्णता आती है। फलतः उनमें महाव्रत जैसा व्यवहार होने लगता है। इसलिये सामायिक को न केवल उपवास या एकाशन के दिन में करना चाहिए, किन्तु प्रतिदिन करना चाहिए और जैसा–तैसा नहीं, किन्तु यथावत्–शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन न करते हुए करना चाहिए।

इस श्लोक में सामायिक करने वाले पुरुष के लिये जो अनलसेन और अवधानयुक्तेन ये दो विशेषण दिये हैं उनसे सामायिक के योग्य द्रव्य का वर्णन आचार्य ने किया है, ऐसा जान पड़ता है और इससे सामायिक का काल, क्षेत्र, भाव तथा द्रव्य इन चारों की अपेक्षा वर्णन पूर्ण हो जाता है ॥१०१॥

एतदेव समर्थयमानः प्राह–

सामयिके सारम्भाः, परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ–[यदा] जब **(सामयिके)** सामायिक के समय में **(सारम्भाः)** कृषि आदि आरम्भ सहित **(सर्वे अपि)** सब ही **(परिग्रहाः)** अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह **(नैव सन्ति)** नहीं होते हैं **(तदा)** उस समय **(गृही)** गृहस्थ **(चेलोपसृष्टमुनिः इव)** उपसर्ग के कारण वस्त्र से ढके हुए मुनि के समान **(यतिभावम्)** मुनिपने को **(आयाति)** प्राप्त होता है।

सुनो! व्रती सामयिक करेगा जब करता आरम्भ नहीं,
पास परिग्रह नहिं रखता है पर का कुछ आलम्ब नहीं।
तभी गृही वह यतिपन को है पाता दिखता है ऐसा,
हुआ कहीं उपसर्ग वस्त्र से वेष्ठित मुनि लगता जैसा ॥१०२॥

टीका–सामायिके सामायिकावस्थायां। नैव सन्ति न विद्यन्ते। के ते ? परिग्रहाः सङ्गाः। कथंभूताः ? सारम्भाः कृष्याद्यारम्भसहिताः। कति ? सर्वेऽपि बाह्याभ्यन्तराश्चेतनेतरादिरूपा वा। यत एवं ततो याति प्रतिपद्यते। कं ? यतिभावं यतित्वं। कोऽसौ ? गृही श्रावकः। कदा ? सामायिकावस्थायां। क इव ? चेलोपसृष्टमुनिरिव चेलेन वस्त्रेण उपसृष्टः उपसर्गवशाद्वेष्टितः स चासौ मुनिश्च स इव तद्वत् ॥१०२॥

आगे सामायिक के काल में अणुव्रत-महाव्रतपने को प्राप्त होते हैं, इसका समर्थन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– जब गृहस्थ सामायिक में बैठता है तब उसके खेती आदि के आरम्भ से सहित बाह्य और अन्तरङ्ग तथा चेतन और अचेतन के भेद से सभी प्रकार के परिग्रह नहीं होते, इसलिये उस समय वह उपसर्ग से वस्त्र ओढ़ाये हुए मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ– सामायिक में बैठने वाला गृहस्थ अमुक निश्चित समय के लिये हिंसादि समस्त पापों तथा सब प्रकार के आरम्भों का त्याग कर चुकता है। उतने समय के लिये वह समस्त परिग्रहों का भी त्याग कर देता है। यद्यपि पद के अनुरूप शरीर पर वस्त्र धारण किये हुए है तो भी उन वस्त्रों में उसके ममत्व भाव नहीं रहता। यदि सामायिक के काल में कोई दुष्ट मनुष्य उसके शरीर पर स्थित उन वस्त्रों को निकालने की चेष्टा करे तो वह सामायिक से विचलित नहीं होता। उसकी उस समय की अवस्था उस मुनि के समान होती है जिस पर किसी दुष्ट मनुष्य ने उपसर्ग करने के लिए वस्त्र ओढ़ा दिया है। ऐसे मुनि बाह्य में यद्यपि वस्त्र ओढ़े हुए दिखाई देते हैं तथापि वस्त्र के प्रति ममत्व भाव न होने से वे वस्त्ररहित ही माने जाते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ भी सामायिक के काल में यद्यपि अपने पद के अनुरूप वस्त्र धारण किये हुए है तथापि उन वस्त्रों से उसे ममत्वभाव नहीं रहता। इस प्रकार सामायिक करने वाला गृहस्थ सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होने के कारण मुनि जैसी अवस्था को प्राप्त होता है ॥१०२॥

तथा सामायिकं स्वीकृतवन्तो ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याह–

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना, अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१०३॥

अन्वयार्थ–(सामयिकम्) सामायिक को **(प्रतिपन्नाः)** स्वीकार करने वाला **(अचलयोगाः)** निश्चल योग वाला व्यक्ति **(मौनधराः)** मौनधारी होकर **(शीतोष्णदंशमशक-परीषहम्)** शीत, उष्ण, दंशमशक/डाँस, मच्छर आदि के परीषहों को **(च)** और **(उपसर्गम्)** देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतनकृत चार प्रकार के उपसर्गों को **(अपि)** भी **(अधिकुर्वीरन्)** सहन करे।

श्रावक जब सामयिक कार्य को करने संकल्पित होता,
बाँधी सीमा तक अपने में पूर्णरूप अर्पित होता।
मच्छर आदिक काट रहे हों शीत लहर हो अनल दहे,
सहें परीषह उपसर्गों को मौन योग में अचल रहे ॥१०३॥

टीका–अधिकुर्वीरन् सहेरन्नित्यर्थः। के ते ? सामयिकं प्रतिपन्नाः सामायिकं स्वीकृतवन्तः। किं विशिष्टाः सन्तः ? अचलयोगाः स्थिरसमाधयः प्रतिज्ञातानुष्ठानापरित्यागिनो वा। तथा मौनधरास्तत्पीडायां सत्यामपि क्लीबादिवचनानुच्चारकाः दैन्यादिवचनानुच्चारकाः। कमधिकुर्वीरन्नित्याह-शीतेत्यादि-शीतोष्ण-दंशमशकानां पीडाकारिणीं तत्परि समन्तात् सहनं तत्परीषहस्तं, न केवलं तमेव अपि तु उपसर्गमपि च देवमनुष्यतिर्यक्कृतम् ॥१०३॥

अब सामयिक को स्वीकृत करने वाले जो गृहस्थ हैं वे और भी क्या करते हैं, यह कहते हैं–

टीकार्थ– जिन्होंने सामायिक को स्वीकृत किया है ऐसे गृहस्थों को अपने योग-ध्यान में स्थिर रहकर तथा पीड़ाकारक परिस्थिति के आने पर भी अपनी गृहीत प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होते हुए मौनधारी बनकर शीत, उष्ण तथा तिर्यञ्चों के द्वारा किये हुए उपसर्ग को सहन करना चाहिए।

विशेषार्थ–सामायिक में बैठने पर यदि सर्दी, गर्मी की बाधा आती है, डांस-मच्छरों का उपद्रव होता है अथवा दुष्टदेव, मनुष्य या तिर्यञ्चों के द्वारा कोई उपसर्ग किया जाता है तो उसे दीनता के वचन न कहते हुए चुपचाप सहन करना चाहिए तथा अपनी गृहीत प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होना चाहिए ॥१०३॥

तं चाधिकुर्वाणाः सामायिके स्थिता एवंविधं संसारमोक्षयोः स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह–

अशरणमशुभ-मनित्यं, दुःख-मनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

अन्वयार्थ–(सामयिके) सामायिक में **[स्थिताः]** स्थित मनुष्य **(इति)** इस प्रकार **(ध्यायन्तु)**

ध्यान करे कि मैं **(अशरणम्)** रक्षा रहित **(अशुभम्)** शुभ रहित **(अनित्यं)** नित्यता से रहित **(दु:खम्)** दु:खरूप और **(अनात्मानम्)** अपने आत्मस्वरूप से रहित **(भवम्)** संसार में **(आवसामि)** निवास करता हूँ और **(मोक्ष:)** मोक्ष **(तद्विपरीतात्मा)** उस संसार से विपरीत स्वरूप वाला अर्थात् शरण, शुभ, नित्य, सुखरूप व आत्मस्वरूप वाला है।

अशरण होकर अशुभ रहा है सार नहीं दुख क्षार रहा,
पर है परकृत तथा रहा है क्षणभंगुर संसार रहा।
किन्तु शरण है शुभ है सुख है स्वयं मोक्ष ध्रुव सार रहा,
यह चिंतन सामयिक काल में करता वह भवपार रहा ॥१०४॥

टीका—तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु। कं ? भवं स्वोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटनं। कथंभूतं? अशरणं न विद्यते शरणमपाय परिरक्षकं यत्र। अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभ-कार्यकारित्वाच्चाशुभं। तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्यं। तथा दु:खहेतुत्वाद्दु:खं। तथानात्मान-मात्मस्वरूपं न भवति। एवंविधं भवमावसामि एवंविधे भवे तिष्ठामीत्यर्थ:। यद्येवंविध: संसारस्तर्हि मोक्ष: कीदृश इत्याह-मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपत: शरणशुभादिस्वरूप: इत्येवं ध्यायन्तु चिन्तयन्तु सामायिके स्थिता: ॥१०४॥

अब आगे सामायिक में स्थित मनुष्य संसार और मोक्ष के इस प्रकार के स्वरूप का चिन्तन करे, यह कहते हैं–

टीकार्थ—अपने द्वारा गृहीत कर्मों के वश से चारों गतियों में परिभ्रमण करना भव कहलाता है। मैं जिस भव में रह रहा हूँ वह अशरण है– इसमें मृत्यु से रक्षा करने वाला कोई नहीं है। अशुभ कारणों से उत्पन्न होने तथा अशुभ कार्य को करने के कारण अशुभ है। चारों गतियों में परिभ्रमण का काल नियत होने से अनित्य है। दु:ख का कारण होने से दु:खरूप है और आत्मस्वरूप से भिन्न होने के कारण अनात्मा है। सामायिक में स्थित मनुष्य इस प्रकार संसार के स्वरूप का विचार करे और मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् शरण है, शुभ है, नित्य है, सुखरूप है तथा आत्मरूप है इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप का विचार करे।

विशेषार्थ—सामायिक के समय तत्त्व-चिन्तन होना चाहिए। तत्त्वों में प्रमुख जीवतत्त्व है और जीवतत्त्व को संसार तथा मोक्ष के भेद से दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनों अवस्थाओं का चिन्तन करते हुए संसार और मोक्ष की विशेषता का विचार किया जाता है। संसार की विशेषताओं का चिन्तन करते हुए विचार करना चाहिए कि यह संसार अशरण, अशुभ, अनित्य, दु:खरूप तथा अनात्मा है अर्थात् आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं है। परन्तु मोक्ष इससे विपरीत शरण, शुभ, नित्य, सुखरूप तथा आत्मा है– आत्मा की शुद्ध अवस्था है। ऐसा विचार करने से संसार से उपेक्षा और मोक्ष के प्रति आदर का भाव

उत्पन्न होता है। जीव की यह संसार अवस्था, कर्म-नोकर्मरूप अजीव के सम्बन्ध से हुई है और वह सम्बन्ध भी आस्रव तथा बन्ध के कारण हुआ है। इस तरह संसार के स्वरूप चिन्तन के अन्तर्गत अजीव, आस्रव और बन्ध तत्त्व का चिन्तन आता है। और मोक्ष अवस्था, कर्म-नोकर्मरूप अजीव के साथ जीव का सम्बन्ध विघट जाने से होती है और वह सम्बन्ध का विघटन संवर तथा निर्जरा के द्वारा होता है। इस तरह मोक्ष के स्वरूप-चिन्तन के अन्तर्गत संवर और निर्जरा तत्त्व का चिन्तन आता है॥ १०४॥

साम्प्रतं सामायिकस्यातीचारानाह –

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(वाक्कायमानसानाम्) वचन, काय और मन की **(दुःप्रणिधानानि)** खोटी प्रवृत्तियाँ **(अनादरास्मरणे)** अनादर और अस्मरण ये **(पञ्च)** पाँच **(भावेन)** परमार्थ से **(सामयिकस्य)** सामायिक के **(अतिगमाः)** अतिचार **(व्यज्यन्ते)** प्रकट किए गये हैं।

मन-वच-तन के योग तीन ये पाप सहित जो बन जाना,
तथा अनादर होना, होना सहसा विस्मृत अनजाना।
ये पाँचों सामयिक नाम के शिक्षाव्रत के दोष रहे,
दोषरहित जिनदेव बताते गुण-गण के जो कोष रहे ॥१०५॥

टीका—व्यज्यन्ते कथ्यन्ते। के ते ? अतिगमाः अतिचाराः। कस्य ? सामयिकस्य। कति ? पञ्च। कथं ? भावेन परमार्थेन। तथा हि। वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि। अनादरोऽनुत्साहः। अस्मरणमनैकाग्र्यम् ॥१०५॥

अब सामयिक के अतिचार कहते हैं–

टीकार्थ—वचन, काय और मन ये तीन योग हैं। इनकी खोटी प्रवृत्ति करने को दुष्प्रणिधान कहते हैं। इस तरह तीन योग सम्बन्धी खोटी प्रवृत्ति के कारण तीन अतिचार होते हैं। अनादर का अर्थ अनुत्साह है और अस्मरण का अर्थ एकाग्रता का अभाव है। सब मिलाकर सामायिक के पाँच अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—मन्त्र या सामायिक पाठ आदि का उच्चारण करते समय अशुद्ध उच्चारण करना वचन दुष्प्रणिधान कहलाता है। शरीर को हिलाना-डुलाना, इधर-उधर देखना, डांस-मच्छर को भगाना तथा बीच में आसन बदलना यह सब कायदुष्प्रणिधान है और मन को तत्त्वचिन्तन से हटाकर इधर-उधर के अन्य विषयों में लगाना मनोदुष्प्रणिधान है। बेगार समझकर अनुत्साह से सामायिक करना अनादर कहलाता है। चार आदमियों की सुखद गोष्ठी चल रही है। इतने में सामयिक का समय हो

गया। इस स्थिति में गोष्ठी को छोड़कर अनादर से सामयिक करने पर अनादर नाम का अतिचार बनता है। चित्त की एकाग्रता न होने से मन्त्र या सामायिकपाठ आदि को भूल जाना अस्मरण कहलाता है। अब इन पाँच अतिचारों को भावपूर्वक बचाने का प्रयत्न किया जाता है तभी निरतिचार सामयिक शिक्षाव्रत होता है। ऊपर कहे हुए पाँच अतिचारों में यद्यपि मनोदुष्प्रणिधान नामक अतिचार को बचाना कठिन कार्य है तथापि अभ्यासपूर्वक वह बचाया जा सकता है। उसके विषय में कहा गया है कि मनोदुष्प्रणिधान योगमूलक और कषायमूलक के भेद से दो प्रकार का होता है। मन की जो साधारण चञ्चलता है वह योगमूलक दुष्प्रणिधान है और बुद्धिपूर्वक किसी के इष्ट-अनिष्ट का चिन्तन करने से जो चञ्चलता होती है वह कषायमूलक दुष्प्रणिधान है। सर्वप्रथम कषायमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् सामायिक में बैठकर किसी के इष्ट-अनिष्ट का विचार नहीं करना चाहिए। तदनन्तर योगमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। सामायिक में जो मन्त्र या पाठ बोला जाता है उसके अर्थ की ओर लक्ष्य करने से यह योगमूलक वचन दुष्प्रणिधान भी दूर किया जा सकता है। धर्म्यध्यान के जो आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से अनेक भेद बताये गये हैं उनका चिन्तन करने से भी चित्त की एकाग्रता हो जाती है-अत: सामायिक के साथ ध्यान का अभ्यास करना चाहिए ॥१०५॥

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह -

पर्वण्यष्टम्यां च, ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु[१] ।
चतुरभ्यवहार्य्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥१०६॥

अन्वयार्थ-(पर्वणि) चतुर्दशी **(च)** और **(अष्टम्याम्)** अष्टमी के दिन **(सदा)** हमेशा के लिए **(इच्छाभिः)** व्रत विधान की वांछा से **(चतुरभ्यवहार्य्याणां)** खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहारों का **(प्रत्याख्यानं)** त्याग करना **(प्रोषधोपवासः)** प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत **(ज्ञातव्यः)** जानना चाहिए।

सदा अष्टमी चतुर्दशी को भोजन का बस त्याग करें,
अशन पान को खाद्य लेह्य को, याद करें ना राग करें।
यही ''प्रोषधा उपवासा'' है व्रतीजनों का ज्ञात रहे,
किन्तु मात्र व्रत पालन करना सत्य प्रयोजन साथ रहे ॥१०६॥

टीका-प्रोषधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः। कदा ? पर्वणि चतुर्दश्यां। न केवलं पर्वणि, अष्टम्यां च। किं पुनः प्रोषधोपवासशब्दाभिधेयं ? प्रत्याख्यानं। केषां ? चतुरभ्यवहार्याणां चत्वारि अशनपान-

१. तुशब्दः पादपूर्त्यर्थः।

खाद्यलेह्यलक्षणानि तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां। किं कस्याञ्चिदेवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह- सदा सर्वकालं। काभिः इच्छाभि-र्व्रतविधानवांछाभिस्तेषां प्रत्याख्यानं न पुनर्व्यवहार [1]कृतधरणकादिभिः ॥१०६॥

अब आगे प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत का व्याख्यान करते हुए कहते हैं-

टीकार्थ—अन्न, पान, खाद्य और लेह्य के भेद से आहार के चार भेद होते हैं। इन चारों प्रकार के आहारों का प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन व्रतविधान की इच्छा से त्याग करना प्रोषधोपवास जानना चाहिए। यहाँ सदा शब्द के देने से यह बात सिद्ध की गई है कि यह चार प्रकार के आहार का त्याग सदा के लिये-जीवनपर्यन्त की अष्टमी-चतुर्दशी के लिये होना चाहिए, न कि दो-चार माह की अष्टमी-चतुर्दशी के लिए। इसी प्रकार **इच्छाभिः** पद देने से यह सिद्ध किया गया है कि यह त्याग व्रत धारण आदि की भावना से होना चाहिए, न कि लोकव्यवहार में किये हुए धरना आदि की भावना से। अपनी किसी माँग को स्वीकृत कराने के लिये जो आहार का त्याग किया जाता है, उसे धरना कहते हैं। धरना देने के लिए किया गया आहार त्याग प्रोषधोपवास में सम्मिलित नहीं है।

विशेषार्थ—मुनिव्रत में पराश्रित भोजन होने के कारण चाहे जब निराहार रहना पड़ता है। यदि गृहस्थ अवस्था में निराहार रहने का अभ्यास नहीं किया है तो मुनिपद में निराहार रहने का अवसर आने पर संक्लेश होगा, इसलिए गृहस्थ को यह आवश्यक नियम रखा गया है कि प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का बुद्धिपूर्वक त्यागकर निराहार रहने की शिक्षा ग्रहण करें। दाल, भात, रोटी आदि अशन कहलाते हैं, पानी, दूध आदि पेय पदार्थ पान कहलाते हैं, लड्डू, पेड़ा, बरफी आदि खाद्य कहलाते हैं और चाटने योग्य रबड़ी आदि लेह्य कहलाते हैं। प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी को इन चार प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

प्रोषधोपवास पद का शब्दार्थ ग्रन्थकर्त्ता १९ वें श्लोक में स्वयं करेंगे। जैनधर्म में अष्टमी और चतुर्दशी को अनादि पर्व माना गया है। प्रत्येक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चार पर्व आते हैं। इन पर्वों के दिन व्रत धारण की इच्छा से चार प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। यह त्याग सदा के लिए अर्थात् जीवनपर्यन्त के लिये होता है, समय की अवधि लेकर नहीं होता। कुछ टीकाकार सदेच्छाभिः के स्थान पर सदिच्छाभिः पाठ की कल्पना कर उसकी व्याख्या करते हैं- प्रशस्त अभिप्राय से। परन्तु सम्पादन के लिये प्राप्त प्रतियों में **सदेच्छाभिः** यही पाठ मिलता है तथा संस्कृत टीकाकार ने भी **सदेच्छाभिः** पद की टीका की है। इसलिये नवीन पाठ की कल्पना करना उचित नहीं मालूम होता। प्रोषधोपवास तप का रूप है और तप शक्ति के अनुसार किया जाता है। मनुष्य की शक्ति सदा एक-सी नहीं रहती, अवस्था के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। ऋतुचक्र का भी मनुष्य की

१. न पुनर्व्यवहारे कृवसाकादिभिः (?) घ.।

शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। इसलिये पीछे चलकर आचार्यों ने प्रोषधोपवास व्रत को उपवास, अनुपवास तथा एकाशन नाम देकर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदों में विभक्त कर दिया है। चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है, सिर्फ पानी लेना अनुपवास है और एकबार भोजन करना एकाशन है ॥१०६॥

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्त्तव्यमित्याह –

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्याना-मुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात् ॥१०७॥

अन्वयार्थ–(उपवासे) उपवास के दिन **(पञ्चानाम्)** पाँचों **(पापानाम्)** पापों का और **(अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणां)** अलंकार धारण करना, खेती आदि आरम्भ करना, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप करना, पुष्प मालाएँ धारण करना या पुष्पों को सूँघना **(स्नानाञ्जननस्यानां)** स्नान, अञ्जन/ काजल, सूरमा आदि लगाना तथा नाक से सूँघने योग्य नस्य आदि इन सब पदार्थों का **(परिहृतिं)** परित्याग **(कुर्य्यात्)** करना चाहिए।

लोचन अंजन नासा रंजन दाँतन मंजन स्नान नहीं,
नास तमाखू अलंकार ना फूल-माल का मान नहीं।
असि मसि कृषि आदिक षट्कर्मों पापों का परिहार करें,
निराहार उपवास दिनों में निज का ही श्रृंगार करें ॥१०७॥

टीका–उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात्। केषां ? पञ्चानां हिंसादीनां। तथा अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणां अलंक्रिया मण्डनं आरम्भो वाणिज्यादिव्यापारः गन्धपुष्पाणां-मित्युपलक्षणं रागहेतूनां गीतनृत्यादीनां। तथा स्नानाञ्जननस्यानां स्नानं च अञ्जनं च नस्यञ्ज तेषाम् ॥१०७॥

आगे उपवास करने वाले व्यक्ति को उपवास के दिन क्या करना चाहिए, यह कहते हैं–

टीकार्थ–उपवास करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह उपवास के दिन हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का त्याग करे। शरीर की सजावट, वाणिज्य आदि व्यापार तथा गन्धपुष्प आदि के प्रयोग और स्नान, अञ्जन तथा नास आदि के सेवन का परिहार-परित्याग करे। यह सब उपलक्षण है, अतः गीत नृत्य आदि राग के कारणों का भी त्याग आ जाता है।

विशेषार्थ–[1]उपवास का मूल उद्देश्य कषाय, विषय और आहार का त्याग करना है। जिसमें मात्र आहार का त्याग किया जाता है कषाय और विषयों-स्पर्शनादि पंच इन्द्रियों के विषयों का त्याग नहीं किया जाता वह उपवास नहीं कहलाता, किन्तु लंघन कहलाता है। इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये आचार्यों ने उपवास के दिन न करने योग्य कार्यों का निर्देश किया है। न करने योग्य कार्यों

१. कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते। उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

में स्नान का भी निषेध बतलाया है सो यहाँ स्नानशब्द से तेल तथा उद्वर्तन आदि लगाकर किये जाने वाले विशिष्ट स्नान का त्याग समझना चाहिए। शुद्ध प्रासुक जल से किये गये साधारण स्नान का निषेध नहीं है क्योंकि उसके बिना जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक तथा पूजन आदि की क्रिया नहीं हो सकती। श्लोक में जिन कार्यों के न करने के लिये आचार्य ने निर्देश किया है वे उपलक्षणमात्र हैं। इसलिये रागवर्द्धक गीत, नृत्य आदि का भी उस दिन त्याग करना चाहिए, यह सिद्ध होता है ॥१०७॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठातव्यमित्याह –

धर्मामृतं सतृष्णः, श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा, भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥

अन्वयार्थ–(उपवसन्) उपवास करने वाला व्यक्ति **(अतन्द्रालुः)** आलस्य रहित और **(सतृष्णः)** उत्कण्ठित होता हुआ **(धर्मामृतम्)** धर्मरूपी अमृत को **(श्रवणाभ्याम्)** अपने कानों से **(पिबतु)** पीवे **(वा)** अथवा **(अन्यान्)** दूसरों को **(पाययेत्)** पिलावे **[च]** और **(ज्ञानध्यानपरः)** ज्ञान-ध्यान में लवलीन **(भवतु)** होवे।

पूर्ण चाव से निजी श्रवण से धर्मामृत का पान करें,
बने अन्य को पान करावे सहधर्मी का ध्यान करें।
ज्ञानाराधन द्वादशभावन धर्म-ध्यान में लीन रहें,
किन्तु व्रती उपवास दिनों में प्रमाद-भर से हीन रहें ॥१०८॥

टीका–उपवसन्नुपवासं कुर्वन्। धर्मामृतं पिबतु धर्म एवामृतं सकलप्राणिनामाप्यायकत्वात् तत् पिबतु। काभ्यां ? श्रवणाभ्यां। कथंभूतः ? सतृष्णः साभिलाषः पिबन् न पुनरुपरोधादिवशात्। पाययेद् वान्यान् स्वमेवावगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्मामृतं पिबन् अन्यानविदिततत्स्वरूपान् पाययेत् तत्। ज्ञानध्यानपरो भवतु, ज्ञानपरो द्वादशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठः।

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्त्रवसंवरौ ॥१॥
निर्जरा च तथा लोकबोधिदुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥२॥

ध्यानपरः आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणधर्मध्याननिष्ठो वा भवतु। किंविशिष्टः ? अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः ॥१०८॥

अब इनका त्यागकर उपवास के दिन क्या करना चाहिए, यह कहते हैं–

टीकार्थ– समस्त प्राणियों के संतोष का कारण होने से धर्म को अमृत कहा जाता है। उपवास करने वाला व्यक्ति यदि धर्म का विशेष ज्ञाता नहीं है तो वह बड़ी उत्सुकतापूर्वक दूसरे विशिष्ट ज्ञानी

जनों के मुख से होने वाले धर्मोपदेश को अपने कानों से सुने और यदि स्वयं विशिष्ट ज्ञानी है तो वह दूसरों को धर्मोपदेश सुनावे। इसके अतिरिक्त आलस्य को जीतता हुआ स्वयं ज्ञान और ध्यान में तत्पर रहे। स्वाध्याय में लीन रहता हुआ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह भावनाओं के चिन्तन में दत्तचित्त रहे। अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार धर्मध्यानों में तत्पर रहे।

विशेषार्थ—उपवास के पूर्व दिन में मध्याह्न का भोजन करने के बाद उपवास का नियम लेकर सब प्रकार के आरम्भ का त्याग करना चाहिए। यहाँ तक कि शरीरादिक में भी ममत्वभाव नहीं रखना चाहिए। एकान्त वसतिका में जाकर समस्त पापपूर्ण योग का त्याग करे, समस्त इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त हो और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति का पालन करता हुआ रहे। धर्मध्यान में लीन होता हुआ दिन का शेष भाग व्यतीत करे। फिर संध्याकालीन सामायिक कर स्वाध्याय से निद्रा को जीतता हुआ पवित्र संस्तर पर रात्रि को व्यतीत करे। उपवास के दिन प्रातःकाल उठकर प्रातःकालीन सामायिक आदि क्रियाओं को करके प्रासुक द्रव्य से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे। तदनन्तर स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा समस्त दिन, रात्रि और तृतीय दिन के अर्द्धभाग को व्यतीत करे। इस प्रकार समस्त पापकार्यों से निवृत्त होकर जो सोलह पहरों को व्यतीत करता है उसके पूर्ण अहिंसाव्रत होता है। देशव्रती श्रावकों के भोगोपभोगमूलक ही स्थावर जीवों की हिंसा होती है। परन्तु उपवास के दिन भोगोपभोग का त्याग हो चुकता है, इसलिये हिंसा का अंश भी उनके नहीं होता। वचनगुप्ति होने से असत्य पाप से निवृत्ति है, सब प्रकार की वस्तुओं के ग्रहण का अभाव होने से चोरी से निवृत्ति है, मैथुन का त्याग होने से अब्रह्म पाप से निवृत्ति है और शरीर में भी जब मूर्च्छा– ममताभाव से रहित है तब परिग्रह से निवृत्ति स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार समस्त हिंसादि पापों से रहित वह प्रोषधोपवास करने वाला व्यक्ति उपचार से महाव्रती अवस्था को प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्याख्यानावरण नाम का चारित्रमोह का उदय रहने के कारण वह संयम के स्थान को प्राप्त नहीं होता[१] ॥१०८॥

१. मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासस्यार्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥
श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥
धर्म्यध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥
प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥
उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

अधुना प्रोषधोपवासस्य लक्षणं कुर्वन्नाह–

चतुराहारविसर्जन, - मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०९॥

अन्वयार्थ–(चतुराहारविसर्जनम्) अन्न–दाल रोटी आदि। पान–पानी, दूध ठण्डाई, आदि। खाद्य–लड्डु, सेव, पपड़ी आदि। लेह्य–रबड़ी आदि इन चार प्रकार के आहारों का सर्वथा त्याग **(उपवासः)** उपवास है **(सकृद्भुक्तिः)** एक बार भोजन करना **(प्रोषधः)** प्रोषध/एकाशन है और **(यत्)** जो प्रोषधपूर्वक **(उपोष्य)** उपवास करके पारणा के दिन **(आरम्भं)** एकाशन को **(आचरति)** करता है **(सः)** वह **(प्रोषधोपवासः)** प्रोषधोपवास है।

अशन पान का खाद्य लेह्य का पूर्ण-त्याग उपवास रहा,
एक बार ही भोजन करना प्रोषध उसका नाम रहा।
तथा पारणा के दिन भोजन एक बार ही जो गहना,
रहा 'प्रोषधा उपवासा' वह बार-बार गुरु का कहना ॥१०९॥

टीका–चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणाः। अशनं हि भक्तमुद्गादि, पानं हि पेयमथितादि, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्रादि, तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासोऽभिधीयते। प्रोषधः पुनः सकृद्भुक्ति-र्धारणकदिने एकभक्तविधानं। यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरम्भं सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोषधोपवासोऽभिधीयते इति ॥१०९॥

अब प्रोषधोपवास का लक्षण करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–अशन, पान, खाद्य और लेह्य के भेद से आहार चार प्रकार का होता है। भात, मूंग आदि अशन कहलाते हैं, छाछ आदि पीने योग्य पदार्थ पान कहलाते हैं, लाडू आदि खाद्य कहलाते हैं और रबड़ी आदि चाँटने योग्य पदार्थ लेह्य कहलाते हैं। इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है। एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है। और धारणा तथा पारणा के दिन

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥
भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ॥१५९॥
इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

एकाशन के साथ पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। **प्रोषधाभ्यां धारणकपारणकदिने सकृद्भुक्तिभ्यां सह उपवासः प्रोषधोपवासः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार धारणा और पारणा के दिन एकाशन करते हुए अष्टमी तथा चतुर्दशी को उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

विशेषार्थ—श्री समन्तभद्र स्वामी प्रोषधोपवास का लक्षण इस परिच्छेद के १६वें श्लोक में लिख चुके हैं और उसके बाद के दो श्लोकों में उपवास के दिन न करने योग्य तथा करने योग्य क्रियाओं का वर्णन कर चुके हैं। अब इस श्लोक में उन्होंने पुनः उपवास, प्रोषध और प्रोषधोपवास का लक्षण लिखा है जो कि पुनरुक्त-सा प्रतीत होता है। यहाँ उपवास का लक्षण तो वही है जो कि १६ वें श्लोक में लिखा है परन्तु प्रोषध का लक्षण अतिरिक्त लिखा है और प्रोषधों के साथ जो उपवास है उसे प्रोषधोपवास कहा है।[१] अन्य ग्रन्थों में प्रोषध का अर्थ पर्व-अष्टमी-चतुर्दशी लिखा है। अतः पर्व के दिन किया हुआ उपवास प्रोषधोपवास कहलाता है। वहाँ धारणा और पारणा के दिन एकाशन करने की चर्चा नहीं है। यहाँ इस श्लोक में धारणा और पारणा के दिन एकाशन की चर्चा की गई है। जान पड़ता है कि समन्तभद्र स्वामी ने इस श्लोक में किसी अन्य मान्यता का उल्लेख किया है। धारणा के दिन एकाशन करने की चर्चा तो पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्रस्वामी ने भी की है। उन्होंने प्रोषधोपवास के १६ पहरों का विवरण देते हुए लिखा है कि उपवास के पूर्व दिन मध्याह्न का भोजन करने के बाद उपवास का नियम लेकर एकान्तवसतिका में चला जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होंने तृतीय दिन के मध्याह्न तक का कार्य विवरण दिया है। इससे सिद्ध होता है कि धारणा के दिन एकाशन किया जाता है। परन्तु पारणा के दिन एकाशन की चर्चा अन्यत्र देखने में नहीं आयी। इस श्लोक में आरम्भ का अर्थ संस्कृत टीकाकार ने सकृद्भुक्ति किया है। पर आरम्भ का अर्थ सकृद्भुक्ति कैसे हो गया, यह बुद्धि में नहीं आता। आरम्भ का अर्थ तो आरम्भ ही है। उपवास के पूर्वदिन मध्याह्न के भोजन के बाद उपवास का नियम लेकर मुक्तसमस्तारम्भः हुआ था, अब सोलह पहर के बाद वह आरम्भ-गृहस्थी के अन्य कार्य करने के लिये स्वतन्त्र हो जाता है। यह अर्थ प्रसङ्गानुसार संगत प्रतीत होता है। वर्तमान में उपवास के तीन रूप प्रचलित हैं—१. सोलह पहर का, २. बारह पहर का और ३. आठ पहर का। सोलह पहर का उपवास पूर्व दिन मध्याह्न के भोजन के बाद शुरू होता है। और तृतीय दिन के दोपहर तक चलता है। बारह पहर का उपवास पूर्व दिन शाम के भोजन के बाद शुरू होता है और

---

१. 'प्रोषध शब्दः पर्व पर्यायवाची। शब्दादि ग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्व-सन्तीत्युपवासः। चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवास॥'-सर्वार्थसिद्धि, 'प्रोषध शब्दः पर्वपर्यायवाची, प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः'- तत्त्वार्थराजवार्तिक, 'प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः' - श्लोकवार्तिक, 'पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च'-यशस्तिलकचम्पू, प्रोषधः 'पर्व पर्यायवाची, पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः'—चारित्रसार।

तृतीय दिन सूर्योदय तक चलता है। और आठ पहर का उपवास सूर्योदय के समय से लेकर आगामी दिन सूर्योदय तक चलता है ॥१०९॥

अथ केऽस्यातीचारा इत्याह–

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥११०॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो **(अदृष्टमृष्टानि)** बिना देखे और बिना शोधे **(ग्रहण-विसर्गास्तरणानि)** पूजा आदि के उपकरणों को ग्रहण करना, मलमूत्रादि को छोड़ना और बिस्तर आदि को बिछाना तथा **(अनादरास्मरणे)** आवश्यक आदि में अनादर करना और योग्य क्रियाओं को भूल जाना **(तदिदं)** वे ये **(प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकम्)** प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं।

देख-भाल बिन शोधे बिन ही पूजन द्रव्यों को लेना,
जहाँ कहीं भी दरी बिछाना मल-मूत्रों को तज देना।
तथा अनादर होना, होना विस्मृति भी वह कभी-कभी,
दोष प्रोषधा उपवासा के हैं कहते हैं सुधी सभी ॥११०॥

टीका–प्रोषधोपवासस्य व्यतिलङ्घनपञ्चकमतिचारपञ्चकं। तदिदं पूर्वार्धप्रतिपादितप्रकारं। तथा हि। ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि। कथंभूतानि ? अदृष्टमृष्टानि दृष्टं दर्शनं जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुषावलोकनं मृष्टं मृदुनोपकरणेन प्रमार्जनं तदुभौ न विद्येते येषु ग्रहणादिषु तानि तथोक्तानि तत्र बुभुक्षापीडितस्यादृष्टमृष्टस्यार्हदादिपूजोपकरणस्यात्म-परिधानाद्यर्थस्य च ग्रहणं भवति। तथा अदृष्टमृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गो भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं संस्तरणोपक्रमो भवतीत्येतानि त्रीणि। अनादरास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षा पीडितत्वादनादरोऽनैकाग्रतालक्षणमस्मरणं च भवति ॥११०॥

आगे इस प्रोषधोपवास के अतिचार कौन हैं, यह कहते हैं–

टीकार्थ–यहाँ जीव-जन्तु हैं या नहीं, इस प्रकार चक्षु से देखना दृष्ट कहलाता है और कोमल उपकरण से प्रमार्जन करना मृष्ट कहलाता है। जिसमें ये दोनों न हो उसे अदृष्टमृष्ट कहते हैं। अदृष्टमृष्ट शब्द का सम्बन्ध ग्रहण, विसर्ग और आस्तरण इन तीनों के साथ होता है इसलिए अदृष्टमृष्ट ग्रहण, अदृष्टमृष्टविसर्ग और अदृष्टमृष्टास्तरण ये तीन अतिचार होते हैं। अदृष्टमृष्टग्रहण अतिचार उसके होता है जो भूख से पीड़ित होकर अर्हन्त आदि की पूजा के उपकरण तथा अपने वस्त्र आदि को बिना देखे और बिना शोधे ग्रहण करता है। अदृष्टमृष्टविसर्ग अतिचार उसके होता है जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखी, बिना शोधी भूमि में मल-मूत्र छोड़ता है और अदृष्टमृष्टास्तरण अतिचार उसके होता है जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर बिस्तर आदि बिछाता है। इन

तीन के सिवाय अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार और होते हैं। जिसमें अनादर का अर्थ है भूख से पीड़ित होने के कारण आवश्यक कार्यों में आदर नहीं करना अर्थात् उन्हें उपेक्षाभाव से करना और अस्मरण का अर्थ है, अनेकाग्रता अर्थात् चित्त में एकाग्रता नहीं होना।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी इस व्रत के ये ही पाँच अतिचार बतलाये हैं, मात्र शब्दों में अन्तर है, भाव में नहीं। जैसे–१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, २. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, ३. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, ४. अनादर और ५. अस्मरण। अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार सामयिक शिक्षाव्रत में भी आते हैं। वहाँ सामयिक से उनका सम्बन्ध है, यहाँ प्रोषधोपवास से सम्बन्ध है। अनादर का एक अर्थ यह भी उचित जान पड़ता है कि कोई व्यक्ति उपवास करता तो है परन्तु अनादर–अनुत्साह पूर्वक करता है। जैसे–ग्रीष्म ऋतु में उपवास की शक्ति क्षीण हो जाने से कोई प्रतिज्ञापूर्ति के लिए उपवास करता है, उत्साहपूर्वक नहीं। इसी प्रकार अस्मरण का एक अर्थ यह भी उचित जान पड़ता है कि पर्व के दिन का स्मरण नहीं रखना। जैसे–अष्टमी, चतुर्दशी के निकल जाने पर कोई किसी से पूछता है कि आज अष्टमी तो नहीं है, चतुर्दशी तो नहीं है ? इस तरह समयान्तर में पर्व के दिन का उपवास करता है ॥११०॥

इदानीं वैयावृत्त्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह–

दानं वैयावृत्यं, धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११॥

अन्वयार्थ–(तपोधनाय) तपरूप धन से युक्त **(गुणनिधये)** सम्यग्दर्शनादि गुणों के भण्डार और **(अगृहाय)** गृहत्यागी–मुनीश्वर के लिए **(विभवेन)** विधि द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार **(अनपेक्षितोपचारोपक्रियम्)** प्रतिदान–दान देकर उनसे कुछ पाने की इच्छा और प्रत्युपकार–मंत्र-तंत्र आदि की अपेक्षा से रहित **(धर्माय)** स्वपर के धर्म की वृद्धि के लिए **(दानम्)** अपनी वस्तु को देना वह **(वैयावृत्यम्)** वैयावृत्य नाम का शिक्षाव्रत **(उच्यते)** कहा जाता है।

तपोधनी हैं गुण के निधि हैं गृह-त्यागी संयम-धर हैं,
उनको अन्नादिक देना यह 'वैयावृत्या' व्रतवर है।
पर प्रतिफल की मन्त्र-तन्त्र की इच्छा बिन हो दान खरा,
यथाशक्ति से तथा यथाविधि धर्म-भाव पर ध्यान धरा ॥१११॥

टीका—भोजनादिदानमपि वैयावृत्त्यमुच्यते। कस्मै दानं ? तपोधनाय तप एव धनं यस्य तस्मै। किं विशिष्टाय ? गुणनिधये गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै। तथाऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय किमर्थं ? धर्माय धर्मनिमित्तं। किं विशिष्टं तद्दानं ? अनपेक्षितोपचारोपक्रियं उपचारः प्रतिदानं उपक्रिया मन्त्रतन्त्रादिना प्रत्युपकरणं ते न अपेक्षिते येन। कथं तद्दानं ? विधिद्रव्यादिसम्पदा ॥१११॥

अब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–तप ही जिसका धन है तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के जो निधि –आश्रय हैं, ऐसे भाव आगार और द्रव्य आगार से रहित मुनीश्वर के लिए उपचार–प्रतिदान तथा उपक्रिया–प्रत्युपकार की भावना से रहित अपनी निधि, द्रव्य आदि सम्पदा के अनुसार जो आहार आदि का दान दिया जाता है वह वैयावृत्य कहलाता है।

विशेषार्थ–व्यावृत्तिः दुःखनिवृत्तिः प्रयोजनं यस्य तत् वैयावृत्यं इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुःखनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्य कहते हैं। अन्य आचार्यों ने वैयावृत्य के स्थान पर अतिथिसंविभाग शब्द रखा है। अतिथिसंविभाग व्रत में जिस प्रकार अतिथि के लिए दान की प्रधानता है उसी प्रकार वैयावृत्य में भी दान की प्रधानता है क्योंकि आहार आदि दान के द्वारा अतिथि की दुःखनिवृत्ति का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। फिर अतिथिसंविभाग शब्द को परिवर्तित करने का प्रयोजन क्या है ? यह प्रश्न उठता है। उसका उत्तर यह है कि अतिथिसंविभाग शब्द में मात्र चार प्रकार के दानों का समावेश होता है उसके अतिरिक्त संयमी जनों की जो सेवा–सुश्रुषा है उसका समावेश नहीं होता। परन्तु वैयावृत्य शब्द में दान और सेवा–सुश्रुषा सबका समावेश होता है। इसलिए समन्तभद्र स्वामी ने 'वैयावृत्य' इस व्यापक शब्द को स्वीकृत किया है।

दान देते समय पात्र का विचार करना आवश्यक है। इसलिये पात्र का विचार करते हुए आचार्य ने तीन विशेषण दिये हैं– तपोधनाय, गुणनिधये और अगृहाय। पात्र वही हो सकता है जो तपस्वी हो, सम्यग्दर्शनादि गुणों का आधार हो और गृहत्यागी हो। दान देते समय यही एक उद्देश्य होना चाहिए कि इससे रत्नत्रय रूप धर्म की वृद्धि हो। दान के बदले मुनीश्वर हमें कुछ देवें अथवा मन्त्र, तन्त्र आदि के द्वारा हमारा कुछ प्रत्युपकार करें ऐसी भावना नहीं रखना चाहिए। इसके सिवाय दान अपने विभव – सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिए, क्योंकि सामर्थ्य का उल्लंघन कर जो दान दिया जाता है वह संक्लेश का कारण होता है ॥१११॥

न केवलं दानमेव वैयावृत्त्यमुच्यतेऽपि तु –

व्यापत्तिव्यपनोदः, पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२॥

अन्वयार्थ–(गुणरागात्) सम्यग्दर्शनादि गुणों में प्रीति से **(संयमिनाम्)** देशव्रत और सकलव्रत के धारक संयमिजनों की **(व्यापत्तिव्यपनोदः)** आपत्तियों को दूर करना **(पदयोः)** पैरों का उपलक्षण से हस्तादिक अंगों का **(संवाहनं)** दबाना **(च)** और इसके सिवाय **(अन्योऽपि)** अन्य भी **(यावान्)** जितना **(उपग्रहः)** उपकार है वह सब **(वैयावृत्यम्)** वैयावृत्य **(कथ्यते)** कहा जाता है।

संयमधर पर आया संकट उसे मिटाना कार्य रहा,
पैर थके हों पीड़ा हो तो उन्हें दबाना आर्य महा।
गुण के प्रति अनुराग जगा हो अन्य-अन्य उपकार सभी,
वैय्यावृत्या कहलाता है लाता है भवपार वही ॥११२॥

टीका—व्यापत्तयो विविधा व्याध्यादिजनिता आपदस्तासां व्यपनोदो विशेषेणोपनोदः स्फेटनं यत्तद्वैयावृत्त्यमेव। तथा पदयोः संवाहनं पादयोर्मर्दनं। कस्मात् ? गुणरागात् भक्तिवशादित्यर्थः-न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा। न केवलमेतावदेव वैयावृत्यं किन्तु अन्योऽपि संयमिनां देश [१]सकलव्रतानां सम्बन्धी यावान् यत्परिमाण उपग्रह उपकारः स सर्वो वैयावृत्यमेवोच्यते ॥११२॥

आगे केवल दान ही वैयावृत्य नहीं कहलाता है किन्तु संयमी जनों की सेवा भी वैयावृत्य कहलाता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ—देशव्रती और सकलव्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आई हैं तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अङ्गों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है वह सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्टफल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश से की जाती है।

विशेषार्थ—मुनियों के योग्य छह अन्तरङ्ग तपों में एक वैयावृत्य नाम का तप है जिसका अर्थ होता है बालक, वृद्ध अथवा ग्लान-रुग्ण आदि मुनियों की सेवा कर उन्हें मार्ग में स्थिर रखना। परस्पर की सहानुभूतिपूर्ण प्रवृत्ति से ही चतुर्विध मुनिसंघ का निर्वाह होता है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनियों का वैयावृत्य करने से वैयावृत्य तप के दस भेद होते हैं। गृहस्थ मुनिधर्म की शिक्षा लेने के उद्देश्य से शिक्षाव्रतों का पालन करता है, इसलिए उसके शिक्षाव्रतों में वैयावृत्य नाम का शिक्षाव्रत रखा गया है। गृहस्थ को चाहिए कि उसके नगर में यदि किसी देशव्रती या महाव्रती के ऊपर कोई कष्ट आया है तो उसे पूर्ण तत्परता के साथ दूर करे। इस वैयावृत्य शिक्षाव्रत में सभी दानों का समावेश होता है। वैयावृत्य करते समय किसी प्रकार की ग्लानि या मान-अपमान का भाव नहीं रखना चाहिए, क्योंकि स्वार्थबुद्धि से किया हुआ वैयावृत्य धर्म का अङ्ग नहीं होता। सेवा को श्ववृत्ति भी कहा है और परमधर्म भी कहा है। जब सेवा किसी स्वार्थबुद्धि से की जाती है, तब श्ववृत्ति-कुकुरवृत्ति कहलाती है और जब निःस्वार्थ भाव से की जाती है तब परमधर्म कहलाती है– कर्मनिर्जरा का कारण मानी जाती है ॥११२॥

अथ किं दानमुच्यत इत्यत आह–

---

१. देशसकलयतीनां घ.।

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः, सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणा,-मार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥

अन्वयार्थ—(सप्तगुणसमाहितेन) श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, निर्लोभता, क्षमा, सत्य (शक्ति) इन सात गुणों से सहित और **(शुद्धेन)** कौलिक–कुल सम्बन्धि, आचरिक–आचरण सम्बन्धि तथा शारीरिक शुद्धि से युक्त दाता के द्वारा **(अपसूनारम्भाणाम्)** कूटना, पीसना, झाड़ना, पानी भरना, चूल्हा जलाना इन पंच सूनों (जीवघात के स्थान को सूना कहते हैं) और असि, मसि, कृषि आदि आरम्भों से रहित **(आर्याणां)** सम्यग्दर्शन आदि गुणों से सहित मुनियों की **(नवपुण्यैः)** नवधाभक्तिपूर्वक **(प्रतिपत्तिः)** आहार आदि के द्वारा गौरव व आदर किया जाता है वह **(दानम्)** दान **(इष्यते)** माना गया है।

पाप कार्य सब चूली चक्की आदिक सूने त्याग दिये,
आर्य रहें अनिवार्य कार्यरत संयम में अनुराग किये।
उन्हें सप्त गुण युत शुचि श्रावक नवविध भक्ती है करता,
प्रासुक अन्नादिक देता वह दान कहाता दुख हरता ॥११३॥

टीका—दानमिष्यते। कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवा आदरस्वरूपा। केषां आर्याणां सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीनां। किंविशिष्टानां ? अपसूनारम्भाणां सूनाः पञ्चजीवघातस्थानानि। तदुक्तम्–

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पञ्चसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥१३॥

खंडनी उल्खलं, पेषणी घरट्टः, चुल्ली चुलूकः, उद्कुम्भः उदकघटः, प्रमार्जनी बोहारिका। सूनाश्चारम्भाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां। केन प्रतिपत्तिः कर्त्तव्याः ? सप्तगुणसमाहितेन। तदुक्तं –

[१]**श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यम्।**
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥ यशस्तिलकचम्पू

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन सहितेन तु दात्रा[२] दानं दातव्यं। कैः कृत्वा ? नवपुण्यैः। तदुक्तम् –

[३]**पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।**
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं[४]॥

एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ॥११३॥

---

१. श्रद्धाशक्तिलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा। इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम्। इति 'घ' पुस्तके पाठः। २. तद्दात्रा घ.। ३. 'घ' पुस्तके अस्य श्लोकस्य स्थाने निम्नांकितः श्लोको वर्तते–'प्रतिग्रहोच्चस्थानं च पादक्षालनमर्चनम्। प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च तेन वा। ४. वसुनन्दी श्रावकाचार, गाथा २२४

आगे दान क्या कहलाता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ–जीवघात के स्थान को सूना कहते हैं। संक्षेप से सूना के पाँच भेद हैं। जैसा कि कहा गया है– खण्डनीति खण्डनी–उखली से कूटना, पेषणी चक्की से पीसना, चुल्ली–चूला सिलगाना, उदकुम्भ–पानी के घट भरना और प्रमार्जनी–बुहारी से भूमि को बुहारना ये पाँच हिंसा के कार्य गृहस्थ के होते हैं, अतः वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। खेती आदि व्यापार सम्बन्धी कार्य आरम्भ कहलाते हैं। जिनके सूना और आरम्भ नष्ट हो चुके हैं ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का आहार आदि दान के द्वारा जो गौरव या आदर किया जाता है वह दान कहलाता है। यह दान सात गुणों से सहित दाता के द्वारा दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है– श्रद्धेति। श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये सात गुण जिसके होते हैं उस दाता की प्रशंसा करते हैं। इन सात गुणों के सिवाय दाता को शुद्ध भी होना चाहिए। [१]दाता की शुद्धता का विचार तीन प्रकार से किया जाता है–कुल से, आचार से और शरीर से। जिसकी वंशपरम्परा शुद्ध हो उसे कुलशुद्ध कहते हैं, जिसका आचरण शुद्ध हो उसे आचारशुद्ध कहते हैं और जिसने स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र धारण किये हैं, अंग–भंग नहीं है तथा जिसके शरीर में राध–रुधिरादिक को झराने वाली कोई बीमारी नहीं है उसे शरीर शुद्ध कहते हैं। यह दान नव प्रकार के पुण्यों–पुण्योपार्जन के कारणों के साथ दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है– पडिगहमिति। पडिगाहना, उच्चस्थान देना, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणा–आहारशुद्धि ये नवपुण्य कहलाते हैं। इन्हीं को नवधा भक्ति कहते हैं।

विशेषार्थ–इस श्लोक में दान, दाता, पात्र और दान की विधि बतलाई गई है। पात्र को देखकर उसके प्रति जो आदर प्रकट किया जाता है वह दान कहलाता है। जो श्रद्धा आदि सात गुणों से सहित हो तथा शुद्ध हो उसे दाता कहते हैं। जो चक्की, चूला आदि घर सम्बन्धी तथा खेती आदि व्यापार सम्बन्धी आरम्भ से रहित हो, ऐसे रत्नत्रय के धारक मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका तथा आर्यिका आदि पात्र कहलाते हैं और नवधा भक्ति को दान की विधि कहते हैं। दान देते समय इन सबका विचार रखना चाहिए। दाता के सात गुणों का वर्णन कई प्रकार का मिलता है। एक वर्णन संस्कृत टीका में उद्धृत श्रद्धातुष्टि आदि श्लोक के आधार पर टीकार्थ में किया जा चुका है। दूसरा वर्णन संस्कृत टीका की 'घ' प्रति में उद्धृत श्रद्धाशक्ति आदि श्लोक के आधार पर इस प्रकार है– श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये सात गुण गृहस्थों के होते हैं। इस वर्णन में संतोष के बदले शक्ति और सत्य के बदले दया का उल्लेख हुआ है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्रसूरि ने दाता के निम्नलिखित सात गुण लिखे हैं–१. ऐहिक फल की अपेक्षा नहीं करना, २. शान्ति, ३. निष्कपटता, ४. अनसूया –अन्य दातारों से ईर्ष्या नहीं करना, ५. अविषादित्व, ६. मुदित्व और ७. निरहंकारित्व। इस वर्णन में शान्ति–क्षमा को छोड़कर सभी नवीन गुणों का समावेश हुआ है ॥११३॥

१. संस्कृत टीका में शुद्धिपद की टीका छूटी हुई है। इसे अन्य ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है।

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह–

गृहकर्मणापि निचितं, कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा, रुधिरमलं धावते वारि ॥११४॥

अन्वयार्थ–(खलु) निश्चय से **(अलं)** जैसे **(वारि)** जल **(रुधिरम्)** खून को **(धावते)** धो देता है **[तथा]** वैसे ही **(गृहविमुक्तानां अतिथीनां)** घर रहित अतिथियों की **(प्रतिपूजा)** दान क्रिया **(गृहकर्मणा)** गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से **(निचितम्)** उपार्जित अथवा सुदृढ़ **(कर्म अपि)** पापकर्म को भी **(विमार्ष्टि)** दूर कर देती है।

अगार तज अनगार बने हैं अतिथि रहें नहिं तिथि रखते,
उन पात्रों को दाता देते दान यथोचित मति रखते।
गृह-कार्यों से अर्जित दृढ़तम अघ भी जिससे धुलता है,
रुधिर नीर से जिस विध धुलता, आती अति उज्ज्वलता है ॥११४॥

टीका–विमार्ष्टिस्फेटयति। खलु स्फुटं। किं तत् ? कर्म पापरूपं। कथंभूतं निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा। केन ? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण। कासौ कर्त्री ? प्रतिपूजा दानं। केषां ? अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां। किंविशिष्टानां ? गृहविमुक्तानां गृहरहितानां। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह– रुधिरमलं धावते वारि। अलं शब्दो यथार्थे। अयमर्थो रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तृ निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि ॥११४॥

इस प्रकार दिये जाने वाले दान का फल दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– जिन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग से घर को त्याग दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान हैं, किसी खास तिथि से राग-द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिए जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार-सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल, मलिन रुधिर को धो देता है– नष्टकर देता है।

विशेषार्थ–गृहस्थ का जीवन, ऐसा जीवन है कि उसमें हिंसा के कार्य अवश्य होते हैं। जैसे उखली से धान आदि को कूटना, चक्की से गेहूँ आदि को पीसना, चूल्हा जलाना, पानी के घट भरना और बुहारी से भूमि को झाड़ना तथा व्यापार के लिए खेती आदि करना। इन सब कामों में गृहस्थ के निरन्तर पापकर्मों का संचय होता रहता है। इस संचय के होते हुए भी यदि गृहस्थ परमार्थ से गृह के त्यागी मुनियों के लिए दान देता है तो उससे उत्पन्न हुआ पुण्य उस संचित कर्म को उसी तरह शीघ्र ही नष्ट कर देता है जिस प्रकार कि पानी मलिन तथा अपवित्र खून को धो डालता है–नष्ट कर देता है ॥११४॥

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फलं सम्पद्यत इत्याह–

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५॥

अन्वयार्थ—(तपोनिधिषु) तप के भंडार स्वरूप मुनियों के विषय में **(प्रणतेः)** प्रणाम करने से **(उच्चैर्गोत्रं)** उच्च गोत्र **(दानात्)** आहारादि दान देने से **(भोगः)** भोग **(उपासनात्)** उपासना/प्रतिग्रहण करने से **(पूजा)** सम्मान **(भक्तेः)** भक्ति करने से **(सुन्दररूपं)** सुन्दररूप और **(स्तवनात्)** स्तुति करने से **(कीर्तिः)** ख्याति/सुयश प्राप्त होता है।

तपोधनों को नमन करो तो सुफल निराकुल सुकुल मिले,
उपासना से पूजा मिलती भोग, दान से विपुल मिले।
भक्त बनो गुरु-भक्ति करो तो सुभग-सुभगतम तन मिलता,
गुरु-गुण-गण की स्तुति करने से यश फैले जन मंजुलता ॥११५॥

टीका—तपोनिधिषु यतिषु। प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति। तथा [1]दानादशनशुद्धि-लक्षणाद्भोगो भवति। उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति। भक्तेर्गुणानुराग-जनितान्तः श्रद्धाविशेषलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति। स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुति-विधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ॥११५॥

आगे पडिगाहना आदि नौ प्रकार के पुण्य कार्यों के करने पर किससे कौन फल प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

टीकार्थ—तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से भोग, पडगाहने से पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुन्दर रूप तथा ''आप ज्ञान के सागर हैं'' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—जिस कुल में मोक्षमार्ग-मुनिमार्ग का प्रचलन हो उसे उच्चगोत्र कहते हैं, ऐसा उच्चगोत्र मुनियों को प्रणाम करने से प्राप्त होता है। सुन्दर एवं सुखदायी भोजन आदि को भोग कहते हैं। इसकी प्राप्ति मुनियों को आहारादि दानों के देने से होती है। सर्वत्र सम्मान की प्राप्ति होना पूजा कहलाती है। इसकी प्राप्ति मुनियों की उपासना-पड़गाहना आदि नवधा भक्ति करने से होती है। गुणों के अनुराग से अन्तरङ्ग में जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे भक्ति कहते हैं। मुनियों की ऐसी भक्ति करने से सुन्दर रूप प्राप्त होता है। तथा दिग्दिगन्त तक फैलने वाले सुयश को कीर्ति कहते हैं। इस कीर्ति की प्राप्ति मुनियों के स्तवन से होती है ॥११५॥

नन्वैवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्याशंकाऽपनोदार्थमाह—

---

१. दानाद्दर्शनशुद्धि – घ.।

क्षितिगतमिव वटबीजं, पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं, बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥११६॥

अन्वयार्थ–(काले) उचित समय में **(पात्रगतं)** योग्य पात्र के लिए दिया गया **(अल्पमपि)** थोड़ा भी **(दानं)** दान **(क्षितिगतं)** उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए **(वटबीजम् इव)** वटवृक्ष के बीज के समान **(शरीरभृताम्)** प्राणियों के **(छायाविभवं)** माहात्म्य और वैभव से युक्त पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित **(बहु)** बहुत भारी **(इष्टं)** अभिलषित **(फलं)** फल को **(फलति)** फलता/देता है।

सही पात्र को भाव-भक्ति से समयोचित हो दान रहा,
अल्पदान भी अनल्प फल दे भविजन को वरदान रहा।
उचित धरा पर वपन किया हो, हो अणु-सा वट बीज भले,
घनी छाँव फल देता तरु बन भाव भले शुभ चीज मिले ॥११६॥

टीका–अल्पमपि दानमुचितकाले। पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं। शरीरभृतां संसारिणां। इष्टं फलं बह्वनेकप्रकारं सुन्दररूपभोगोपभोगादिलक्षणं फलति। कथंभूतं ? छायाविभवं छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यत्र। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिदृष्टान्तमाह। क्षितिगतं सुक्षेत्रे निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं फलति। कथं ? छायाविभवं छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथा भवत्येवं फलति ॥११६॥

आगे कोई शंका करता है कि थोड़ा-सा दान इस प्रकार के विशिष्ट फल को कैसे सम्पन्न करता है, इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं–

टीकार्थ–जिसप्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटा-सा वट का बीज संसारी जीवों के बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता है उसी प्रकार उचित समय में सत्पात्र के लिए दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियों के लिए अभिलषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है। दानपक्ष में 'छायाविभवं' का समास इस प्रकार होता है– **छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विधेते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं** छाया का अर्थ माहात्म्य होता है। और विभव का अर्थ सम्पत्ति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान हैं उस फल को दान देता है। वटबीज पक्ष में छाया का अर्थ अनातप–घाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ प्राचुर्य-अधिकता लिया जाता है। छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथाभवत्येवं इस प्रकार क्रिया-विशेषण किया जाता है।

विशेषार्थ–अधिक परिमाण में दिया हुआ दान ही सफल होता हो, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु योग्य पात्र के लिए योग्य समय में दिया हुआ थोड़ा-सा दान भी अधिक फल देता है। इस विषय में वट बीज का दृष्टान्त बहुत उपयुक्त है। अर्थात् जिस प्रकार वट का छोटा-सा बीज यदि योग्य समय

में अच्छी भूमि में डाल दिया जाता है तो वह आगे चलकर बहुत भारी छाया के साथ अनेक इष्ट फल प्रदान करता है। उसी प्रकार सत्पात्र के लिए योग्य काल में यदि थोड़ा भी दान दिया जाता है तो वह आगे चलकर बहुत भारी माहात्म्य और सम्पत्ति के साथ अनेक फल प्रदान करता है। इससे सिद्ध है कि दान में परिमाण की अपेक्षा भावना का विशिष्ट फल है। दान के विषय में पात्र का विचार अवश्य रखना चाहिए। पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक मुनि उत्तम पात्र हैं, श्रावक मध्यमपात्र हैं तथा अविरतसम्यग्दृष्टि गृहस्थ जघन्य पात्र हैं। मिथ्यादर्शन के साथ जो जैन आचार का पालन करता है वह कुपात्र कहलाता है तथा मिथ्यादर्शन के साथ जो मिथ्याचार का पालन करता है वह अपात्र कहलाता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य, पात्रदान के फलस्वरूप स्वर्ग में उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि मनुष्य भोगभूमि में उत्पन्न होता है। कुपात्रदान का फल कुभोगभूमि है और अपात्रदान का फल नरक-निगोदादिक है ॥११६॥

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्भेदं भवतीत्याह–

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥

अन्वयार्थ–(चतुरस्राः) चार ज्ञानधारी गणधरदेव **(आहारौषधयोः)** आहार औषधि **(च)** और **(उपकरणावासयोः अपि)** उपकरण तथा आवास के भी **(दानेन)** दान से **(वैयावृत्यं)** वैयावृत्य को **(चतुरात्मत्वेन)** चार प्रकार का **(ब्रुवते)** कहते हैं।

प्रथम रहा आहार दान है दूजा औषध दान रहा,
शास्त्रादिक उपकरणदान जो वही तीसरा दान रहा।
चौथा है आवासदान यों भेद दान के चार रहे,
वैयावृत्या अतः चतुर्विध सुधी कहें आचार्य कहे ॥११७॥

टीका–वैयावृत्त्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयन्ति। कथं ? चतुरात्मत्वेन चतुःप्रकारत्वेन। के ते ? चतुरस्राः पण्डिताः। तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्नाहारेत्याद्याह-आहारश्च भक्तपानादिः औषधं च व्याधिस्फोटकं द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन। न केवलं तयोरेव अपि तु उपकरणावासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणादिः आवासो वसतिकादिः ॥११७॥

आगे वह ऐसा फल देने वाला दान चार भेद वाला है, यह कहते हैं–

टीकार्थ– भक्त, पान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषध करते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैयावृत्य चार प्रकार का होता है ऐसा पण्डितजन निरूपण करते हैं।

विशेषार्थ– वैयावृत्य का प्रचलित अर्थ दान है और वह दान चार प्रकार का है– १.

आहारदान, २. औषधदान, ३. उपकरणदान और ४. आवासदान। अन्य शास्त्रकारों ने उपकरणदान के स्थान पर ज्ञानदान और आवासदान के स्थान पर अभयदान का उल्लेख किया है। परन्तु ज्ञानदान की अपेक्षा उपकरणदान अधिक व्यापक जान पड़ता है क्योंकि ज्ञानदान में मात्र ज्ञान के उपकरण–शास्त्रों का दान गर्भित होता है जबकि उपकरणदान में संयम का उपकरण–मयूरपिच्छिका तथा शौच का उपकरण–कमण्डलु का दान भी गर्भित हो जाता है। यद्यपि आवासदान–वसतिकादान, अभयदान का ही एकरूप है तथापि इसकी अपेक्षा अभयदान शब्द अधिक व्यापक जान पड़ता है। पूज्यपाद तथा अकलंकस्वामी ने भिक्षा, औषध, उपकरण तथा प्रतिश्रय के भेद से अतिथिसंविभाग व्रत के चार भेद माने हैं, जो कि समन्तभद्राचार्य के द्वारा निरूपित चार भेदों के अनुरूप ही हैं ॥११७॥

तच्चतुष्प्रकारं दानं किं केन दत्तमित्याह–

श्रीषेणवृषभसेने, कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते, चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥११८॥

अन्वयार्थ–(श्रीषेणवृषभसेने) श्रीषेण, वृषभसेना **(कौण्डेशः)** कौण्डेश **(च)** और **(सूकरः)** सूकर **(एते)** ये **(चतुर्विकल्पस्य वैयावृत्यस्य)** चार भेद वाले वैयावृत्य के **(दृष्टान्ताः)** दृष्टान्त **(मन्तव्याः)** मानना चाहिए।

प्रजापाल श्रीषेण नाम का प्रथम दान में ख्यात रहा,
हुई वृषभसेना वह औषध महादान में ख्यात महा॥
तथा रहा उपकरण - दान में नामी है कौण्डेश अहा,
सूकर वह आवास-दान में यह गुरु का उपदेश रहा ॥११८॥

टीका–चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधवैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः।

अस्य कथा

मलयदेशे रत्नसंचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता द्वितीया अनिन्दिता च। पुत्रौ क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ। तत्रैव ब्राह्मणः सात्यकिनामा, ब्राह्मणी जम्बू, पुत्री सत्यभामा। पाटलिपुत्रनगरे ब्राह्मणो रुद्रभट्टो वटुकान् वेदं पाठयति। तदीयचेटिकापुत्रश्च कपिलनामा तीक्ष्णमतित्वात् [1]छद्मना वेदं शृण्वन् तत्पारगो जातो। रुद्रभट्टेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्घाटितः। [2]सोत्तरीयं यज्ञोपवीतं परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसंचयपुरे गतः। सात्यकिना च तं वेदपारगं सुरूपं च दृष्ट्वा सत्यभामाया योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै दत्ता। सत्यभामा च रतिसमये विटचेष्टां तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽयं न भविष्यतीति सा

१. कर्णलब्ध्या वेदं शृण्वानः घ.। २. सोत्तरीययज्ञोपवीतं घ.।

सम्प्रधार्य चित्ते विषादं वहन्ती तिष्ठति। एतस्मिन् प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रा कुर्वाणो रत्नसंचयपुरे समायातः। कपिलेन प्रणम्य निजधवलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिकं कारयित्वा सत्यभामायाः सकललोकानां च मदीयोऽयं पितेति कथितम्। सत्यभामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्टं भोजनं बहुसुवर्णं च दत्वा पादयोर्लगित्वा पृष्टं-तात! तव शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति, ततः किमयं तव पुत्रो भवति न वेति सत्यं मे कथय। ततस्तेन कथितं, पुत्रि! मदीयचेटिकापुत्र इति। एतदाकर्ण्य तदुपरि विरक्ता सा हठादयं मामभिगमिष्यतीति मत्वा सिंहनन्दिताग्रमहादेव्याः शरणं प्रविष्टा, तया च सां पुत्री ज्ञाता। एवमेकदा श्रीषेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वक-कर्मकीर्त्यमितगतिचारणमुनिभ्यां दानं दत्तम्। तत्फलेन राज्ञा सह भोगभूमावुत्पन्ना। तदनुमोदनात् सत्यभामापि तत्रैवोत्पन्ना। स राजा श्रीषेणो दानप्रथमकारणात् पारम्पर्येण शान्तिनाथतीर्थंकरो जातः। आहारदानफलम्।

औषधदानेवृषभसेनाया दृष्टान्तः।

अस्याः कथा

जनपददेहो कावेरीपत्तने राजोग्रसेनः, श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्रीः, पुत्री वृषभसेना तस्या धात्री रूपवती नामा। एकदा वृषभसेना स्नानजल गर्तायां रोगगृहीतं कुक्कुरं पतित-लुठितोऽत्थितं रोगरहित-मालोक्य चिन्तितं धात्र्या-पुत्रीस्नानजलमेवास्यारोग्यत्वे कारणम्। ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादश-वार्षिकाक्षिरोगगृहीताः कथिते तया लोचेन तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौतदृष्टे च शोभने जाते। ततः सर्वरोगापनयने सा धात्री प्रसिद्धा तत्र नगरे संजाता। एकदोग्रसेनेन रणपिङ्गलमन्त्री बहुसैन्योपेतो मेघपिङ्गलोपरि प्रेषितः। स तं देशं प्रविष्टो विषोदकसेवनात् ज्वरेण गृहीतः। स च व्याघुट्यागतः रूपवत्या च तेन जलेन नीरोगीकृतः। उग्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गतः तथा ज्वरितो व्याघुट्यायातो रणपिङ्गलाज्जलवृत्तान्तमाकर्ण्य तज्जलं याचितवान्। ततो मन्त्र उक्तो धनश्रिया भोः श्रेष्ठिन्! कथं नरपतेः शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते ? धनपतिनोक्तं यदि पृच्छति राजा जलस्वभावं तदा सत्यं कथ्यते न दोषः। एवं भणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उग्रसेनः। ततो नीरोगेण, राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम्। तया च सत्यमेव कथितं। ततो राज्ञा व्याहूतः श्रेष्ठी, स च भीतः राज्ञः समीपमायातः। राजा च गौरवं कृत्वा वृषभसेनां परिणेतुं स याचितः। ततः श्रेष्ठिना! भणितं देव! यद्यष्टाह्निकां पूजां जिनप्रतिमानां करोषि तथा पञ्जरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्यांश्च मुञ्चसि तदा ददामि। उग्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टरानी च कृता। अतिवल्लभया तयैव च सह विमुच्चान्यकार्यं क्रीडां करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्याः पृथिवीचन्द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽतिप्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः। ततस्तस्य या राज्ञौ नारायणदत्ता तया मन्त्रिभिः सह मन्त्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्यां सर्वत्रारवारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञीनाम्ना कारितास्तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्तं वृत्तान्तमाकर्ण्य रुष्ट्या रूपवत्या भणिता वृषभसेने! त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्यां कथं सत्कारान् कारयसि ? तया भणितमहं न कारयामि किन्तु

मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि कारिताः। तेषां शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुरुषैः कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनायाः सर्वं कथितम्। तया च राजानं विज्ञाप्य मोचितः पृथ्वीचन्द्रः। तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते। तयोरधो निजरूपं सप्रणामं कारितम्। स फलकस्तयोर्दर्शितः भणिता च वृषभसेना राज्ञी -देवि! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सफलं मे जातं। तत उग्रसेनः सन्मानं दत्वा भणितवान्-त्वया मेघपिङ्गलस्योपरि गन्तव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्यां वाराणस्यां प्रेषितः। मेघपिङ्गलोऽप्येतदाकर्ण्य ममायं पृथ्वीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्याति-प्रसादितः सामन्तो जातः। उग्रसेनेन चास्थानस्थितस्य यन्मे प्राभृत-मागच्छति तस्यार्धं मेघपिङ्गलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता। एवमेकदा रत्नकम्बलद्वयमागतमेकैकं सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्तं। एकदा मेघपिङ्गलस्य राज्ञी विजयाख्या मेघपिङ्गलकम्बलं प्रावृत्या प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता। तत्र कम्बल-परिवर्तो जातः। एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्रावृत्य मेघपिङ्गलः सेवायामुग्रसेन-सभायामागतः राजा च तमालोक्याति-कोपाद्रक्ताक्षद्वो बभूव। मेघपिङ्गलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः। वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता। तया च प्रतिज्ञा गृहीता यदि, एतस्मादुप-सर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति। ततो व्रतमाहात्म्या-ज्जलदेवताया तस्याः सिंहासनादि-प्रातिहार्यं कृतम्। तच्छ्रुत्वा पश्चात्तापं कृत्वा राजा तमानेतुं गतः। आगच्छता वनमध्ये गुणधरनामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टिः। स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्वभवचेष्टितं पृष्टः। कथितं च भगवता। यथा-पूर्वभवे त्वमत्रैव, ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा जातासि। राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्तायां मुनिः दत्तनामा मुनिः पर्यङ्ककायोत्सर्गेण स्थितः। त्वया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जनं करोमि लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिः कायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः। ततस्त्वया कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम्। प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितनिःश्वसितप्रदेशं दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः। ततस्त्वयात्मनिन्दां कृत्वा धर्मे रुचिः कृता। परमादरेण च तस्य मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं विशिष्ट-मौषधदानं वैयावृत्यं च कृतम्। ततो निदानेन मृत्वेह धनपतिधनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि। औषधदानफलात् सर्वौषधर्द्धिफलं जातम्। कचवारपूरणात् कलङ्किता च। इति श्रुत्वात्मानं मोचयित्वा वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता। औषधदानस्य फलम्।

श्रुतदाने कौण्डेशो दृष्टान्तः।

अस्य कथा

कुरु[1]मणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा। तेन च कोटारादुद्धृत्य चिरन्तनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम्। तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां पूर्वभट्टारकाः केचित् किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च

१. कुरुमरि इति ग, घ. कुमार क्ष।

व्याख्यानं कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृष्ट्वा नित्यमेव पूजा कृता वृक्षकोट[१]रस्यापि। एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः। तपो गृहीत्वा कौण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत्। इति श्रुतदानस्य फलम्।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः।

अस्य कथा

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा[२] नापितश्च धमिल्लनामा। ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता [३]धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः। ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां निःसारितः स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमानः स्थितः प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्त-त्रिगुप्तमुनी आगत्य स्थितौ। तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य व्रतं गृहीतवान्। तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः। सूकरश्च तयोरक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः। तत्रापि तौ परस्परं युध्वा मृतौ। सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः। व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः। वसतिदानस्य फलम् ॥११८॥

आगे वह चार प्रकार का दान किस-किसके द्वारा दिया गया है, यह कहते हैं-

टीकार्थ— श्रीषेणराजा आहारदान, वृषभसेना औषधदान, कौण्डेश उपकरणदान और सूकर आवासदान के दृष्टान्त हैं, ऐसा जानना चाहिए।

आहारदान में श्रीषेण राजा का दृष्टान्त है। इसकी कथा इस प्रकार है-

श्रीषेण राजा की कथा

मलयदेश के रत्नसंचयपुर में राजा श्रीषेण रहता था। उसकी बड़ी रानी का नाम सिंहनन्दिता और छोटी रानी का नाम अनिन्दिता था। दोनों रानियों के क्रम से इन्द्र और उपेन्द्र नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसी नगर में एक सात्यकि नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम जम्बू और पुत्री का नाम सत्यभामा था। पाटलिपुत्र नगर में एक रुद्रभट्ट नाम का ब्राह्मण बालकों को वेद पढ़ाया करता था। उसकी दासी का पुत्र कपिल तीक्ष्णबुद्धि होने से छलपूर्वक वेद को सुनता हुआ उसका पारगामी विद्वान् हो गया। रुद्रभट्ट ने क्रुद्ध होकर उस कपिल को पाटलिपुत्र नगर से बाहर निकाल दिया।

---

१. वृक्षस्य इति ग.। पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापितं इति ख.। २. देवलानाम। ३. धम्मिल धम्मिल इति ग. धर्मिल घ.।

वह कपिल दुपट्टा सहित यज्ञोपवीत को धारण कर ब्राह्मण बन रत्नसंचयपुर नगर में चला गया। सात्यकि ब्राह्मण ने उसे वेद का पारगामी तथा सुन्दर देख ''यह सत्यभामा के योग्य है'' ऐसा मान उसके लिये सत्यभामा दे दी। सत्यभामा, रति के समय उसकी विट जैसी चेष्टा देखकर ''यह कुलीन होगा या नहीं'' ऐसा विचारकर मन में खेद को धारण करती हुई रहती थी। इसी अवसर पर रुद्रभट्ट तीर्थयात्रा करता हुआ रत्नसंचयपुर नगर में आया। कपिल, उसे प्रणाम कर अपने सफेद गृह में ले गया तथा भोजन और वस्त्र आदि दिलाकर उसने सत्यभामा तथा अन्य समस्त लोगों के सामने कहा कि ''यह मेरा पिता है।'' सत्यभामा ने एकदिन रुद्रभट्ट को विशिष्ट भोजन तथा बहुत-सा सुवर्ण देकर उसके पैरों में लगकर पूछा कि हे तात! कपिल में आपके स्वभाव का अंश भी नहीं, इसीलिये यह आपका पुत्र है अथवा नहीं, यह मेरे लिये सत्य कहिये। तदनन्तर रुद्रभट्ट ने कहा कि हे पुत्रि! यह मेरी दासी का पुत्र है। यह सुनकर वह उसके ऊपर विरक्त हो गई तथा ''यह हठपूर्वक मेरे पास आवेगा'' ऐसा मानकर वह सिंहनन्दिता नामक बड़ी रानी की शरण में चली गई। सिंहनन्दिता ने उसे पुत्री मानकर रख लिया। इस प्रकार एकदिन श्रीषेण राजा ने परमभक्ति से विधिपूर्वक अर्ककीर्ति और अमितगति नामक चारण मुनियों को दान दिया। उसके फलस्वरूप वह रानी राजा के साथ भोगभूमि में उत्पन्न हुई। सत्यभामा ने भी उस दान की अनुमोदना की थी, इसलिये वह भी उसी भोगभूमि में उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण आहारदान के कारण परम्परा से शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए । यह आहारदान का फल है।

औषधदान में वृषभसेना का दृष्टान्त है। उसकी कथा इस प्रकार है-

वृषभसेना की कथा

जनपद देश के कावेरीपत्तन नामक नगर में राजा उग्रसेन रहते थे। वहीं एक धनपति नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनश्री था। उन दोनों के वृषभसेना नाम की पुत्री थी। वृषभसेना की रूपवती नाम की धाय थी। एकदिन वृषभसेना के स्नानजल के गड्ढे में एक रोगी कुत्ता गिरकर जब उसमें लौटने के बाद निकला तो वह रोगरहित हो गया। उसे देखकर धाय ने विचार किया कि इसकी नीरोगता का कारण पुत्री का स्नान जल ही है। तदनन्तर धाय ने यह समाचार अपनी माता से कहा। उसकी माता बारह वर्ष से नेत्ररोग से पीड़ित थी। माता ने एक दिन परीक्षा के लिये अपने नेत्र उस जल से धोये तो धोते ही ठीक दिखने लगे। इस घटना से वह धाय उस नगर में सब रोगों को दूर करने वाली है, इस तरह प्रसिद्ध हो गई।

एक समय राजा उग्रसेन ने अपने रणपिंगल नामक मन्त्री को बहुत सेना से युक्त कर मेघपिंगल के ऊपर भेजा। मन्त्री ज्यों ही उस देश में प्रविष्ट हुआ त्यों ही विष मिश्रित पानी का सेवन करने से ज्वर से ग्रसित हो गया। जब वह लौटकर आया तब रूपवती धाय ने उसे उस जल से निरोग कर दिया। राजा उग्रसेन भी क्रोधवश वहाँ गया और ज्वर से आक्रान्त हो लौटकर आ गया। रणपिंगल से जल

का वृत्तान्त सुनकर राजा ने भी उस जल की याचना की। तदनन्तर धनश्री सेठानी ने सेठ से सलाह की कि हे श्रेष्ठिन्! राजा के शिर पर पुत्री का स्नानजल कैसे डाला जावे ? धनपति सेठ ने कहा कि यदि राजा जल का स्वभाव पूछता है तो सत्य कह दिया जावेगा, उसमें दोष नहीं है। ऐसा करने पर रूपवती धाय ने उग्रसेन राजा को उस जल से निरोग कर दिया। तदनन्तर निरोग राजा ने रूपवती से जल का माहात्म्य पूछा। रूपवती ने सब सत्य ही कह दिया। पश्चात् राजा ने सेठ को बुलाया और वह डरते-डरते राजा के पास आया। राजा ने सम्मान कर उससे वृषभसेना को विवाह देने की याचना की। तदनन्तर सेठ ने कहा कि हे राजन्! यदि तुम जिनप्रतिमाओं की अष्टाह्निक पूजा करते हो, पिंजड़ों में स्थित समस्त पक्षियों को छोड़ते हो और बन्दीगृह में स्थित सब मनुष्यों को बन्धन से मुक्त करते हो तो मैं अपनी पुत्री देता हूँ। राजा उग्रसेन ने वह सब कर वृषभसेना को विवाह लिया तथा उसे पट्टरानी बना दिया। राजा अन्य सब कार्यों को छोड़कर अतिशय प्रिय उसी वृषभसेना के साथ क्रीड़ा करने लगा।

इसी अवसर पर वाराणसी का एक पृथ्वीचन्द्र नामक राजा उसके यहाँ कैद था। उसे अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण राजा ने वृषभसेना के विवाह के समय भी नहीं छोड़ा था। तदनन्तर पृथ्वीचन्द्र की जो नारायणदत्ता नाम की रानी थी उसने मन्त्रियों के साथ सलाह कर, पृथ्वीचन्द्र को छुड़वाने के लिये वाराणसी में सब जगह वृषभसेना रानी के नाम से ऐसे भोजनगृह खुलवाये, जिनमें किसी के लिये प्रवेश करने का निषेध नहीं था। उन भोजनगृहों में भोजन कर जो ब्राह्मण आदिक कावेरीपत्तन गये थे उनसे उस वृत्तान्त को सुनकर रूपवती धाय ने रुष्ट हो वृषभसेना से कहा कि हे वृषभसेने! तू मुझसे बिना पूछे ही वाराणसी में भोजन-गृह क्यों बनवा रही है। वृषभसेना ने कहा कि मैं नहीं बनवा रही हूँ किन्तु मेरे नाम से किसी कारणवश किसी अन्य ने बनवाये हैं, तुम इसका पता चलाओ। तदनन्तर गुप्तचरों से पता चलाकर तथा यथार्थ बात जानकर उसने वृषभसेना से सब समाचार कहा। वृषभसेना ने यह सब राजा से कहकर पृथ्वीचन्द्र को बन्धन से छुड़वा दिया।

पृथ्वीचन्द्र ने एक चित्रपट्ट पर वृषभसेना और उग्रसेन के चित्र बनवाये तथा उनके नीचे प्रणाम करता हुआ अपना चित्र बनवाया। वह चित्रपट्ट उन दोनों के लिए दिखाया गया और वृषभसेना रानी से कहा गया कि हे देवि! तुम मेरी माता हो, तुम्हारे प्रसाद से मेरा यह जन्म सफल हुआ है। तदनन्तर उग्रसेन ने सम्मान देकर कहा कि तुम्हे मेघपिंगल के पास जाना चाहिए, ऐसा कहकर उन दोनों ने उसे वाराणसी भेज दिया। मेघपिंगल भी यह सुनकर तथा यह पृथ्वीचन्द्र मेरा मर्मभेदी है ऐसा विचार कर आया और उग्रसेन से सम्मान प्राप्त कर उसका सामन्त बन गया। राजा उग्रसेन ने ऐसी व्यवस्था की कि राजसभा में स्थित रहते हुए मेरे लिये जो भेंट आती है उसका आधा भाग मेघपिंगल को दूंगा और आधा भाग वृषभसेना के लिये। इस प्रकार की व्यवस्था किये जाने पर एक दिन रत्नकम्बल भेंट में आये। राजा ने उसे नाम से चिह्नित कर एक-एक कम्बल दोनों के लिये दे दिया।

एक दिन मेघपिंगल की रानी विजया, मेघपिंगल का कम्बल ओढ़कर किसी कार्य से रूपवती के पास गई। वहाँ उसका कम्बल बदल गया अर्थात् वृषभसेना के नाम से अंकित कम्बल को ले आई और मेघपिंगल के नाम से अंकित कम्बल को वहाँ छोड़ आई। एकदिन वृषभसेना के कम्बल को ओढ़कर मेघपिंगल सेवा के समय राजा उग्रसेन की सभा में गया। और राजा उग्रसेन उस कम्बल को देखकर अत्यन्त क्रोध से लाल-लाल नेत्रों वाला हो गया। मेघपिंगल, उसे उस प्रकार का देख, यह मेरे ऊपर कुपित है ऐसा जानकर दूर चला गया और क्रोध से युक्त राजा उग्रसेन ने मारने के लिए वृषभसेना को समुद्र के जल में फिकवा दिया। वृषभसेना ने प्रतिज्ञा की यदि इस उपसर्ग से उद्धार पा सकूँगी तो तप करूँगी। तदनन्तर व्रत के माहात्म्य से जलदेवता ने उसके लिए सिंहासन आदि का अतिशय किया। यह सुनकर पश्चाताप् करता हुआ राजा उसे लेने के लिए गया। वापस आते हुए राजा ने वन के बीच एक गुणधर नाम के अवधिज्ञानी मुनि को देखा। वृषभसेना ने नमस्कार कर उनसे अपने पूर्वभव का समाचार पूछा। भगवान् मुनि ने कहा-कि तू पूर्वभव में इसी नगर में नागश्री नाम की ब्राह्मण पुत्री थी और राजा के देवमन्दिर में झाड़ने का कार्य करती थी। एक दिन उस मन्दिर में अपराह्न के समय कोट के भीतर वायु रहित गहन स्थान में मुनिदत्त नाम के एक मुनि पर्यंकासन से कायोत्सर्ग कर विराजमान थे। तूने क्रुद्ध होकर उनसे कहा कि कटक से राजा यहाँ आवेंगे, अतः तुम यहाँ से उठो, मुझे झाड़ना है। इस तरह तू कहती रही, परन्तु मुनि कायोत्सर्ग कर मौन से स्थित रहे। तदनन्तर तूने कचड़े से उन्हें ढंककर ऊपर से झाडू दे दी। प्रातःकाल जब राजा आया और क्रीड़ा करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा तब उसने श्वास के कारण ऊँचे-नीचे होते हुए उस स्थान को देखकर खुदवाया और उन मुनि को बाहर निकाला। तदनन्तर तूने आत्म निन्दाकर धर्म में श्रद्धा की और उन मुनि की पीड़ा को शान्त करने के लिए बड़े आदर से उन्हें विशिष्ट औषधि दी तथा उनकी सेवा की। तदनन्तर निदान से मरकर तू यहाँ धनपति और धनश्री के वृषभसेना नाम की पुत्री हुई है। औषधदान के फल से तुम्हें सर्वौषध ऋद्धि का फल प्राप्त हुआ है तथा कचड़ा से ढँकने के कारण तू कलंक को प्राप्त हुई है। यह सुनकर वृषभसेना अपने आपको राजा से छुड़ाकर उन्हीं मुनि के समीप आर्यिका हो गई है। यह औषधदान का फल है।

शास्त्रदान में कौण्डेश का दृष्टान्त है। उसकी कथा इस प्रकार है-

कौण्डेश की कथा

कुरुमणि ग्राम में एक गोविन्द नाम का ग्वाला रहता था। उसने कोटर से निकालकर एक प्राचीन शास्त्र की पूजा की तथा भक्तिपूर्वक पद्मनन्दी मुनि के लिये वह शास्त्र दिया। उस शास्त्र के द्वारा पहले के कितने ही मुनियों ने स्वयंपूजा करके तथा दूसरों से कराकर व्याख्यान किया था और उसके बाद वे उस शास्त्र को उसी कोटर में रखकर चले गये थे। गोविन्द निदान से मरकर उसी ग्राम में ग्राम प्रमुख का पुत्र हुआ। एक बार उन्हीं पद्मनन्दी मुनि को देखकर उसे जातिस्मरण हो गया, जिससे तप धारण

कर वह कौण्डेश नाम का बहुत बड़ा शास्त्रों का पारगामी मुनि हुआ। यह श्रुतज्ञान–शास्त्र दान का फल है।

वसतिका के दान में सूकर का दृष्टान्त है। इसकी कथा इस प्रकार है–

सूकर की कथा

मालवदेश के घटग्राम में एक देविल नाम का कुम्हार और धमिल्ल नाम का एक नाई रहता था। उन दोनों ने पथिकजनों के ठहरने के लिए एक धर्मस्थान बनवाया, एक दिन देविल ने मुनि के लिए वहाँ पहले निवास दे दिया। पश्चात् धमिल्ल ने एक परिव्राजक को वहाँ लाकर ठहरा दिया। धमिल्ल और परिव्राजक ने उन मुनि को वहाँ से निकाल दिया, जिससे वे वृक्ष के नीचे रात भर डांश–मच्छर तथा शीत आदि की बाधा को सहन करते हुए ठहरे रहे। प्रातःकाल ऐसा करने से देविल और धमिल्ल दोनों में परस्पर युद्ध हुआ, जिससे दोनों मरकर विन्ध्याचल में क्रम से सूकर और व्याघ्र हुए। वे क्रम–क्रम से बड़े हुए। जिस गुफा में वह सूकर रहता था उसी गुफा में एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्तनाम के दो मुनि आकर ठहर गये। उन्हें देखकर देविल के जीव सूकर को जातिस्मरण हो गया, जिससे उसने धर्म श्रवणकर व्रत ग्रहण कर लिया। उसी समय मनुष्य की गन्ध को सूँघकर मुनियों को खाने के लिए वह व्याघ्र भी वहाँ आ पहुँचा। सूकर, उन मुनियों की रक्षा के निमित्त गुफा के द्वार पर खड़ा हो गया। वहाँ भी वे दोनों परस्पर युद्ध कर मरे। सूकर, मुनियों की रक्षा के अभिप्राय से अच्छे भावों को धारण करता था, इसलिये वह मरकर सौधर्मस्वर्ग में महान् ऋद्धियों को धारण करने वाला देव हुआ, परन्तु व्याघ्र, मुनियों के भक्षण के अभिप्राय से खोटे भाव को धारण करता था, इसलिये वह मरकर नरक गया। यह वसतिका दान का फल है ॥११८॥

यथा वैयावृत्यं चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्त्तव्यमित्याह–

देवाधिदेव–चरणे, परिचरणं सर्व–दुःख–निर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥११९॥

अन्वयार्थ–श्रावक को **(नित्यम्)** प्रतिदिन **(कामदुहि)** मनोरथों को पूर्ण करने वाली **(कामदाहिनि)** काम को भस्म करने वाली और **(सर्वदुःख-निर्हरणम्)** समस्त दुःखों को पूर्णरूप से दूर करने वाली **(देवाधिदेव-चरणे)** इन्द्र आदि से वन्दनीय अरिहन्त देव के चरणों में **(परिचरणम्)** पूजा को **(आदृतः)** आदर से **(परिचिनुयात्)** पुष्ट/संचित करना चाहिए।

देवों से भी पूज्य देव 'जिन' जिनके सुरपति दासक हैं,
प्रभु पद पंकज कामधेनु हैं कामभाव का नाशक हैं।
सविनय सादर जिनपद पूजन बुधजन प्रतिदिन करें अतः,
सब दुख मिटता मिलता निज सुख क्रमशःशिव को वरें स्वतः ॥११९॥

टीका—आदृतः आदरयुक्तः नित्यं परिचिनुयात् पुष्टं कुर्यात्। किं ? परिचरणं पूजां। किं विशिष्टं? सर्वदुःखनिर्हरणं निःशेषदुःखविनाशकं। क्व ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवो देवाधिदेवस्तस्य चरणः पादः तस्मिन्। कथंभूते ? कामदुहि वांछितप्रदे। तथा कामदाहिनि कामविध्वंसके ॥११९॥

आगे वैयावृत्य करने वाले श्रावक को जिस तरह चार प्रकार का दान देना चाहिए। उसी तरह भगवान् की भी पूजा करनी चाहिए, यह कहते हैं–

टीकार्थ— इन्द्रादिक देवों के द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान् देवाधिदेव कहलाते हैं। उनके चरण वांछित फल को देने वाले हैं तथा काम को भस्म करने वाले हैं। श्रावक को चाहिए कि वह आदरपूर्वक प्रतिदिन उनके चरणों की पूजा करे, क्योंकि उनकी पूजा समस्त दुःखों को हरने वाली है।

विशेषार्थ—गृहस्थ के[१] छह आवश्यक कार्यों में देवपूजा का प्रमुख स्थान है। पूजा करते समय पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा के फल का विचार करना चाहिए। जिसने कामादिक विकारी भावों को भस्म कर दिया हो ऐसे वीतराग जिनेन्द्रदेव पूज्य हैं। उपलक्षण से उपर्युक्त विकारी भावों को आंशिक रूप से नष्ट करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होने से समीचीन शास्त्र भी पूज्य हैं। यद्यपि ये सब, पूजा से प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते नहीं हैं और निन्दा से अप्रसन्न होकर किसी का कुछ नष्ट नहीं करते हैं तथापि **कामदुह्** मनोरथों को पूर्ण करने वाले कहे जाते हैं। उसका कारण यह है कि इनकी पूजा के काल में पूजा करने वाले मनुष्य के हृदय में जो शुभ राग उत्पन्न होता है उसके फलस्वरूप पुण्यकर्म का बन्ध होता है और पापकर्म का अनुभाग क्षीण होता है इसलिए सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश स्वयमेव हो जाता है। उनके गुणों में जिसे अत्यन्त आदर का भाव है वह पूजक कहलाता है। परिचर्या, सेवा, उपासना को पूजा कहते हैं और समस्त दुःखों का दूर होना पूजा का फल है। यहाँ आचार्य ने **कामदुहि कामदाहिनि देवाधिदेवचरणे** इन पदों के द्वारा पूज्य का वर्णन करते हुए कहा है कि पूज्य वही हो सकता है जो मनोरथों को पूर्ण करने वाला हो। तथा कामादिक विकारी भावों को भस्म करने वाला हो। पूजक का वर्णन करते हुए **आदृतः** इस विशेषण द्वारा प्रकट किया है कि पूजक वही हो सकता हैं जो पूज्य के गुणों में अत्यन्त आदरभाव रखता है। पूजा का वर्णन करते हुए **परिचरणं** शब्द द्वारा प्रकट किया है कि देव, शास्त्र तथा गुरु की उनकी पद के अनुरूप परिचर्या करना अर्थात् प्रतिमा रूप देव की अभिषेक तथा पूजन करना, शास्त्रों की विनय करते हुए उनकी सुरक्षा तथा उनके द्वारा प्रतिपाद्य तत्त्वों का प्रचार करना और निर्ग्रन्थ गुरुओं की पूजा करते हुए उनकी आहारादि की व्यवस्था करना यह सब पूजा कहलाती है। और पूजा के फल का वर्णन करते हुए सर्वदुःखनिर्हरणं इस पद के द्वारा प्रकट किया है कि पूजा सब दुःखों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करने

१. देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥ ६/७। पद्मनन्दी पंचविंशतिका।

वाली है। सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करते समय यह भाव रखता है कि हे भगवन्! जैसी शान्त निर्विकार मुद्रा आपकी है वैसी ही मेरी मुद्रा है, यही मेरा स्वभाव है। परन्तु मैं स्वभाव को भूलकर विभावरूप परिणमन करता हुआ संसार के दु:ख उठा रहा हूँ। आपकी पूजा के फलस्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि मैं स्वकीय शुद्धस्वभाव में स्थिर रहूँ। इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पद की मुझे चाह नहीं है, उन्हें तो मैं अनन्तबार प्राप्त कर चुका हूँ। उपर्युक्त शुभभावों से की हुई पूजा, परिणामों में अत्यन्त आह्लाद उत्पन्न करती है। पुण्यबन्ध तो उससे होता ही है, यदि कुछ समय के लिए स्वरूप समावेश हो गया तो निर्जरा का भी कारण हो जाती है। जो मनुष्य निश्छलभाव से जिस किसी भी विधि से भगवान् की पूजा करता है उसके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं और दिशाएँ उसकी इच्छाओं को पूर्ण करती हैं अर्थात् जहाँ जाता है वहीं उसकी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं[१] ॥११९॥

पूजामाहात्म्यं किं क्वापि केन प्रकटितमित्याशंक्याह–

अर्हच्चरणसपर्या,-महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेक: प्रमोदमत्त:, कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०॥

अन्वयार्थ–(प्रमोदमत्त:) हर्ष विभोर **(भेक:)** मेंढ़क ने **(राजगृहे)** राजगृह नगर में **(एकेन कुसुमेन)** एक फूल के द्वारा **(महात्मनाम्)** भव्यजीवों के समक्ष **(अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं)** अरिहन्त भगवान् के चरणों की पूजा के महान प्रभाव को **(अवदत्)** कहा/प्रकट किया।

अरहन्तों के चरण कमल की पूजा की महिमा न्यारी,
शब्दों में वह बँध नहिं सकती थकती रसनायें सारी।
इस महिमा को राजगृही में भविकजनों के सम्मुख रे,
प्रमुदित मेंढक दिखलाया है फूल-पाँखुड़ी ले मुख में ॥१२०॥

टीका–भेको मण्डूक:। प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्ट:। अवदत् कथितवान्। किमित्याह–अर्हदित्यादि। अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयो: सपर्या पूजा तस्या: महानुभावं विशिष्टं माहात्म्यं। केषामवदत् ? महात्मनां भव्यजीवानां। केन कृत्वा ? कुसुमेनैकेन। क्व ? राजगृहे।

अस्य कथा

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिक:, श्रेष्ठी नागदत्त:, श्रेष्ठिनी भवदत्ता। स नागदत्त: श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वान्मृत्वा निजप्राङ्गणवाप्यां भेको जात:। तत्र चागतामेकदा भवदत्ताश्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्या: समीपे आगत्य उपर्युत्प्लुत्य चटित:। तया च पुन: पुनर्निर्घाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च। ततस्तया कोऽप्ययं मदीयो इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनि: पृष्ट:। तेन च

१. यथाकथंचिद्भजतां जिनं निव्याजचेतसाम्।
नश्यन्ति सर्वदु:खानि दिश: कामान् दुहन्ति च॥ २/४१। सागारधर्मामृत

तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ धृतः। श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्द्धमानस्वामिनं वैभारपर्वते समागतमाकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन तं वन्दितुं गतः। श्रेष्ठिन्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं गते स भेकः प्राङ्गणवापीकमलं पूजानिमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिनः पादेन चूर्णयित्वा मृतः। पूजानुराग-वशेनोपार्जितपुण्यप्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जातः। अवधिज्ञानेन पूर्वभववृत्तान्तं ज्ञात्वा निजमुकुटाग्रे भेकचिह्नं कृत्वा समागत्य वर्द्धमानस्वामिनं वन्दमानः श्रेणिकेन दृष्टः। ततस्तेन गौतमस्वामी भेकचिह्नेऽस्य किं कारणमिति पृष्टः तेन च पूर्ववृत्तान्तः कथितः। तच्छ्रुत्वा सर्वे[1] जनाः पूजातिशयविधाने उद्यताः संजाता इति ॥१२०॥

आगे पूजा का माहात्म्य क्या कहीं किसी ने प्रकट किया है, ऐसी आशंका उठाकर कहते हैं–

टीकार्थ–विशिष्ट धर्मानुराग से हर्षित हुए मेंढक ने राजगृह नगर में भव्य जीवों को बतलाया था कि एक फूल से ही अर्हन्तदेव के चरणों की पूजा करने का क्या फल होता है ? इसकी कथा इस प्रकार है–

मेंढक की कथा

मगधदेश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक, नागदत्त सेठ और उसकी भवदत्ता नाम की सेठानी रहती थी। वह नागदत्त सेठ सदा माया से युक्त रहता था, इसलिये मरकर अपने आँगन की बावड़ी में मेंढक हुआ। एक दिन भवदत्ता सेठानी को आई देख उस मेंढक को जातिस्मरण हो गया जिससे वह समीप आकर उसके ऊपर उछलकर चढ़ गया। सेठानी ने उसे बार-बार अलग किया। अलग करने पर वह टर्र-टर्र शब्द करता और फिर आकर उसके ऊपर चढ़ जाता। तदनन्तर सेठानी ने यह विचार किया कि यह मेरा कोई इष्ट होगा। ऐसा विचारकर उसने अवधिज्ञानी सुव्रत मुनि से पूछा। मुनि के द्वारा उसका वृत्तान्त कहे जाने पर सेठानी ने उसे घर ले जाकर बड़े गौरव से रखा।

एक बार श्रेणिक महाराज, वर्धमानस्वामी को वैभार पर्वत पर आया सुनकर आनन्द भेरी बजवाकर बड़े वैभव से उनकी वन्दना के लिये गये। सेठानी आदि को लेकर घर के अन्य लोग भी जब वन्दना भक्ति के लिए चले गये तब वह मेंढक पूजा के निमित्त आंगन की बावड़ी का कमल लेकर चला। जाता हुआ वह मेंढक हाथी के पाँव से कुचलकर मर गया और पूजा सम्बन्धी अनुराग के वश से उपार्जित पुण्य के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में महान् ऋद्धियों को धारण करने वाला देव हुआ। अवधिज्ञान से पूर्वभव का वृत्तान्त जानकर अपने मुकुट के अग्रभाग में मेंढक का चिह्न कर वह आया और वर्धमान स्वामी की वन्दना करते समय राजा श्रेणिक ने गौतमस्वामी से पूछा कि इसके मेंढक का चिह्न रखने में क्या कारण है ? गौतम स्वामी ने उसका पूर्व वृत्तान्त कहा। उसे सुनकर सब लोग पूजा का अतिशय करने में उद्यत हो गये ॥१२०॥

---

१. भव्यजना इति ख.।

इदानीमुक्तप्रकारस्य वैयावृत्त्यस्यातीचारानाह–

हरितपिधाननिधाने, ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते, व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥१२१॥

अन्वयार्थ–देने योग्य वस्तु को **(हि)** निश्चय से **(हरितपिधाननिधाने)** हरे पत्तों आदि से ढँकना व हरे पत्तों आदि पर रखना **(अनादरास्मरणमत्सरत्वानि)** अनादर, अस्मरण और मत्सरत्व **(एते)** ये **(पञ्च)** पाँच **(वैयावृत्यस्य)** वैयावृत्य के **(व्यतिक्रमाः)** अतिचार **(कथ्यन्ते)** कहे जाते हैं।

अतिथिजनों को दाता देते भोजन जो यदि ढका हुआ,
कदली के पत्रों से अथवा कमल-पत्र पर रखा हुआ।
तथा भाव मात्सर्य अनादर विस्मृति होना दोष रहे,
वैयावृत्या व्रत के पाँचों कहते गुरु गतदोष रहे ॥१२१॥

टीका–पञ्चैते आर्यापूर्वार्द्धकथिता। वैयावृत्त्यस्य व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। तथाहि। हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधानं [1]झंपनमाहारस्य। तथा हरिते तस्मिन् निधानं स्थापनं। तस्य अनादरः प्रयच्छतोऽप्यादराभावः अस्मरणमाहारादिदानमेतस्यां वेलामेवंविधपात्राय दातव्यमिति आहार्यवस्तुष्विदं दत्तमदत्तमिति वा स्मृतेरभावः। मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणासहिष्णुत्वमिति[2] ॥१२१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोयापासकाध्ययन-टीकायां चतुर्थः परिच्छेदः।

अब उक्त प्रकार के वैयावृत्य सम्बन्धी अतिचारों को कहते हैं–

टीकार्थ–हरे कमलपत्र आदि से आहार को ढाँकना हरितपिधान नाम का अतिचार है। हरे कमलपत्र आदि पर आहार को रखना हरितनिधान नाम का अतिचार है। देते हुए भी आदर का अभाव होना अनादर कहलाता है। आहारादि दान इस समय ऐसे पात्र के लिए देना चाहिए अथवा देने योग्य वस्तुओं में यह वस्तु दी है अथवा नहीं दी है इस प्रकार की स्मृति का अभाव होना अस्मरण कहलाता है और अन्य दाता के दान तथा गुणों के विषय में असहनशीलता का होना मत्सरत्व कहलाता है। ये पाँच वैयावृत्य शिक्षाव्रत के अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ–यहाँ चार प्रकार के दानों में आहार दान को मुख्यता से अतिचारों का वर्णन किया जाता है। मुनि सचित्त वस्तु के त्यागी होते हैं अतः उन्हें अचित्त-प्रासुक वस्तु ही दी जाती है। परन्तु उस अचित्त वस्तु को सचित्त कमलपत्र आदि से ढँककर दिया अथवा सचित्त कमलपत्र आदि पर रखकर दिया इस तरह सचित्त सम्बन्ध की अपेक्षा हरितपिधान और हरितनिधान ये दो अतिचार बनते हैं। मुनि को आहार दिया तो सही, परन्तु बेगार समझकर अनादर भाव से दिया इस स्थिति में अनादर नाम का अतिचार बनता है। आहारादि की विधि को भूल जाने अथवा किसी वस्तु के देने या न देने

१. आच्छादनं इति ख.। २. अन्यदातृगुणोऽसहिष्णुत्वमिति घ.।

का स्मरण न रखने पर अस्मरण नाम का अतिचार होता है। और दूसरे दाता के गुणों में असहनशीलता के होने पर मत्सरत्व नाम का अतिचार होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार बताये हैं। उनमें सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान और मत्सरत्व ये तीन अतिचार तो समन्तभद्रस्वामी के द्वारा प्रतिपादित अतिचारों में भी परिगणित हैं। परन्तु परव्यपदेश और कालातिक्रम ये दो अतिचार भिन्न हैं। दूसरे दातार के द्वारा देने योग्य वस्तु को देना परव्यपदेश है। अथवा स्वयं आहार न देकर नौकर-चाकारों से दिलाना यह अनादर नामक अतिचार का ही रूपान्तर है। आहार के समय को उल्लंघ कर देर से आहार देना यह कालातिक्रम नाम का अतिचार है ॥१२१॥

इस प्रकार समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित उपासकाध्ययन की
प्रभाचन्द्र विरचित टीका में चतुर्थ परिच्छेद पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

सल्लेखना-प्रतिमाधिकारः पञ्चमः

अथ सागारेणाणुव्रतादिवत् सल्लेखनाप्यनुष्ठातव्या। सा च किं स्वरूपा कदा चानुष्ठातव्येत्याह–

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥

अन्वयार्थ–(आर्याः) सभी के आश्रयभूत गणधर स्वामी **(निःप्रतिकारे)** प्रतिकार रहित **(उपसर्गे)** उपसर्ग में **(दुर्भिक्षे)** दुष्काल में **(जरसि)** बुढ़ापा में **(च)** और **(रुजायाम्)** रोग होने पर **(धर्माय)** धर्म के लिए **(तनुविमोचनम्)** शरीर के छोड़ने को **(सल्लेखनाम्)** सल्लेखना **(आहुः)** कहते हैं।

जरा-दशा दुर्भिक्ष-काल या उपसर्गों का अवसर हो,
रोग भयंकर तथा हुआ हो दुर्निवार हो दुखकर हो।
धर्म-भावना रक्षण करने तन तजना तब कार्य रहा,
सल्लेखन वह है इस विध ये कहते गुरुवर आर्य महा ॥१२२॥

टीका–आर्या गणधरदेवादयः सल्लेखनामाहुः। किं तत् ? तनुविमोचनं शरीरत्यागः। कस्मिन् सति? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवाचेतनकृते। निःप्रतीकारे प्रतीकारागोचरे। एतच्च विशेषणं दुर्भिक्षजरारुजानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं। किमर्थं तद्विमोचनं ? धर्माय रत्नत्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्याद्यर्थम् ॥१२२॥

आगे गृहस्थ को अणुव्रतादि के समान सल्लेखना भी धारण करना चाहिए। अतः उस सल्लेखना का क्या स्वरूप है तथा किस समय धारण करने योग्य है, यह कहते हैं–

टीकार्थ–उपद्रव को उपसर्ग कहते हैं। यह तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और अचेतन कृत होने से चार प्रकार का होता है। जिसमें अन्न की कमी होने से भिक्षा का मिलना भी कठिन हो जाता है उसे दुर्भिक्ष कहते हैं। वृद्धावस्था के कारण जिसमें शरीर अत्यन्त जीर्ण हो जाता है उसे जरा कहते हैं और उपस्थित हुए रोग को रुजा कहते हैं। जब ये चारों वस्तुएँ इस रूप में उपस्थित हो कि उनका प्रतिकार ही न किया

जा सके तब रत्नत्रय धर्म की आराधना के लिये शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। स्व-पर के प्राणघात के लिये जो शरीर त्याग होता है वह सल्लेखना नहीं है।

विशेषार्थ—शरीर का त्याग च्युत, च्यावित और त्यक्त के भेद से तीन प्रकार का होता है। आयु समाप्त होने पर मृत्यु के द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्युत कहते हैं। आयु समाप्त होने का अवसर न आने पर भी विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहार तथा श्वास के निरोध से असमय में जो शरीर छुड़ाया जाता है उसे च्यावित कहते हैं और जिनका प्रतिकार न किया जा सके ऐसे उपसर्गादिक के उपस्थित होने पर रत्नत्रयरूप धर्म की रक्षा के लिये जो शरीर छोड़ा जाता है उसे त्यक्त कहते हैं। जिस प्रकार मकान में आग लगने पर पहले उसे बचाने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु जब बचाना अशक्य हो जाता है तब उसमें रखी हुई प्रमुख वस्तुओं को लेकर मनुष्य उस मकान से अलग हो जाता है, उसका त्याग कर देता है। इसी प्रकार उपसर्गादिक के आने पर मनुष्य पहले उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब यह अनुभव हो जावे कि ये दूर नहीं किये जा सकते हैं तब अपने रत्नत्रय रूप धर्म की रक्षा के अभिप्राय से शरीर त्याग किया जाता है। इसी को सल्लेखना आराधना या संन्यास मरण कहते हैं। इसके भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन के भेद से तीन भेद होते हैं। जिसमें नियम या यम रूप से आहार का त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं। समय की अवधि लेकर आहार का जो त्याग होता है उसे नियम रूप त्याग कहते हैं और जो जीवन पर्यन्त के लिये आहार का त्याग किया जाता है उसे यम रूप त्याग कहते हैं। यदि अच्छे होने की सम्भावना दिखाती है तो नियम रूप त्याग होता है और अच्छे होने की सम्भावना नहीं दिखती तो यम रूप त्याग होता है। इस भक्तप्रत्याख्यान नामक संन्यास में क्षपक, अपने शरीर की टहल स्वयं कर सकता है तथा दूसरे से भी करा सकता है। आहार के त्याग के साथ जिसमें शरीर की टहल स्वयं तो की जाती है परन्तु दूसरे से नहीं कराई जाती है उसे इंगिनीमरण कहते हैं। और जिसमें आहार त्याग के साथ शरीर की टहल न स्वयं की जाती है और न दूसरे से कराई जाती है उसे प्रायोपगमन कहते हैं। आचार्य ने सल्लेखना का मुख्य उद्देश्य 'धर्मार्थ' बतलाया है। अर्थात् रत्नत्रय रूप धर्म की रक्षा करना ही सल्लेखना का उद्देश्य है। अतः जब कषाय के वशीभूत होकर विष, शस्त्र, जलावगाहन, पर्वतपतन, श्वासरोध तथा अग्निदाह आदि के द्वारा शरीरघात किया जाता है वहाँ सल्लेखना नहीं होती। वह तो प्राणघात-हिंसा का ही एकरूप माना जाता है ॥१२२॥

सल्लेखनायां[१] भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्त्तव्यः, यतः-

[२]अन्तःक्रियाधिकरणं, तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥

---

१. सल्लेखनायां च भव्यः घ.। २. अन्तक्रियाधिकरणम्, इति पाठान्तरम्।

अन्वयार्थ–[यस्मात्] क्योंकि **(सकलदर्शिनः)** सर्वज्ञदेव **(अन्तःक्रियाधिकरणम्)** अन्त समय में समाधिमरण/सल्लेखना के आश्रय को **(तपःफलं)** तप का फल **(स्तुवते)** कहते हैं **(तस्मात्)** इसलिए **(यावद्विभवं)** जब तक शक्ति है तब तक **(समाधिमरणे)** समाधिमरण के विषय में **(प्रयतितव्यं)** प्रयत्न करना चाहिए।

अन्त समय संन्यास सहारा लेना होता हे प्राणी!,
सकल तपों का सुफल रहा वह विश्व-विज्ञ की यह वाणी।
इसीलिए अब यथाशक्ति बस पाने समाधि-मरण अरे!
सतत यतन करते रहना है तुम्हें मुक्ति तब वरण करे ॥१२३॥

टीका–सकलदर्शिनः स्तुवते प्रशंसन्ति। किं तत् ? तपःफलं तपसः फलं तपःफलं सफलं तप इत्यर्थः। कथंभूतं सत् ? अन्तःक्रियाधिकरणं अन्ते क्रिया संन्यासः तस्या अधिकरणं समाश्रयो यत्तपस्तत्फलं। यत एवं, तस्माद्यावद्विभवं यथाशक्ति। समाधिमरणे प्रयतितव्यं प्रकृष्टो यत्नः कर्त्तव्यः ॥१२३॥

आगे सल्लेखना के विषय में भव्य जीवों को नियम से प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि–

टीकार्थ– अन्त समय की क्रिया अर्थात् संन्यास को धारण करना ही तप का फल है, ऐसा सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं अथवा सर्वज्ञदेव उसी तप के फल की प्रशंसा करते हैं जो अन्त समय संन्यास का आश्रय लेता है। जब ऐसा है तब अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर समाधिमरण के विषय में प्रयत्न करना चाहिए।

विशेषार्थ– जिस प्रकार जीवनपर्यन्त शस्त्र का अभ्यास करने वाला व्यक्ति यदि युद्ध में चूक जाता है तो उसका शस्त्राभ्यास निष्फल कहा जाता है उसी प्रकार जो व्यक्ति जीवनभर तप धारण करता है परन्तु अन्त समय संन्यास धारण नहीं करता तो उसका तप निष्फल कहा जाता है क्योंकि अन्त में संन्यास धारण करना ही तप का फल है। इसलिये अपनी सामर्थ्य के अनुसार संन्यास धारण करने में पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए ॥१२३॥

तत्र यत्नं कुर्वाण एवं कृत्वेदं कुर्यादित्याह–

स्नेहं वैरं सङ्गं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥
आलोच्य सर्वमेनः, कृतकारित-मनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रत- मामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२५॥ युगलं॥

अन्वयार्थ–सल्लेखनाधारी **(स्नेहं)** प्रीति को **(वैरं)** बैर को **(सङ्गं)** पुत्र स्त्री आदि के सम्बन्धरूप

ममत्वभाव को **(च)** और **(परिग्रहं)** परिग्रह को **(अपहाय)** छोड़कर **(शुद्धमना:)** स्वच्छ हृदय वाला **(प्रियै: वचनै:)** मधुर वचनों से **(स्वजनं)** अपने परिवार कुटुम्बी जन तथा **(परिजनम् अपि)** परिकर के लोगों को भी **(क्षान्त्वा)** क्षमा कराकर **(क्षमयेत्)** स्वयं क्षमा करे **(कृतकारितम्)** कृत कारित **(च)** और **(अनुमतम्)** अनुमोदित **(सर्वम्)** समस्त **(एन:)** पापों को **(निर्व्याजम्)** छल-कपट रहित या आलोचना के दोषों से रहित **(आलोच्य)** आलोचना करके **(आमरण-स्थायि)** मरण-पर्यन्त रहने वाले **(नि:शेषम्)** समस्त/पाँचों **(महाव्रतम्)** महाव्रतों को **(आरोपयेत्)** धारण करे।

प्रेम भाव को वैर भाव को तथा अंग की ममता को,
सकल संग को तजकर, धरकर निर्मल मन में समता को।
विनय घुला हो प्रिय सम्वादों मिश्री मिश्रित वचनों से,
आप क्षमाकर क्षमा माँगकर पुरजन परिजन स्वजनों से ॥१२४॥

सर्व पाप का आलोचन कर कृत से कारित अनुमति से,
सभी तरह का कपट भाव तज सरल सहज निश्छल मति से।
पञ्च पाप का त्याग करे वह जब तक घट में प्राण रहे,
पञ्च महाव्रत ग्रहण करें पर आत्म-तत्त्व का भान रहे ॥१२५॥

टीका—स्वयं क्षान्त्वा। प्रियैर्वचनै: स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत्। किं कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा। कं ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं। वैरमनुपकारकं द्वेषानुबन्धं। सङ्गं पुत्रस्त्र्यादिकं। ममेदमहमस्येत्यादि-सम्बन्धं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरं। एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्त: सन् क्षमयेत्। तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि। किं तत् ? महाव्रतम्। कथंभूतं ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं नि:शेषं च पञ्चप्रकारमपि। किं कृत्वा ? आलोच्य किं तत् ? एनो दोषं। किं तत् ? सर्वं कृतकारितमनुमतं च। स्वयं हि कृतं हिंसादिदोषं, कारितं हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं। एतत्सर्वमेनो निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत्। दश हि आलोचना दोषा भवन्ति। तदुक्तं-

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥१॥[1] इति

आगे समाधिमरण के विषय में यत्न करने वाले पुरुष को ऐसा करके यह करना चाहिए, यह कहते हैं-

टीकार्थ—उपकारक वस्तु में जो प्रीति का संस्कार होता है उसे स्नेह कहते हैं। अनुपकारक वस्तु में जो द्वेष का संस्कार होता है उसे बैर कहते हैं। स्त्री, पुत्रादिक मेरे हैं और मैं इनका हूँ, इस प्रकार के 'ममेदं भाव को संग कहते हैं। बाह्य और अन्तरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का होता है। सल्लेखना

१. मूलाचार गाथा १०३०, भगवती आराधना, गाथा ५६२॥

धारण करने के लिए उद्यत पुरुष इन सबको छोड़कर निर्मल चित्त होता हुआ मधुर वचनों के द्वारा स्वजन तथा परिजन दोनों को क्षमा करे और दोनों से अपने आपको क्षमा करावे। जो पाप स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते हैं। जो दूसरे के द्वारा कराया जावे उसे कारित कहते हैं और किसी दूसरे के द्वारा जो किए हुए पापों को मन से अच्छा समझा जाता है उसे अनुमत कहते हैं। इन सभी पापों की निश्छल भाव से आलोचना कर मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले अहिंसादि महाव्रतों को धारण करे। जो आलोचना दश दोषों को बचाकर की जाती है, वह निश्छल आलोचना कहलाती है। आलोचना के दश दोष इस प्रकार हैं–

आकंपियेति–१. आकंपित, २. अनुमानित, ३. दृष्ट, ४. बादर, ५. सूक्ष्म, ६. छन्न, ७. शब्दाकुलित, ८. बहुजन, ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं। गुरु के सम्मुख दोष प्रकट करने के पूर्व ऐसा भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न देवें अथवा अपनी दयनीय मुद्रा बनाकर दोषों को कहना जिससे गुरु के हृदय में अपने प्रति दया का भाव उत्पन्न हो जावे और उससे वे कठोर दण्ड न देवें, इसे आकंपित दोष कहते हैं। दूसरे के द्वारा अनुमानित – संभावना में आये हुए दोष का निवेदन करना अथवा गुरु इस समय प्रसन्न मुद्रा में हैं या रोष मुद्रा में, इसका अनुमान लगाकर प्रसन्न मुद्रा के समय दोष कहना अनुमानित दोष है। जो दोष दूसरों के देखने में आ चुका है उसकी आलोचना करना तथा जो किसी ने नहीं देखा है उसे प्रकट नहीं करना दृष्ट दोष है। स्थूल दोषों की आलोचना करना तथा सूक्ष्म दोषों की आलोचना नहीं करना। साथ ही यह भावना रखना कि जब स्थूल दोष नहीं छिपाता तब सूक्ष्म दोष क्या छिपायेगा–बादर दोष है। सूक्ष्म दोषों की आलोचना करना तथा स्थूल दोषों की आलोचना नहीं करना। साथ ही यह भावना रखना कि जब सूक्ष्म दोष नहीं छिपाता तब स्थूलदोष क्या छिपावेगा सूक्ष्म दोष है। आचार्य के आगे अपराध को स्वयं प्रकट नहीं करना छन्न दोष है। संघ आदि के द्वारा किये हुए कोलाहल के समय दोष प्रकट करना शब्दाकुलित दोष है। जिस समय पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों के समय संघ केसमस्त साधु अपने–अपने दोष प्रकट कर रहे हो उसी कोलाहल में बहुत जनों के साथ अपने दोष प्रकट करना बहुजन दोष है। अथवा गुरु के द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त को अन्य बहुत जनों से पूछना कि यह उचित है या अनुचित, बहुजनदोष है। अव्यक्तरूप से अपराध कहना अर्थात् स्वयं मुझसे यह अपराध हुआ है, ऐसा न कहकर कहना कि भगवन्! यदि किसी से अमुक अपराध हो जावे तो उसका क्या प्रायश्चित्त होगा, इस तरह अव्यक्त रूप से अपराध प्रकट कर प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त दोष है। और जिस अपराध को प्रकट कर प्रायश्चित्त लिया है उस अपराध को पुनःपुनः करना अथवा जो अपराध हुआ है उसी अपराध को करने वाले आचार्य से प्रायश्चित्त लेना और साथ ही यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तब दूसरे को क्या दण्ड देवेगे, तत्सेवी दोष है।

विशेषार्थ– सल्लेखना को धारण करने वाले मनुष्य स्नेह, बैर, संग और परिग्रह का त्यागकर

स्वजन, परिजन–सबसे क्षमा माँगता है तथा सबको क्षमा करता है, क्योंकि कषाय को कृश करना ही सल्लेखना का लक्ष्य है। जिस प्रकार निरोग होने का इच्छुक मनुष्य अपने सब प्रकार के रोग वैद्य के सामने प्रकट कर उसकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार सल्लेखना धारण करने का इच्छुक मनुष्य अपने सब प्रकार के पापों की निश्छल भाव से आलोचना कर निःशल्य हो जाता है तथा जीवनपर्यन्त के लिए अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करता है। यह महाव्रत धारण करने की बात उत्कृष्टता की अपेक्षा है। यदि शक्ति की हीनता है तो ऐलक, क्षुल्लक आदि का व्रत भी लिया जा सकता है ॥१२४–१२५॥

एवंविधामालोचनां कृत्वा महाव्रतमारोप्यैतत् कुर्यादित्याह–

शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च, मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥१२६॥

अन्वयार्थ–(शोकं) शोक को **(भयं)** डर को **(अवसादम्)** विषाद को **(क्लेदं)** स्नेह को **(कालुष्यम्)** राग-द्वेष की परिणति को और **(अरतिम्)** अप्रीति को **(अपि)** भी **(हित्वा)** छोड़कर **(च)** और **(सत्त्वोत्साहम्)** बल और उत्साह को **(उदीर्य)** प्रकट करके **(श्रुतैः अमृतैः)** शास्त्ररूप अमृत के द्वारा **(मनः)** मन/चित्त को **(प्रसाद्यम्)** प्रसन्न करना चाहिए।

शोक छोड़ना भीति छोड़ना पूर्ण छोड़ना खेद तथा,
स्नेह छोड़ना द्वेष छोड़ना अरतिभाव मनभेद व्यथा।
अहो! धैर्य भी तथा जगाना उत्साहित निज को करना,
सत्य श्रुतामृत पिला पिलाकर तृप्त शान्त मन को करना ॥१२६॥

टीका–प्रसाद्यं प्रसन्नं कार्यं। किं तत् ? मनः। कैः ? श्रुतैरागमवाक्यैः। कथंभूतैः ? अमृतैः अमृतोपमैः संसारदुःखसन्तापापनोदकैरित्यर्थः। किंकृत्वा ? हित्वा। किं तदित्याह–शोकमित्यादि। शोकं–इष्टवियोगे तद्गुणशोचनं[1], भयं – क्षुत्पिपासादिपीडानिमित्तमिहलोकादिभयं वा, अवसादं विषादं खेदं वा, क्लेदं स्नेहं, कालुष्यं क्वचिद्विषये रागद्वेषपरिणतिं। न केवलं प्रागुक्तमेव अपितु अरतिमपि अप्रसत्तिमपि। न केवलमेतदेव कृत्वा किन्तु उदीर्य च प्रकाश्य च। कं ? सत्त्वोत्साहं सल्लेखनाकरणेऽकातरत्वम् ॥१२६॥

आगे इस प्रकार की आलोचना कर तथा महाव्रत धारण कर यह कार्य करना चाहिये, यह कहते हैं–

टीकार्थ– इष्ट का वियोग होने पर उसके गुणों का बार-बार चिन्तन करना शोक कहलाता है। क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा के निमित्त से जो डर होता है उसे भय कहते हैं अथवा इहलोकभय, परलोक

१. तद्गुणानुशोचनं घ.।

भय आदि के भेद से जो सात प्रकार का भय होता है वह भय कहलाता है। विषाद अथवा खेद को अवसाद कहते हैं। स्नेह को क्लेद कहते हैं। किसी विषय में राग-द्वेष की जो परिणति होती है उसे कालुष्य कहते हैं। अप्रसन्नता को अरति कहते हैं। सल्लेखना के करने में जो कातरता का अभाव है उसे सत्त्वोत्साह कहते हैं। सल्लेखना को धारण करने वाला पुरुष इन शोक आदि को छोड़कर शास्त्र रूपी अमृत के द्वारा मन को प्रसन्न रखे। यहाँ संसार सम्बन्धी दुःखों से उत्पन्न होने वाले संताप को दूर करने के कारण शास्त्र को अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सल्लेखना धारण करने वाला मनुष्य विकथाओं में समय न लगाकर स्वयं शास्त्र पढ़े अथवा दूसरे के मुख से पढ़वावे।

विशेषार्थ– सल्लेखना धारण करते समय इस प्रकार का शोक नहीं होना चाहिए कि मेरे माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक हमेशा के लिए छूट रहे हैं। इनका क्या होगा ? मेरे बिना इनका निर्वाह किस प्रकार होगा ? इसी प्रकार ऐसा भय भी नहीं होना चाहिए कि मैं भूख, प्यास आदि की बाधा सहन कर सकूँगा या नहीं ? किसी से रागद्वेष नहीं करना चाहिए तथा प्रसन्न चित्त होकर आत्मतेज को प्रकट करते हुए सल्लेखना धारण करना चाहिए। सल्लेखना का काल शास्त्रश्रवण में ही व्यतीत करना चाहिए ॥१२६॥

इदानीं सल्लेखनां कुर्वाणस्याहारत्यागे क्रमं दर्शयन्नाह–

आहारं परिहाप्य, क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥१२७॥

अन्वयार्थ–तथा **(क्रमशः)** क्र म से **(आहारम्)** कवलाहाररूप अन्न आदि भोजन को **(परिहाप्य)** छोड़कर **(स्निग्धं पानम्)** दूध आदि चिकने पेय को **(विवर्द्धयेत्)** बढ़ाना चाहिए **(च)** पश्चात् **(क्र मशः)** क्र म से **(स्निग्धं)** दूध आदि चिकने पेय को **(हापयित्वा)** छोड़कर **(खरपानम्)** खरपान/गर्म पानी/छाँछ/काँजी आदि को **(पूरयेत्)** बढ़ाना चाहिए।

दाल भात आदिक को क्रमशः कम-कम करते त्याग करें,
दुग्धादिक का पान करें अब नहीं अन्न का राग करें।
दुग्धादिक को भी क्रमशः फिर निज इच्छा से त्याग करें,
नीरस कांजी नीरादिक का केवल बस अनुपान करें ॥१२७॥

टीका–स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं। विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत्। किं कृत्वा ? परिहाप्य परित्याज्य। कं ? आहारं कवलाहाररूपं। कथं ? क्रमशः [१]प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कञ्जिकादि, शुद्धपानीयरूपं वा। किं कृत्वा ? हापयित्वा। किं ? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं। कथं ? क्रमशः। स्निग्धं हि परिहाप्य कञ्जिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्द्धयेत्। पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति ॥१२७॥

---

१. प्रकाशनादिक्रमेण घ.।

अब सल्लेखना करने वाले के लिए आहार त्याग का क्रम दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– सल्लेखना के समय आहारादि के छोड़ने का क्रम यह है कि पहले दाल, भात, रोटी आदि आहार को छोड़कर दूध आदि स्निग्धपेय पदार्थों को ग्रहण करे। पश्चात् उसे भी छोड़कर खरपान–स्निग्धता रहित पेय पदार्थों का सेवन करे अर्थात् जिसमें से घी निकाला जा चुका है ऐसी छाँछ को ग्रहण करे और फिर उसे भी छोड़कर मात्र गर्म पानी को ग्रहण करे।

विशेषार्थ– एक साथ सब प्रकार का आहार छोड़ देने से क्षपक को आकुलता हो सकती है, इसलिये सल्लेखना विधि को कराने वाला आचार्य क्षपक की शक्ति को देखते हुए क्रम-क्रम से आहारादिक का त्याग कराता है। अर्थात् अशन–दाल, भात, रोटी आदि स्थूल आहार का त्याग कराकर दूध आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन कराता है। संस्कृत टीका के प्रागशनादिक्रमेण के स्थान पर घ प्रति में प्रकाशनादिक्रमेण पाठ दिया है। उससे यह संकेत मालूम होता है कि निर्यापकाचार्य, क्षपक के सामने विभिन्न प्रकार के आहार को दिखाता है। यदि किसी आहार में उसकी लोलुपता मालूम होती है तो निर्यापकाचार्य उसे समझाते है कि हे भाई! तूने इस प्रकार के आहार को अनादिकाल से बहुत परिमाण में ग्रहण किया है। पर उससे तुझे तृप्ति नहीं हुई, अतः इसके राग को छोड़ना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार उद्देश्य के द्वारा निर्यापकाचार्य क्षपक के आहार विषयक राग को कम कराता हुआ पहले कवलाहार रूप आहार को छुड़वाकर दूध आदि का सेवन कराता है। फिर क्रम से उसे भी छुड़ाकर छाँछ का सेवन कराता है और पश्चात् उसे भी छुड़ाकर मात्र गर्म पानी का सेवन कराता है ॥१२७॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२८॥

अन्वयार्थ–पश्चात् **(खरपानहापनाम् अपि)** गर्म पानी आदि को भी त्याग **(कृत्वा)** करके **(शक्त्या)** शक्ति के अनुसार **(उपवासम् अपि)** उपवास को भी **(कृत्वा)** करके **(सर्वयत्नेन)** पूर्ण तत्परता से **(पञ्चनमस्कारमनाः सन्)** पञ्च नमस्कार मंत्र में मन लगाता हुआ **(तनुं)** शरीर को **(त्यजेत्)** छोड़े।

नीरस प्रासुक जलपानादिक भी क्रमशः फिर तज देना,
तन कृश हो उपवास करे पर प्रथम निजी बल लख लेना।
पूज्य पञ्च नवकार मन्त्र को निशिदिन मन से जपना है,
पूर्ण यत्न से जागृत बनकर तजना तन को अपना है ॥१२८॥

टीका–खरपानहापनामपि कृत्वा। कथं ? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण[1] स्तोकस्तोकतरादिरूपं। पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत्। कथं ? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयमचारित्रध्यानधारणादौ

१. स्वशक्त्यनतिक्रमेण घ.।

यत्नस्तात्पर्यं तेन। किंविशिष्टः सन् ? पञ्चनमस्कारमनाः पञ्चनमस्काराहितचित्तः ॥१२८॥

आगे तत्पश्चात् वह क्या करते हैं–

टीकार्थ– पश्चात् उस गर्म जल का भी त्यागकर अपनी शक्ति का उल्लंघन न करता हुआ एक-दो-तीन आदि दिनों का उपवास करे। और अन्त में व्रत-संयम-चारित्र तथा ध्यान विषयक धारणा आदि सभी कार्यों में तत्पर रहता हुआ पञ्चनमस्कार मन्त्र की आराधना में अपना मन लगावें। अन्त में बड़ी सावधानी से शरीर का त्याग करे।

विशेषार्थ–पूर्व श्लोक में जिस आहार त्याग आदि का क्रम बतलाया था उसका इस श्लोक में समारोप करते हुए कहा है कि अन्त में गर्म जल का भी त्याग करे और जैसी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार उपवास का नियम लेवे तथा व्रत संयम आदि की रक्षा करता हुआ पञ्चनमस्कारमन्त्र में अपना उपयोग स्थिर करे। अन्त में समताभाव से शरीर का परित्याग करे। शरीर त्याग के साथ ही सल्लेखना की विधि पूर्ण होती है ॥१२८॥

अधुना सल्लेखनाया अतिचारानाह–

जीवितमरणाशंसे[१] भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९॥

अन्वयार्थ–(जीवितमरणाशंसे) जीविताशंसा/जीने की इच्छा, मरणाशंसा/मरने की इच्छा **(भयमित्रस्मृति-निदाननामानः)** भय, मित्रस्मृति/मित्रों का स्मरण और निदान/आगामी भोगों की इच्छा नाम वाले **(पञ्च)** पाँच **(सल्लेखनातिचाराः)** सल्लेखना के अतिचार **(जिनेन्द्रैः)** जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा **(समादिष्टाः)** कहे गये हैं।

जीवन की वांछा करना मैं शीघ्र मरूँ मन में लाना,
तथा मित्र की स्मृति हो आना भय से मन भी घिर जाना।
भोग मिले यों निदान करना पाँच दोष ये कहलाते,
सल्लेखन के जिनवर कहते दोष टाल बुध सुख पाते ॥१२९॥

टीका–जीवितं च मरणं च तयोराशंसे आकांक्षे। भयमिहपरलोकभयं। इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासा-पीडादिविषयं परलोकभयं एवंविधदुर्धरानुष्ठाना द्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वेति। मित्रस्मृतिः बाल्याद्यवस्थायां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं। निदानं भाविभोगाद्याकांक्षणं। एतानि पञ्चनामानि येषां ते तन्नामानः सल्लेखनायाः पञ्चातिचाराः। जिनेन्द्रैस्तीर्थंकरैः। समादिष्टा आगमे प्रतिपादिताः ॥१२९॥

अब सल्लेखना के अतिचार कहते हैं–

१. मरणशंसाभयमित्रस्मृति घ.।

टीकार्थ—सल्लेखना धारण कर ऐसी इच्छा रखना कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता, यह जीविताशंसा नाम का अतिचार है। क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा होने पर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह मरणाशंसा नाम का अतिचार है। इहलोकभय और परलोकभय की अपेक्षा भय के दो भेद हैं। मैंने सल्लेखना धारण की तो है, परन्तु मुझे क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा अधिक समय तक सहन न करना पड़े, इस प्रकार का भय होना इहलोकभय कहलाता है। और इस प्रकार के दुर्द्धर-कठिन अनुष्ठान के करने से परलोक में विशिष्ट फल होगा या नहीं, ऐसा भय रखना परलोकभय है। बाल्य आदि अवस्थाओं में जिनके साथ क्रीड़ा की थी, ऐसे मित्रों का बार-बार स्मरण करना मित्रस्मृति नाम का अतिचार है। और आगामी भोग आदि की आकांक्षा रखना निदान नाम का अतिचार है। जिनेन्द्र भगवान् ने सल्लेखना के ये पाँच अतिचार परमागम में कहे हैं।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकार ने **जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि** इस सूत्र द्वारा जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पाँच अतिचार कहे हैं। इनमें सुखानुबन्ध को छोड़कर शेष चार अतिचार उभयत्र समान हैं। सिर्फतत्त्वार्थसूत्रकार के सुखानुबन्ध के स्थान पर समन्तभद्रस्वामी ने भय नाम का अतिचार स्वीकृत किया है। पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहलाता है। इसे समन्तभद्रस्वामी ने निदान में गर्भित कर भय नाम का अतिरिक्त अतिचार स्वीकृत किया है ऐसा जान पड़ता है ॥१२९॥

एवंविधैरतिचारै रहितां सल्लेखनां अनुतिष्ठन् कीदृशं फलं प्राप्नोत्याह–

निःश्रेयस-मभ्युदयं, निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा, सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(पीतधर्मा) धर्मरूपी अमृत का पान करने वाला क्षपक **(दुस्तरम्)** बहुत समय तक रहने वाले **(अभ्युदयम्)** अहमिन्द्र आदि की सुख परम्परा तथा **(सर्वैः दुःखैः)** समस्त दुःखों से **(अनालीढः)** रहित होता हुआ **(निस्तीरम्)** सीमा से रहित/अनन्त **(सुखाम्बुनिधिम्)** सुख के समुद्ररूप **(निःश्रेयसम्)** मोक्ष को **(निःपिबति)** अनुभव करता है।

सल्लेखन से कुछ धर्मात्मा भवसागर का तट पाते,
अन्तरहित शिव सुखसागर को तज नहिं भव पनघट आते।
किन्तु भव्य कुछ परम्परा से शिवसुख भाजन हो जाते,
तन के मन के दुख से रीता दीर्घकाल सुर सुख पाते ॥१३०॥

टीका—निष्पिबति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् सल्लेखनानुष्ठाता। किं तत् ? निःश्रेयसं निर्वाणं। किंविशिष्टं ? सुखाम्बुनिधिं सुखसमुद्रस्वरूपं। तर्हि सपर्यन्तं तद्भविष्यतीत्याह-निस्तीरं तीरात्पर्यन्तान्निष्क्रान्तं। कश्चित्पुनस्तदनुष्ठाता अभ्युदयमहमिन्द्रादिसुखपरम्परां निष्पिबति। कथंभूतं ?

दुस्तरं महता कालेन प्राप्य पर्यन्तं। किंविशिष्टः सन् ? सर्वैर्दुःखैरनालीढः सर्वैः शारीरमानसादिभिः दुःखैरनालीढोऽसंस्पृष्टः। कीदृशाः सन्नेतद्वयं निष्पिबति ? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो धर्म उत्तमक्षमादिरूपः चारित्रस्वरूपो वा येन ॥१३०॥

आगे इस प्रकार के अतिचारों से रहित सल्लेखना को धारण करने वाला मनुष्य कैसे फल को प्राप्त होता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ—सल्लेखना का फल मोक्ष तथा स्वर्गादिक का सुख प्राप्त करना है। मोक्ष को निःश्रेयस कहते हैं और अहमिन्द्र आदि के पद को अभ्युदय कहते हैं। ये दोनों ही पद, सुख के समुद्र स्वरूप हैं। अर्थात् निःश्रेयस आत्मोत्थ अनन्त सुख का समुद्र है और अहमिन्द्र आदि का पद रोग, शोक आदि से रहित होने के कारण सांसारिक सुख का उत्कृष्ट स्थान है। निःश्रेयस–मोक्ष, निस्तीर है अर्थात् अन्त से रहित है और अभ्युदय–अहमिन्द्र आदि का पद दुस्तर है अर्थात् सागरों पर्यन्त विशालकाल से उसका अन्त प्राप्त होता है। इन दोनों फलों को प्राप्त होने वाला क्षपक पीतधर्मा होता है। अर्थात् उत्तम क्षमादिरूप अथवा चारित्ररूप धर्म का पान करने वाला होता है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखों से असंस्पृष्ट–अछूता रहता है।

विशेषार्थ—सल्लेखना को धारण करने वाला मनुष्य यदि रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तो उसी भव से मोक्ष को प्राप्त होता है और यदि रत्नत्रय की पूर्णता में कमी रहती है तो स्वर्ग को प्राप्त होता है। परन्तु इतना निश्चित है कि विधिपूर्वक सल्लेखना करने वाला मनुष्य[1] सात–आठ भव में नियम से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥१३०॥

किं पुनर्निःश्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह–

जन्मजरामयमरणैः, शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं, निःश्रेयस–मिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

अन्वयार्थ—(जन्मजरामयमरणैः) जन्म, बुढ़ापा, रोग, मरण से, **(शोकैः)** शोकों से, **(दुःखैः)** दुःखों **(च)** और **(भयैः)** भयों से **(परिमुक्तम्)** रहित **(शुद्ध–सुखम्)** शुद्ध सुख वाले **(नित्यम्)** नित्य–अविनाशी **(निर्वाणं)** निर्वाण को **(निःश्रेयसम्)** मोक्ष **(इष्यते)** माना जाता है।

---

१. कालाई लहिऊणं छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं।
केवलणाणपहाणा भविया सिज्झंति तम्हि भवे ॥१०७॥
आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाइ जं सारं।
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो हुंति ॥१०८॥
जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठभवे गंतुं ते वि य पावंति णिव्वाणं ॥१०९॥ आराधनासारे देवसेनस्य।

जनन नहीं है मरण नहीं है जरा नहीं है शोक नहीं,
दु:ख नहीं है भीति नहीं है किसी तरह के रोग नहीं।
वही रहा निर्वाणधाम है नित्य रहा अभिराम रहा,
नि:श्रेयस है विशुद्धतम सुख ललाम आतम-राम रहा ॥१३१॥

टीका—नि:श्रेयसमिष्यते। किं ? निर्वाणं। कथंभूतं शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्वरहितं सुखं यत्र। तथा नित्यं अविनश्वरस्वरूपं। तथा परिमुक्तं रहितं। कैः ? जन्मजरामयमरणैः, जन्म च पर्यायान्तरप्रादुर्भावः, जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः, मरणं च शरीरादिप्रच्युतिः। तथा शोकैर्दु:खैर्भयैश्च परिमुक्तम् ॥१३१॥

अब नि:श्रेयस शब्द से क्या कहा जाता है, यह बताते हैं–

टीकार्थ— जो निर्वाण अर्थात् मोक्ष है वही नि:श्रेयस है। वह जन्म, जरा, रोग और मरण से, शोक, दु:ख और भयों से सर्वथा रहित है, शुद्ध आत्मोत्थ सुख से सहित है तथा अविनाशी है। पर्यायान्तर की उत्पत्ति को जन्म कहते हैं, बुढ़ापा को जरा कहते हैं, रोग आमय कहलाते हैं तथा शरीरादिक का छूट जाना मरण कहलाता है। शोक, दु:ख और भय का अर्थ स्पष्ट है।

विशेषार्थ— नितरां श्रेयो नि:श्रेयसं इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अत्यन्त कल्याण रूप है उसे नि:श्रेयस कहते हैं। अत्यन्त कल्याण रूप मोक्ष ही है क्योंकि वही जन्म, जरा, रोग, मरण आदि से रहित है, नित्य है और शुद्ध सुखस्वरूप है। देव तथा चक्रवर्ती आदि के सुख जन्म, जरा, रोग, मरण आदि विपत्तियों से परिपूर्ण हैं आकुलता से सहित होने के कारण दु:खरूप हैं और उतने पर भी चिरस्थायी नहीं है, विनश्वर हैं, परन्तु मोक्ष इससे विपरीत है। यहाँ मोक्ष शब्द का निर्वाण शब्द के द्वारा उल्लेख किया गया है जिसका अर्थ होता है **नि:शेषेण वानं गमनं निर्वाणं** अर्थात् सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति को निर्वाण कहते हैं। सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति का अर्थ यह है कि जिससे पुनः लौट कर नहीं आना पड़े ॥१३१॥

इत्थंभूते च नि:श्रेयसे कीदृशाः पुरुषाः तिष्ठन्तीत्याह –

विद्यादर्शनशक्ति स्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो, नि:श्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥१३२॥

अन्वयार्थ—(विद्या-दर्शनशक्तिस्वास्थ्य-प्रह्लाद-तृप्तिशुद्धियुजः) केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, परम उदासीनतारूप स्व में स्थिरता, अनन्तसुख, इन्द्रिय विषयों की इच्छा से रहित संतुष्टि और द्रव्य-भावरूप कर्ममल से रहितपने को प्राप्त शुद्धि/पवित्रता वाले **(निरतिशयाः)** हीनाधिकता से रहित और **(निरवधयः)** अवधि से रहित **(सुखं)** सुख स्वरूप **(नि:श्रेयसं)** नि:श्रेयस/ मोक्ष में जीव **(आवसन्ति)** निवास करते हैं।

अनन्त विद्या अनन्त दर्शन अनन्त केवल शक्ति रही,
परम स्वास्थ्य आनन्द परम औ परम शुद्धि परितृप्ति सही।
जो कुछ उघड़े घटे-बढ़े नहिं अमित काल तक अमिट रहे,
निःश्रेयस निर्वाण वही है सुख से पूरित विदित रहे ॥१३२॥

टीका—निःश्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसे तिष्ठन्ति। के ते इत्याह—विद्येत्यादि। विद्याकेवलज्ञानं, दर्शनं केवलदर्शनं, शक्तिरनन्तवीर्यं, स्वास्थ्यं परमोदासीनता, प्रह्लादोऽनन्तसौख्यं, तृप्तिर्विषयानाकांक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूपकर्ममलरहितता, एता युञ्जन्ति आत्म सम्बद्धाः, कुर्वन्ति ये ते तथोक्ताः। तथा निरतिशया अतिशयाद्विद्यादिगुणहीनाधिकभावान्निष्क्रान्ताः। तथा निरवधयो नियतकालावधिरहिताः। इत्थंभूता ये ते निःश्रेयसमावसन्ति। सुखं सुखरूपं निःश्रेयसं। अथवा सुखं यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति ॥१३२॥

अब ऐसे निःश्रेयस–मोक्ष में कैसे पुरुष रहते हैं, यह कहते हैं–

टीकार्थ— निःश्रेयस में वे ही जीव निवास करते हैं जो विद्या अर्थात् केवलज्ञान, दर्शन अर्थात् केवलदर्शन, शक्ति अर्थात् अनन्तवीर्य, स्वास्थ्य अर्थात् परम उदासीनपना, प्रह्लाद अर्थात् अनन्तसुख, तृप्ति अर्थात् विषयसम्बन्धी आकांक्षा का अभाव और शुद्धि अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप मल से रहितपना इन सबसे युक्त हैं। अतिशय अर्थात् विद्यादि गुण सम्बन्धी हीनाधिकता से रहित हैं और निरवधि अर्थात् काल की अवधि से रहित हैं। वह निःश्रेयस सुखस्वरूप है अथवा सुखं यथा भवति तथा इस प्रकार क्रियाविशेषण पक्ष में यह होता है कि पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट जीव निःश्रेयस में सुख से निवास करते हैं।

विशेषार्थ— निःश्रेयस–मोक्ष में रहने वाले जीव ज्ञानावरणादि कर्मों के नष्ट हो जाने से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख आदि गुणों के सहित होते हैं। आत्मगुणों की अपेक्षा उनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती तथा उनमें काल की कोई अवधि नहीं होती। अनन्तकाल तक वहाँ वे निवास करते हैं। निःश्रेयस यहाँ पर [१]आङ् उपसर्ग पूर्वक वस धातु का प्रयोग होने से आधार अर्थ में कर्म कारक हुआ है अर्थात् सप्तमी विभक्ति के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है ॥१३२॥

अनन्ते काले गच्छति कदाचित् सिद्धानां विद्याद्यन्यथाभावो भविष्यत्यतः कथं निरतिशया निरवधयश्चेत्याशंकायामाह –

काले कल्पशतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्, त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥१३३॥

---

१. 'उपान्वध्याङ्वसः' पाणिनीयसूत्र उप, अनु, अधि और आङ् उपसर्गपूर्वक वस धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है।

अन्वयार्थ—(कल्पशते काले) सैकड़ों कल्पकालों के **(गते)** बीतने पर **(अपि)** भी **(यदि)** अगर **(त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटु:)** तीनों लोकों में खलबली पैदा करने में समर्थ **(उत्पात:)** उपद्रव **(अपि)** भी **(स्यात्)** हो **(तथापि)** तो भी **(शिवानाम्)** सिद्धों में **(विक्रिया)** विकार **(न लक्ष्या)** दृष्टिगोचर नहीं होता।

एक-एक कर कल्प-काल भी बीत जाय शत-शत भाई,
या विचलित त्रिभुवन हो ऐसा वज्रपात हो दुखदाई।
सिद्ध शुद्ध जीवों में फिर भी विकार का वह नाम नहीं,
उनका सुखकर नाम इसी से लेता मैं अविराम सही ॥१३३॥

टीका—न लक्ष्या न प्रमाणपरिच्छेद्या। कासौ ? विक्रिया विकार: स्वरूपान्यथाभाव:। केषां ? शिवानां सिद्धानां। कदा ? कल्पशतेऽपि गते काले। तर्हि उत्पातवशात्तेषां विक्रिया स्यादित्याह- उत्पातोऽपि यदि स्यात् तथापि न तेषां विक्रिया लक्ष्या। कथंभूत: उत्पात: ? त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटु: त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिरावर्त्तस्तत्करणे पटु: समर्थ: ॥१३३॥

आगे अनन्तकाल बीत जाने पर किसी समय सिद्धों को विद्या आदि में अन्यथा भाव हो जावेगा, अत: वे निरतिशय और निरवधि किस प्रकार हुए, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं–

टीकार्थ— बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। ऐसे सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर भी सिद्धों में कोई विकार लक्ष्य में नहीं आता। इसी प्रकार तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने में समर्थ उत्पात भी यदि हो तो भी सिद्धों में कोई विकार अनुभव में नहीं आता। इस प्रकार वे निरतिशय और निरवधि ही रहते हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि सिद्ध भगवान् में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं और उनके कारण वे सर्वथा कूटस्थ नहीं है– उनमें भी अर्थपर्याय रूप परिणमन प्रत्येक समय होता रहता है। परन्तु यहाँ उस सूक्ष्म परिणमन की विवक्षा नहीं है। यहाँ स्थूल परिणमन की अपेक्षा चर्चा करते हुए कहा गया है कि उनमें ऐसा कोई परिणमन नहीं होता जिससे कि उनके केवलज्ञानादि गुणों में न्यूनाधिकता आवे अथवा उनकी वह सिद्धपर्याय नष्ट होकर फिर से नर–नारकादि पर्याय होने लगे ॥१३३॥

ते तत्राविकृतात्मान: सदा स्थिता किं कुर्वन्तीत्याह–

नि:श्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्य- शिखा - मणिश्रियं दधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छवि–चामीकर–भासुरात्मान: ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(निष्किट्टिकालिकाच्छवि–चामीकरभासुरात्मान:) कीट और कालिमा से रहित कान्ति वाले सुवर्ण के समान प्रकाशमानस्वरूप वाले **(नि:श्रेयसम्)** मोक्ष को **(अधिपन्ना:)** प्राप्त हुए सिद्ध परमेष्ठी **(त्रैलोक्य–शिखामणिश्रियम्)** तीन लोक के अग्रभाग पर चूड़ामणि की शोभा को

(दधते) धारण करते हैं।

निःश्रेयस निर्वाणधाम में सुचिर काल ये बसते हैं,
तीन लोक की शिखामणी की मंजुल छवि ले लसते हैं।
कीट कालिमा रहित कनक की शोभा पाकर भासुर हैं,
सिद्ध हुए हैं शुद्ध हुए हैं जिन्हें पूजते आसुर हैं ॥१३४॥

टीका—निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते। धरन्ति। कां ? त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्रीः चूडामणिश्रीः तां। किं विशिष्टाः सन्त इत्याह-निष्किट्टेत्यादि। किट्टं च कालिका च ताभ्यां निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तच्चामीकरं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मा स्वरूपं येषाम् ॥१३४॥

आगे विकार से रहित वे सिद्ध भगवान् मोक्ष में सदा रहते हुए क्या करते हैं, यह कहते हैं–

टीकार्थ— जिस प्रकार कीट और कालिमा से रहित कान्ति वाला सुवर्ण अतिशय दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्म तथा भावकर्म से रहित होने के कारण जिनका स्वरूप अतिशय प्रकाशमान रहता है ऐसे सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग में चूड़ामणि की शोभा को धारण करते हैं।

विशेषार्थ— चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में बहत्तर और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियों का क्षयकर यह जीव एक समय में लोक के अग्रभाग में पहुँच जाता है। तीन लोक के ऊ पर जो अन्तिम वातवलय है उसके ऊपर की ओर का पाँच सौ पच्चीस धनुष की अवगाहना का क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है। इसी सिद्धक्षेत्र में सिद्धों का निवास होता है। इस स्थान में वे कभी भी विचलित नहीं होते और न उनके केवलज्ञानादि गुणों में कभी न्यूनाधिकता आती है वहाँ तो वे अतिशय दैदीप्यमान चूड़ामणि के समान जान पड़ते हैं ॥१३४॥

एवं सल्लेखनामनुष्ठितां निःश्रेयसलक्षणं फलं प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नाह –

पूजार्थाज्ञैश्वर्यै, – र्बल – परिजनकामभोगभूयिष्ठैः।
अतिशयितभुवनमद्भुत-मभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(सद्धर्मः) सल्लेखना के द्वारा समुपार्जित समीचीन धर्म **(पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः बल-परिजनकामभोगभूयिष्ठैः)** पूजा/प्रतिष्ठा, धन, आज्ञारूप ऐश्वर्य तथा बल/शारीरिक-शक्ति, परिवार, काम और भोगों की अधिकता/परिपूर्णता से **(अतिशयित-भुवनं)** गुण, पद, परिमाण आदि में श्रेष्ठता को प्राप्त लोक को और **(अद्भुतं)** आश्चर्यकारी **(अभ्युदयं)** स्वर्गादिरूप अभ्युदय/सांसारिक सुख को **(फलति)** फलता/देता है।

आज्ञापालक सेवक मिलते मिलती पूजा पद-पद है,
सभी तरह की विलासताएँ मिलती महती सम्पद है।

परिजन मिलते योग्य भोग्य बल काम धाम आराम मिले,
जग-विस्मित हो अद्‌भुत सुख दे सत्य धर्म से शाम टले ॥१३५॥

टीका—अभ्युदयं इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षणं। फलति। अभ्युदयफलं ददाति। कोऽसौ ? सद्धर्मः सल्लेखनानुष्ठानोपार्जितं विशिष्टं पुण्यं। कथंभूतमभ्युदयं ? अद्भुतं साश्चर्यं। कथंभूतं तदद्भुतं ? अतिशयितभुवनं यतः। कैः कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञानां प्रत्येकं सम्बध्यते। किं विशिष्टैरेतैरित्याह-बलेत्यादि। बलं सामर्थ्यं परिजनः परिवारः कामभोगौ प्रसिद्धौ। एतद्भूयिष्ठा अतिशयेन बहवो येषु। एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशायितभुवनमित्यर्थः ॥१३५॥

इस प्रकार सल्लेखना धारण करने वालों के निःश्रेयसरूप फल का प्रतिपादन कर अब अभ्युदय रूप फल का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ— सल्लेखना के धारण करने से उपार्जित विशिष्ट पुण्य रूप समीचीन धर्म, उस अभ्युदय को फलता है जो बल, परिजन, काम तथा भोगों से परिपूर्ण पूजा, अर्थ तथा आज्ञारूप ऐश्वर्य के द्वारा समस्त भुवन को अतिक्रान्त करता है और जो स्वयं भी अद्भुत-आश्चर्य को उत्पन्न करने वाला है।

विशेषार्थ—इन्द्रादिक की विभूति को अभ्युदय कहते हैं। यह अभ्युदय अपने पूजा आदि के ऐश्वर्य से समस्त जगत् को अभिभूत करता है तथा स्वयं भी आश्चर्यकारी होता है। सल्लेखना का प्रमुख फल मोक्ष प्राप्त करना है और उसकी प्राप्ति के योग्य अवसर न मिलने पर इन्द्रादिक के वैभव को प्राप्त करना गौण फल है ॥१३५॥

साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकास्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह–

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥

अन्वयार्थ—**(देवैः)** तीर्थंकर देवों के द्वारा **(एकादश)** ग्यारह **(श्रावक-पदानि)** श्रावक के पद/प्रतिमाएँ **(देशितानि)** कही गई हैं **(येषु)** जिनमें **(खलु)** निश्चय से **(स्वगुणाः)** अपनी प्रतिमासम्बन्धी गुण **(पूर्वगुणैः सह)** पूर्व प्रतिमासम्बन्धी गुण के साथ **(क्रमविवृद्धाः)** क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए **(संतिष्ठन्ते)** स्थित होते हैं।

प्रतिमाएँ वे कहलाते हैं ग्यारह श्रावक पद भाते,
उत्तर पद गुण पूर्व पदों के गुणों सहित ही बढ़ पाते।
उचित रहा यह करोड़पति ज्यों लखपति पण से युक्त रहे,
ऐसा जिनवर का कहना है जनन मरण से मुक्त रहे ॥१३६॥

टीका—देशितानि प्रतिपादितानि। कानि ? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा

इत्यर्थः। कति ? एकादश। कैः ? देवैस्तीर्थकरैः। येषु श्रावकपदेषु। खलु स्फुटं सन्तिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति। के ते ? स्वगुणाः स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धाः गुणाः। कैः सह ? पूर्वगुणैः पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणैः सह। कथंभूताः? क्रमविवृद्धाः सम्यग्दर्शनमादिं कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्ध्या क्रमेण विशेषेण वर्द्धमानाः ॥१३६॥

अब सल्लेखना को करने वाला जो यह श्रावक है उसके कितनी प्रतिमाएँ होती हैं, यह आशंका उठाकर कहते हैं–

टीकार्थ– [1]पद का अर्थ स्थान होता है। इसी स्थान के अर्थ में प्रतिमा शब्द का भी प्रयोग होता है। श्रावक के जो पद स्थान हैं, वे श्रावक प्रतिमाएँ कहलाती हैं। तीर्थंकर भगवान् ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कही हैं। उन प्रतिमाओं में अपनी-अपनी प्रतिमाओं से सम्बन्ध रखने वाले गुण पिछली प्रतिमाओं सम्बन्धी गुणों के साथ क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए विद्यमान रहते हैं। अर्थात् अगली प्रतिमाओं में स्थित पुरुषों को पूर्व प्रतिमा सम्बन्धी गुणों का आचरण करना आवश्यक होता है।

विशेषार्थ– एकदेश चारित्र को धारण करने वाला मनुष्य श्रावक होता है। यह एकदेश चारित्र अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय से होता है। इस अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का जैसे-जैसे मन्द उदय होता जाता है। वैसे-वैसे ही श्रावक की प्रतिमाओं में वृद्धि होती जाती है। श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक की अपेक्षा तीन भेद ग्रन्थान्तरों में बतलाये गये हैं। जो सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूलगुणों का अभ्यास रूप से पालन करता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। जो ग्यारह प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और जो अन्त समय में सल्लेखना धारण कर रहा है वह साधक श्रावक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावक के ग्यारह भेद निम्न प्रकार हैं– १. दर्शनिक, २. व्रती, ३. सामायिकी, ४. प्रोषधी, ५. सचित्तत्यागी, ६. रात्रिभुक्तिविरत, ७. ब्रह्मचारी, ८. आरम्भविरत, ९. परिग्रहविरत, १०. अनुमतिविरत और ११.उद्दिष्टविरत[2] ॥१३६॥

एतदेव दर्शयन्नाह –

सम्यग्दर्शन-शुद्धः, संसार-शरीर-भोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१३७॥

अन्वयार्थ–(सम्यग्दर्शनशुद्धः) दोषरहित सम्यग्दर्शन का धारक **(संसारशरीर-भोग-निर्विण्णः)** संसार, शरीर और भोगों से विरक्त **(पञ्चगुरु-चरण-शरणः)** पञ्चपरमेष्ठियों के चरणों

१. 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्याङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः।

२. दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२१॥ चारित्रपाहुड।

की शरण को प्राप्त **(तत्त्वपथगृह्यः)** यथार्थ जैनमार्ग को ग्रहण करने वाला, अष्टमूलगुणों का धारक **(दर्शनिकः)** दर्शनिक श्रावक है।

विषय भोग संसार देह से अनासक्त हो जीता है,
समीचीन दर्शन का नियमित मधुर सुधारस पीता है।
पाँचों परमेष्ठी गुरुजन के चरणों में जा शरण लिया,
दर्शन-प्रतिमा का धारक वह तत्त्वपंथ को ग्रहण किया ॥१३७॥

टीका—दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति। किं विशिष्टः ? सम्यग्दर्शनशुद्धः सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य असंयतसम्यग्दृष्टेः। कोऽस्य विशेष इत्यत्राह-संसारशरीरभोगनिर्विण्ण इत्यनेनास्य लेशतो व्रतांशसंभवात्ततो विशेषः प्रतिपादितः। एतदेवाह-तत्त्वपथगृह्यः तत्त्वानां व्रतानां पंथानो मार्गा[1] मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्यः पक्षा यस्य। पञ्चगुरुचरणशरणः पञ्चगुरवः पञ्चपरमेष्ठिनस्तेषां चरणाः शरणमपायपरिरक्षणोपायो यस्य ॥१३७॥

आगे यही दिखाते हुए कहते हैं-

टीकार्थ— सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य सः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका सम्यग्दर्शन शंका, कांक्षा आदि अतिचारों से रहित होने के कारण शुद्ध है, जो संसार, शरीर और भोगों से उदासीन है। **तत्त्वानां व्रतानां पन्थानो मार्गा मद्यादि-निवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा यस्य** इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्रतों के मार्ग स्वरूप आठ मूलगुणों को जिसने ग्रहण करने योग्य समझकर धारण किया है तथा पञ्चपरमेष्ठियों के चरण जिसके शरण हैं—दुःखों से रक्षा करने के उपायभूत हैं वह दर्शनिकश्रावक कहलाता है।

विशेषार्थ—जो निरतिचार सम्यग्दर्शन को पालता है परन्तु व्रतों से सर्वथा रहित है वह अविरतसम्यग्दृष्टि कहलाता है। यही जीव जब अष्ट मूलगुणों को अतिचार सहित धारण करता है तथा सात व्यसनों का सातिचार त्याग करता है तब पाक्षिक श्रावक कहलाता है। असंयतसम्यग्दृष्टि तथा पाक्षिक श्रावक ये दोनों ही चतुर्थगुणस्थानवर्ती हैं। इसके आगे जब यह सम्यग्दृष्टि, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर व्रत धारण करने के क्षेत्र में अग्रसर होता है तथा मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ अहिंसाणुव्रत आदि पाँच अणुव्रतों का धारक होता है और पञ्च परमेष्ठियों की अखण्ड श्रद्धा रखता है तब यह दर्शनिक श्रावक कहलाता है। यहाँ से पञ्चम गुणस्थान का प्रारम्भ होता है। यह नैष्ठिक श्रावक का पहला भेद है ॥१३७॥

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाह-

---

१. पन्था मार्गो घ.।

निरतिक्रमण-मणुव्रत,-पञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(यः) जो **(निःशल्यः)** शल्य रहित होता हुआ **(निरतिक्रमणं)** अतिचार रहित **(अणुव्रतपञ्चकम्)** पाँचों अणुव्रतों को **(च)** और **(शीलसप्तकम्)** तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप सात शीलव्रतों को **(धारयते)** धारण करता है **(असौ)** वह **(व्रतिनां)** गणधरदेवादिक महाव्रतियों के मत में **(व्रतिकः)** व्रती श्रावक **(मतः)** माना जाता है।

पाँचों अणुव्रत धारण करता अतीचार से रहित हुआ,
तीनों गुणव्रत चउ शिक्षाव्रत इन शीलों से सहित हुआ।
वही रहा व्रत प्रतिमाधारक किन्तु शल्य से रीता हो,
महाव्रती गणधर आदिक यों कहते हैं भवभीता हो ॥१३८॥

टीका—[१]व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः। केषां ? व्रतिनां गणधरदेवादीनां। कोऽसौ ? [२]निःशल्यो, माया-मिथ्या-निदानशल्येभ्यो निष्क्रान्तो निःशल्यः सन् योऽसौ धारयते। किं तत् ? निरतिक्रमणमणुव्रत-पञ्चकमपि पञ्चाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः। न केवलमेतदेव धारयते अपि तु शीलसप्तकं चापि त्रिःप्रकारगुणव्रतचतुःप्रकारशिक्षाव्रतलक्षणं शीलम् ॥१३८॥

आगे वह श्रावक परिपूर्ण देशव्रत रूप गुण से सम्पन्न होता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ-व्रतानि यस्य सन्तीति व्रती इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके व्रत होते हैं, उसे व्रती कहते हैं। व्रती शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय करने पर व्रतिक शब्द निष्पन्न होता है। मिथ्यात्व, माया और निदान ये तीन शल्य कहलाती हैं। इनके रहते हुए कोई व्रती नहीं हो सकता[३]। इसलिए इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ जो अतिचार रहित पाँच अणुव्रतों को धारण करता है तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के भेद से सात शीलों को भी जो धारण करता है वह व्रतिक श्रावक कहलाता है।

विशेषार्थ—पहली प्रतिमा में तीन शल्यों का अभाव नहीं हुआ था तथा अणुव्रतों में कदाचित् अतिचार लगते थे, परन्तु दूसरी प्रतिमा में आते ही इसकी तीनों शल्यें छूट जाती हैं और पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन होने लगता है। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का भी यह पालन करता है परन्तु इनके पालन में कदाचित् अतिचार लगते हैं। इस प्रतिमाधारी का नाम व्रतिक अथवा व्रती श्रावक है ॥१३८॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्वं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह–

चतुरावर्त्तत्रितयश्,-चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१३९॥

---

१. व्रतान्यस्यास्तीति व्रती मनः घ.। २. निःशल्यः तन् घ.। ३. 'निःशल्यो व्रती' तत्त्वार्थसूत्र।

अन्वयार्थ—जो **(चतुरावर्त्तत्रितयः)** चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त[1] करता है **(चतुः प्रणामः)** चार प्रणाम करता है **(स्थितः)** कायोत्सर्ग से खड़ा होता है **(यथाजातः)** बाहरी, भीतरी चिन्ताओं से दूर, यथायोग्य वस्त्रादि का त्यागी होता है **(द्विनिषद्यः)** सामायिक के आदि और अन्त में दो बार बैठकर नमस्कार करता है **(त्रियोगशुद्धः)** मन, वचन और काय इन तीनों योगों से शुद्ध और **(त्रिसन्ध्यं)** तीनों संध्याओं में **(अभिवन्दी)** वन्दना करता है **[सः]** वह **(सामयिकः)** सामायिक प्रतिमाधारी है।

तीन - तीन कर चार - चार जो आवर्तों को करते हैं,
दिग्अम्बर हो स्थित हो प्रणाम, चार बार औ करते हैं।
तीनों सन्ध्याओं में वन्दन बैठ नमन दो बार करें,
श्रावक वे सामयिक नाम पद पा ले भव को पार करें ॥१३९॥

टीका—सामयिकः समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणोपेतः। किं विशिष्टः ? चतुरावर्तत्रितयः चतुरो वारानावर्तत्रितयं यस्य। एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहंताणस्स थोसामे'श्चाद्यन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति एकैकस्य हि। कायोत्सर्गविधाने चत्वार आवर्ता तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणाम-करणाच्चतुःप्रणामः। स्थित ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपेतः। यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह-चिन्ताव्यावृत्तः। द्विनिषद्यो द्वे निषद्ये उपवेशने यस्य। देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्त्तव्यः। त्रियोगशुद्धः त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धा सावद्यव्यापाररहिता यस्य। अभिवन्दी अभिवन्दत इत्येवंशीलः। कथं ? त्रिसन्ध्यम् ॥१३९॥

अब वह श्रावक सामायिक गुण से सम्पन्न होता है, यह कहते हैं–

टीकार्थ—इस श्लोक में सामयिक प्रतिमा का लक्षण बतलाते हुए उसकी विधि का भी निर्देश किया गया है। सामयिक करने वाला पुरुष एक-एक कायोत्सर्ग के बाद चार बार तीन-तीन आवर्त करता है, अर्थात् प्रत्येक दिशा में णमो अरहंताणं इस आद्य सामायिक दण्डक और थोस्सामि हं इस अन्तिम स्तवदण्डक के तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम

---

१. आवर्त का लक्षण –

कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम्। स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः।
त्रिःसंपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत्पुनः।
साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतदाचरेत्।

शिरोनति का लक्षण –

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नतं क्रियते शिरः।
यत्पाणिकुड्मलाङ्कं तत्क्रियायां स्याच्चतुः शिरः। (सामायिकभाष्य)

करता है। श्रावक इन आवर्तादिक की क्रियाओं को खड़े होकर करता है, सामायिक की अवधि के भीतर यथाजात – नग्नमुद्राधारी के समान बाह्याभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से दूर रहता है। ''देववन्दना करने वाले को प्रारम्भ में और समाप्ति में बैठकर प्रणाम करना चाहिए'' इस विधि के अनुसार दो बार बैठकर प्रणाम करता है अर्थात् सामयिक प्रारम्भ करने के लिए प्रथम बार कायोत्सर्ग कर तीन आवर्त करता है, उसके बाद बैठकर पृथ्वी में शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है और सामयिक के बाद कायोत्सर्ग करता है, उसके बाद भी बैठकर पृथ्वी में शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है। तीनों योगों को शुद्ध रखता है अर्थात् उसके सावद्य व्यापार का त्याग करता है और तीनों सन्ध्याओं में वन्दना करता है।

विशेषार्थ– सामयिक प्रतिमा वाले को तीनों संध्याओं–प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल में वन्दना करने की बात कही गई है। समन्तभद्र स्वामी ने त्रिसन्ध्यमभिवन्दी इस पद के द्वारा यह भाव स्पष्ट किया है और वसुनन्दि आदि आचार्यों ने–

जिणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठि जिणालयाण णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामायियं तं खु।

इस गाथा द्वारा लिखा है कि जिनवचन–जिनशास्त्र, जिनधर्म, जिनचैत्य, परमेष्ठी तथा जिनालयों की तीनों काल में जो वन्दना की जाती है उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक करने वाला पुरुष पूर्वादि दिशाओं में खड़ा होकर जो आवर्त तथा नमस्कार करता है वह उन दिशाओं में स्थित जिनप्रतिमाओं तथा चैत्यालय आदि को लक्ष्य करके ही करता है। नमस्कार, प्रदक्षिणा–परिक्रमा पूर्वक होता है, इसलिए परिक्रमा की विधि को सम्पन्न करने के लिए तीन–तीन आवर्त करता है अर्थात् दोनों हाथों को कमल मुकुलाकार कर प्रदक्षिणा रूप से घुमाता है। इस वन्दना के पहले वह पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख कर खड़ा होता है और निम्नलिखित सामायिकदण्डक पढ़कर २७ उच्छ्वास में नौ[१] बार णमोकार मन्त्र पढ़ता हुआ कायोत्सर्ग करता है–

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।

चत्तारि मंगलं, अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा–अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि–अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

---

१. एक बार णमोकारमन्त्र के उच्चारण में तीन उच्छ्वास लगते हैं– पहले उच्छ्वास में 'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं', दूसरे उच्छ्वास में 'णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं' और तीसरे उच्छ्वास में 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इस प्रकार उच्चारण करना चाहिए।

अड्ढाइज्ज-दीव-दो समुद्देसु पण्णारस-कम्म-भूमिसु, जाव-अरहंताणं, भयवंताणं आदियराणं, तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं पार-गयाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं, धम्म-वर-चाउरंग-चक्क-वट्टीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं सदा करेमि किरियम्मं।

करेमि भंते! सामाइयं सव्व सावज्ज-जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा काएण, ण करेमि ण कारेमि, ण अण्णं करंतं पि समणुमणामि तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

सामायिक दण्डक के बाद निम्नलिखित चतुर्विंशतिस्तव पढ़ता है–

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुय-रयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोय-यरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेव केवलिणो ॥२॥

उसहमजियं च वंदे, संभव-मभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमल-मणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥

कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठ-णेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥

एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमलापहीण-जरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदेहिं णिम्मल-यरा, आइच्चेहिं अहिय-पयासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

इतना पढ़ने के बाद बैठकर पृथ्वी पर शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है।[१] यह विधि चारों

---

१. यदि इतना पूरा पाठ चारों दिशाओं में पढ़ने की सामर्थ्य न हो तो प्रारम्भ करने की दिशा में तो अवश्य पढ़ना चाहिए। शेष दिशाओं में नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़कर कायोत्सर्ग, तीन आवर्त और एक नमस्कार कर सकता है।

दिशाओं में की जाती है। इस विधि के बाद जिस दिशा से प्रारम्भ किया था उसी दिशा की ओर मुँह कर खड़ा होकर या बैठकर सामयिक करे, माला फेरे, तत्त्वचिन्तन आदि करे। सामयिक के समय परिग्रह की चिन्ता से दूर रहे। यहाँ तक कि शरीर पर स्थित वस्त्र आदि से भी निःस्पृह रहे तथा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शुद्ध रखे। अर्थात् मन से राग-द्वेष का चिन्तन न करे, वचन से अन्यथा प्रवृत्ति न करे, पाठ आदि का शुद्ध उच्चारण करे-और काय को स्थिर रखे। सामयिक का काल पूरा होने पर निम्नलिखित सिद्धभक्ति बोलकर २७ उच्छ्वास में नौ बार णमोकार मन्त्र बोलता हुआ एक कायोत्सर्ग करे। तथा पृथ्वी पर बैठकर शिर झुकाता हुआ नमस्कार करे।[१]

सिद्धभक्ति

सम्मत्त - णाण - दंसण - वीरिय - सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहु-मव्वावाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥१॥
तव-सिद्धे णय-सिद्धे, संजम-सिद्धे चरित्त-सिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥२॥

इच्छामि भंते! सिद्धभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचरित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढ-लोएमत्थयम्मि पइट्ठियाणं तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं संयमसिद्धाणं चरित्तसिद्धाणं अदीदाणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं सव्व-सिद्धाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि। दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

फलितार्थ यह है कि जिस प्रकार मुनियों के सामायिक और स्तव नामककृतिकर्म साथ-साथ होते हैं। उसी प्रकार श्रावक के भी दोनों कृतिकर्म साथ-साथ होते हैं। सामायिक कृतिकर्म में सामायिक दण्डक और स्तव कृतिकर्म में थोस्सामि दण्डक पढ़ा जाता है। बारह आवर्तों और चार प्रणामों की संख्या का विवरण देते हुए अन्यत्र यह भी लिखा है कि सामायिक दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन आवर्त करता हुआ एक प्रणाम करता है। इस प्रकार सामायिक दण्डक के ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं और यही विधि स्तवदण्डक के प्रारम्भ और अन्त में करता है। इसलिए उसमें भी ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। दोनों के मिलाकर १२ आवर्त और ४ प्रणाम होते हैं। सामायिक कृतिकर्म और स्तव कृतिकर्म के प्रारम्भ में बैठकर नमस्कार किया जाता है। इसलिए दोनों कृतिकर्मों की २ निषद्याएँ होती हैं। श्लोक में आये हुए 'यथाजातः' शब्द से जिनमुद्रा का संकेत मिलता है।

---

१. विधि का विस्तार देखते हुए ही सामायिक का काल कम-से-कम दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट रखा गया है। परन्तु लोग प्रमादवश पूर्ण विधि न कर मात्र मालाओं के फेरने और पाठ आदि करने में सामायिक का समय पूरा करते हैं।

जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम्।

अमितगतिश्रावकाचार ८/५३

दोनों पैरों का चार अंगुल प्रमाण अन्तर रखकर और दोनों भुजाओं को लटकाकर कायोत्सर्ग रूप से खड़ा होना जिनमुद्रा कहलाती है।

दूसरी प्रतिमा में जो सामयिक शिक्षाव्रत है उसका शीलव्रत के रूप में पालन होता है। उसमें २ घटी के समय का और तीन बार करने का नियम नहीं रहता है। परन्तु सामयिक प्रतिमा में वह सब नियम रहता है ॥१३९॥

साम्प्रतं प्रोषधोपवासगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह–

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः[१] प्रोषधानशनः ॥१४०॥

अन्वयार्थ–[यः] जो **(मासे मासे)** प्रत्येक महीने में **(चतुर्षु)** चारों **(अपि)** ही **(पर्वदिनेषु)** पर्व के दिनों में **(स्वशक्तिं)** अपनी शक्ति को **(अनिगुह्य)** नहीं छिपाकर **(प्रोषधनियमविधायी)** प्रोषध सम्बन्धी नियम को धारण करने वाला **(प्रणिधिपरः)** एकाग्रता में तत्पर **(प्रोषधानशनः)** प्रोषधपूर्वक अनशन/उपवास करने वाला प्रोषध प्रतिमाधारी है।

चतुर्दशी दो तथा अष्टमी मास-मास में आते हैं,
उन्हीं दिनों में यथाशक्ति सब काम-काज तज पाते हैं।
प्रसन्न हो एकाग्र चित्त हो प्रोषध नियमों कर पाते,
प्रोषध उपवासा प्रतिमा के धारक श्रावक कहलाते ॥१४०॥

टीका–प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः। किमनियमेनापि यः प्रोषधोपकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह–प्रोषधनियमविधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यंभावस्तं विदधातीत्येवंशीलः। क्व तन्नियमविधायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति। किं चातुर्मासस्यादौ तद्विधायीत्याह मासे मासे। किं कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्य तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य। किंविशिष्टः? प्रणिधिपरः एकाग्रतां गतः शुभध्यानरत इत्यर्थः ॥१४०॥

अब श्रावक के प्रोषधोपवास गुण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–प्रोषधेन अनशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः इस विग्रह के अनुसार धारणा-पारणा के दिन एकाशन के साथ पर्व के दिन जो उपवास करता है वह प्रोषधोपवास व्रत का धारक

१. प्रणधिपरः घ.।

कहलाता है। इस प्रतिमा के धारी को प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार पर्व के चारों दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर उपवास करना होता है। साथ ही धारणा-पारणा के दिन नियमपूर्वक एकाशन करना होता है। इस प्रतिमा का धारक शुभ ध्यान में तत्पर रहता है।

विशेषार्थ—जिन आचार्यों ने प्रोषध का अर्थ एकाशन न कर पर्व किया है, उनके मत से **प्रोषधानशनः** शब्द का समास इस प्रकार होता है। **प्रोषधे पर्वणि अनशनमुपवासो यस्यासौ** अर्थात् पर्व के दिन जो उपवास करता है। इस पक्ष में **प्रोषधनियमविधायी** शब्द का विग्रह इस प्रकार होता है – **प्रोषधस्य पर्वणो नियमं विदधातीति प्रोषधनियमविधायी** अर्थात् पर्व के दिन पञ्च पापों, अलंकार, आरम्भ, गन्धपुष्प, स्नान, अञ्जन तथा नस्य आदि के त्याग का जो नियम बताया है, उसका पालन करता है और उपवास के समय अपने चित्त को एकाग्र रखता है अर्थात् शुभ ध्यान में लीन रहता है। **प्रणिधानं प्रणिधिः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रणिधि का अर्थ चित्त की एकाग्रता है उसमें जो तत्पर है वह प्रणिधिपर कहलाता है। यहाँ चित्त की एकाग्रता से शुभध्यान का अर्थ ग्राह्य है। श्लोक में जो **स्वशक्तिमनिगुह्य** पद दिया गया है उससे सूचित किया है कि शक्ति के रहते हुए तो अवश्य ही उपवास करना चाहिए। परन्तु वृद्धावस्था या बीमारी आदि के कारण यदि उपवास की शक्ति क्षीण हो गई है तो अनुपवास या एकाशन भी कर सकता है ॥१४०॥

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्दप्रसून-बीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो **(दयामूर्तिः)** दयालु **(आमानि)** अपक्व/कच्चे/हरे **(मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्दप्रसून-बीजानि)** मूल/जड़, फल, शाक, शाखा/कोंपल, करीर/बाँस की गांठ का कौर/अंकुर, हल्दी सौंठ आदि जमीकंद, फूल और बीजों को **(न अत्ति)** नहीं खाता है **(सः)** वह **(सचित्तविरतः)** सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है।

कच्चे जब तक रहते हैं वे कन्द रहो या मूल रहो,
करीर हो या शाक पात फल शाखा हो या फूल रहो।
उनको तब तक खाते नहिं हैं दयामूर्ति जो श्रावक हैं,
सचित्त-विरता प्रतिमा के वे पूर्णरूप से पालक हैं ॥१४१॥

टीका—सोऽयं श्रावकः सचित्तविरतिगुणसम्पन्नः। यो नात्ति न भक्षयति। कानीत्याह-मूलेत्यादि-मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपलाः करीराश्च वंशकिरणाः[1] कंदाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति। कथंभूतः सन् ? दयामूर्त्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः ॥१४१॥

---

१. वंशकिरला इति ग.।

अब श्रावक के सचित्तविरति गुण का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– मूली, गाजर, शकरकन्द आदि मूल कहलाते हैं आम, अमरूद, आदि फल कहलाते हैं, भाजी को शाक कहते हैं, वृक्ष की नई कोंपल को शाखा कहते हैं, बाँस के अंकुरों को करीर कहते हैं, जमीन में रहने वाले अंगीठा आदि को कन्द कहते हैं, गोभी आदि के फूल को प्रसून कहते हैं और गेहूँ, चना आदि को बीज कहते हैं। ये सब आम–अपक्व अवस्था में सचित्त–सजीव होते हैं। अतः दया का धारक श्रावक इन्हें नहीं खाता है। गेहूँ, चना आदि बीज हरी अवस्था में तो सचित्त हैं ही, परन्तु अंकुरोत्पादन की शक्ति की अपेक्षा शुष्क अवस्था में भी सचित्त माने जाते हैं अतः व्रती मनुष्य इन्हें खण्डित अवस्था में ही खाता है।

विशेषार्थ–इस श्लोक में जो मूल आदि वनस्पतियाँ गिनाई गई हैं वे उनकी जातियाँ बतलाने के अभिप्राय से गिनाई गई हैं। ये सभी लक्ष्य हैं यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिए, क्योंकि उनमें मूल, कन्द तथा प्रसून स्पष्ट ही बहुघात तथा त्रसघात का कारण होने से अभक्ष्य हैं। अतः इनका त्याग भोगोपभोगपरिमाण व्रत में कराया जा चुका है। यहाँ इनका 'अपक्व ' अवस्था में त्याग बताया है। इसलिए पक्व अवस्था में ये ग्राह्य हैं, ऐसा फलितार्थ लगाकर व्रती मनुष्य को इनके सेवन में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए। इस प्रसंग में स्वतः स्वभाव से सूखी हुई सोंठ तथा हल्दी आदि का दृष्टान्त देना संगत नहीं है क्योंकि उनका उपयोग औषध के रूप में जब कभी होता है अतः रागांश की तीव्रता नहीं रहती। परन्तु मूली, गाजर, आलू, अदरख आदि के सेवन में स्पष्ट ही राग की तीव्रता रहती है जो कि व्रती मनुष्य के लिए त्याज्य हैं। फल, शाक, शाखा आदि जो भक्ष्य वनस्पतियाँ हैं उन्हें [१]छिन्न–भिन्न या अग्निसिद्ध करके लिया जा सकता है। यद्यपि छिन्न–भिन्नादि करने में दयामूर्तित्व का विघात होता है तथापि इस प्रतिमा में इतनी [२]सूक्ष्मता का विचार नहीं होता है। कुछ लोग कहने लगे हैं कि जो फल आदि वृक्ष से तोड़े गये हैं उनके जीवप्रदेश वृक्ष में चले गये। अतः वे अचित्त हैं– सचित्तत्यागी उन्हें छिन्न–भिन्न आदि किये बिना ग्रहण कर सकता है। परन्तु यह विचार शास्त्रसंगत नहीं है क्योंकि फल, पत्ते आदि स्वतन्त्र जीव हैं वे किसी वृक्ष या लता के आधार पर उत्पन्न होते हैं। वृक्ष या लता से तोड़े जाने पर भी उनमें फल या पत्ते आदि का जीव विद्यमान रहता है, उसकी अपेक्षा वे सचित्त माने जाते हैं ॥१४१॥

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुणं श्रावकस्य व्याचक्षाणः प्राह–

---

१. सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सियं दव्वं।
 जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं।

२. भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शनम्।
 तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत्॥ ६/१७॥ लाटीसंहिता

अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥१४२॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(सत्त्वेषु)** प्राणियों पर **(अनुकम्पमानमनाः)** दया से सहित चित्त वाला **(विभावर्याम्)** रात्रि में **(अन्नं)** अन्न को **(पानं)** पीने योग्य वस्तु को **(खाद्यं)** खाने योग्य वस्तु लड्डु आदि को और **(लेह्यं)** चाटने योग्य रबड़ी आदि को **(न अश्नाति)** नहीं खाता है **(सः)** वह **(रात्रिभुक्ति-विरतः)** रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी श्रावक है।

अन्न पान औ खाद्य लेह्य यों रहा चतुर्विध भोजन है,
उसका सेवन निशि में करते नहीं व्रतीजन भो! जन है।
जग में सब जीवों के प्रति जो करुणा धारण करते हैं,
निशि भोजन के त्याग नाम की प्रतिमा पालन करते हैं ॥१४२॥

टीका–स च श्रावको। रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते। यो विभावर्यां रात्रौ। नाश्नाति न भुंक्ते। किं तदित्याह-अन्नमित्यादि - अन्नं भक्तमुद्गादि, पानं द्राक्षादिपानकं, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं [१]रब्रादि। किंविशिष्टः? अनुकम्पमानमनाः सकरुणहृदयः। केषु सत्त्वेषु प्राणिषु ॥१४२॥

अब श्रावक के रात्रिभुक्तिविरति गुण की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– वह श्रावक रात्रिभुक्तिविरत–रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है, जो जीवों पर दयालुचित्त होता हुआ रात्रि में अन्न–दाल, भात आदि, पान–दाख आदि का रस, खाद्य–लड्डू आदि और लेह्य–रबड़ी आदि को नहीं खाता है।

विशेषार्थ–इस प्रतिमा का नाम रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा है। प्रश्न है कि जब छठवीं प्रतिमा में चार प्रकार के आहार का त्याग कराया जा रहा है तब क्या इसके पहले रात्रिभोजन की छूट रहती है? दूसरी ओर जब पहली दर्शनप्रतिमा में ही रात्रि जल का त्याग हो जाता है तब भोजन की सम्भावना ही कहाँ रहती है ? इस स्थिति में इस प्रतिमा की क्या उपयोगिता है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमा के पूर्व की प्रतिमाओं में कृत की अपेक्षा ही त्याग होता है परन्तु इस प्रतिमा में कृत, कारित, अनुमोदन तथा मन–वचन–काय इन नौ कोटियों से त्याग हो जाता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक न स्वयं रात्रि को भोजन करता है न दूसरों को कराता है और न करते हुए की अनुमोदना करता है।

किन्हीं–किन्हीं आचार्यों ने इस प्रतिमा का नाम दिवा मैथुन त्याग रखा है अर्थात् दिन में मैथुन का त्याग होना। यहाँ भी प्रश्न होता है कि जब दूसरी प्रतिमा में ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों में कामतीव्राभिनिवेश नामक अतिचार का त्याग हो जाता है तब पाँचवीं प्रतिमा तक दिवामैथुन की सम्भावना कहाँ रहती है जिसका कि इस प्रतिमा में त्याग कराया जाता है ? बिना कामतीव्राभिनिवेश

१. द्रवद्रव्यं आम्रादि इति ख.।

के दिवामैथुन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमा में उपर्युक्त नौ कोटियों से त्याग होता है ॥१४२॥

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुणं श्रावकस्य दर्शयन्नाह–

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(मलबीजम्)** शुक्रशोणितरूप मल से उत्पन्न **(मलयोनिम्)** मल की उत्पत्ति का स्थान **(गलन्मलम्)** झरते हुए मल वाले अर्थात् जिससे मूत्रादि मल झर रहा है **(पूतिगन्धि)** दुर्गन्धयुक्त और **(बीभत्सम्)** घिनौने ग्लानियुक्त **(अङ्गं)** शरीर को **(पश्यन्)** देखता हुआ **(अनङ्गात्)** कामवासना से **(विरमति)** विरत होता है **(सः)** वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी है।

मल का कारण, बीज रहा है मल का मल झरवाता है,
अशुचि-धाम दुर्गन्ध रहा है तथा घृणा करवाता है।
ऐसे तन को लखकर श्रावक मैथुन सेवन तजता है,
वही ब्रह्मचारी कहलाता धर्म-भाव बस भजता है ॥१४३॥

टीका–अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी। किं कुर्वन् ? पश्यन्। किं तत् ? अङ्गं शरीरं। कथंभूतमित्याह–मलेत्यादि मलं शुक्रशोणितं बीजं कारणं यस्य। मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनिः कारणं। गलन्मलं गलन् स्रवन् मलो मूत्रपुरीष[१] स्वेदादिलक्षणो यस्मात्। पूतिगन्धि दुर्गन्धोपेतं। बीभत्सं सर्वावयवेषु पश्यतां बीभत्स-भावोत्पादकम् ॥१४३॥

अब श्रावक के अब्रह्मविरत नामक गुण को दिखाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ–काम से आकुलित स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के शरीर को देखकर उसके सेवन में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ शरीर की यथार्थता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह शरीर मलबीज है अर्थात् शुक्रशोणित रूप मल ही इसका कारण है, मलयोनि है अर्थात् मलिनता-अपवित्रता का कारण है, इससे सदा मल, मूत्र तथा पसीना आदि झरता रहता है, दुर्गन्धित है और बीभत्स है अर्थात् समस्त अवयवों में देखने वालों को ग्लानि उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार शरीर के घृणित रूप का विचार जो कामसेवन-मैथुनक्रिया से निवृत्त होता है वह ब्रह्मचारी है।

विशेषार्थ–''ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचारी''जो आत्मा में चरण करता है–अपने ज्ञाताद्रष्टा स्वरूप में लीन रहता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। जिस पदार्थ से राग घटाना इष्ट होता है उसके बीभत्स रूप का चिन्तन करना आवश्यक होता है। यहाँ आचार्य को शरीर से राग घटाना इष्ट है इसलिए उसके बीभत्स रूप का वर्णन किया गया है। तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर शरीर घृणा का ही स्थान

१. प्रस्वेदादि घ.।

है, क्योंकि माता-पिता के शुक्रशोणित रूप अपवित्र उपादान से इसकी उत्पत्ति हुई है, मलिनता-अपवित्रता का कारण है, प्रत्येक समय इसके नवद्वारों से अपवित्र पदार्थ झरते रहते हैं, दुर्गन्धित है और देखने वालों को ग्लानि उत्पन्न करने वाला है ऐसे शरीर से राग घटाकर विषयसेवन से निवृत्त होना ब्रह्मचारी का लक्षण है ब्रह्मचर्य की साधना के लिए शरीर की ओर से अनुराग भरी दृष्टि को हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में दृष्टि स्थिर करना चाहिए। ब्रह्मचारी की वेषभूषा, रहन-सहन तथा भोजन आदि सभी सात्त्विक रहते हैं ॥१४३॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह–

सेवाकृषिवाणिज्य,-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतो,-र्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(प्राणातिपातहेतोः)** प्राणघात के कारणभूत **(सेवाकृषि-वाणिज्य-प्रमुखात् आरम्भतः)** नौकरी, खेती, व्यापार आदि मुख्य आरम्भ से **(व्युपारमति)** विरक्त होता है **(असौ)** वह **(आरम्भ-विनिवृत्तः)** आरम्भ से रहित आरम्भत्याग प्रतिमा का धारक है।

असि मसि कृषि सेवा शिल्पादिक प्रमुख यही आरम्भ रहे,
प्राणघात के कारण, कारण पापों के सम्बन्ध रहे।
इन आरम्भों को तजता है पाप-भीत करुणाधारी,
वही रहा आरम्भ त्यागमय प्रतिमाधारी आगारी ॥१४४॥

टीका–यो व्युपारमति विशेषेण उपरतः व्यापारेभ्य आसमन्तात् जायते असावारम्भ-विनिवृत्तो भवति। कस्मात् ? आरम्भतः। कथंभूतात् ? सेवाकृषि-वाणिज्य-प्रमुखात्, सेवाकृषिवाणिज्याः प्रमुखा आद्या यस्य तस्मात्। कथंभूतात् ? प्राणातिपातहेतोः प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात्। अनेन स्नपनदान-पूजाविधानाद्यारम्भादुपरतिर्निराकृता तस्य प्राणातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडा-परिहारेणैव तत्सम्भवात्। वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा सम्भवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्टं प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणसम्पन्नतोपपत्तेः[१] ॥१४४॥

टीकार्थ– यहाँ आरम्भ से निवृत्त होने के लिए ग्रन्थकार ने व्युपारमति क्रिया का प्रयोग किया है जो कि उप और आङ् उपसर्ग पूर्वक रम धातु का रूप है। उपसर्गों के कारण उसका अर्थ विशेषेण **आसमन्तात् आरम्भेभ्य उपरतो जायते** अर्थात् आरम्भ से विशेषता पूर्वक सब ओर से निवृत्त होना होता है। आरम्भ का अर्थ परिग्रह संचय करने की विधिविशेष है। उस विधि में सेवा-नौकरी, खेती तथा वाणिज्य प्रमुख हैं। आरम्भ त्याग क्यों किया जाता है ? इसका समाधान करने के लिए आरम्भ का **प्राणातिपातहेतोः** यह हेत्वर्थक विशेषण दिया है अर्थात् जो आरम्भ, प्राणघात का हेतु है उससे

१. सम्पन्नत्वोपपत्तेः घ.।

निवृत्त होना चाहिए। इस विशेषण के देने से यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भत्याग प्रतिमा का धारी श्रावक अभिषेक, दान, पूजा आदि का आरम्भ कर सकता है उससे उसकी निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह प्राणघात का कारण नहीं है, प्राणिहिंसा को बचाकर ही यह कार्य किये जाते हैं। यहाँ यह विकल्प उठाया जा सकता है कि जिस वाणिज्य आदि आरम्भ में प्राणिहिंसा नहीं होती उसे भी क्या कर सकता है ? इसका उत्तर टीकाकार ने दिया है ऐसे आरम्भ से उसकी निवृत्ति न हो यह हमें अनिष्ट नहीं है अर्थात् स्वीकृत है क्योंकि जो आरम्भ प्राणघात का हेतु है उसी से निवृत्त होने वाले श्रावक के यह प्रतिमा होती है।

विशेषार्थ—प्रश्न यह उठता है कि आरम्भत्याग प्रतिमा का धारी श्रावक क्या पंच –सूनाओं का भी त्यागी होता है ? अपने स्नान आदि के लिए पानी भरेगा ? अपने वस्त्र स्वयं धोवेगा ? अपने स्थान को बुहारी से साफ करेगा ? और अपने लिए भोजन बनावेगा या नहीं ? समन्तभद्रस्वामी ने आरम्भ के लिए जो **सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखात्** और **प्राणातिपातहेतो:** यह दो विशेषण दिये हैं उनसे सिद्ध होता है कि यहाँ व्यापार सम्बन्धी आरम्भ का त्याग कराना ही उन्हें इ्ष्ट है। संस्कृत टीकाकार का भी यही भाव विदित होता है। आगामी प्रतिमा का नाम परिग्रहत्याग प्रतिमा है उस प्रतिमा की भूमिका के रूप में आरम्भत्याग प्रतिमा है अर्थात् जो आगे चलकर परिग्रह का त्याग करने वाला है उसे इस प्रतिमा में नवीन परिग्रह का अर्जन करना छोड़ देना चाहिए। जो कुछ पहले का संचय किया हुआ उसके पास है उसी से अपना निर्वाह करना चाहिए। संस्कृत टीकाकार की तो यह भी सम्मति जान पड़ती है कि जिस आरम्भ में प्राणिघात नहीं है वह आरम्भ भी किया जा सकता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक परिग्रह रखते हुए भी निमन्त्रण न होने की स्थिति में स्वयं भोजन बनाकर नहीं खावे–भूखा रहे यह कुछ उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रतिमा का धारक श्रावक भोजन के विषय में स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं है इसलिए वह सावधानीपूर्वक अपना भोजन स्वयं बना सकता है और पात्रदान का अवसर आता है तो उसे भी कर सकता है। पानी भरना, कपड़े धोना तथा अपने स्थान को कोमल बुहारी आदि से साफ करना यह कार्य स्वयं सिद्ध हैं।[१] **सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्** इस विशेषण में जो प्रमुख शब्द है उससे पशुपालन आदि हिंसक व्यापारों का संग्रह करना विवक्षित है, सूनाओं का नहीं। स्वामी समन्तभद्र ने **अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्** इस श्लोक में सूनाओं और आरम्भों का पृथक्–पृथक् उल्लेख किया है इससे सिद्ध होता है कि उन्हें आरम्भ शब्द से व्यापार ही अभीष्ट है सूनाओं का आरम्भ में समावेश करना उन्हें अभीष्ट नहीं है ॥१४४॥

अधुना परिग्रहनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह–

---

१. प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना।
कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मणा॥ ६/३७॥ लाटीसंहिता

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥१४५॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(बाह्येषु दशसु वस्तुषु)** बाहरी दश वस्तुओं/परिग्रहों में **(ममत्वम्)** ममता को **(उत्सृज्य)** छोड़कर **(निर्ममत्वरतः)** ममता रहित भाव में लीन/निर्मोही होता हुआ **(स्वस्थः)** आत्मस्वरूप में स्थित और **(संतोषपरः)** संतोष में तत्पर **(परिचित्तपरिग्रहात्)** सब ओर से चित्त में स्थित परिग्रह से **(विरतः)** विरक्त **(सः)** वह परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी है।

दाम धाम आदिक सब मिलकर बाह्य परिग्रह दशविध हो,
उसकी ममता तज जो श्रावक निरीह निर्मम बस बुध हो।
तथा बना सन्तोष कोष हो निज कार्यों में निरत सही,
स्वामीपन ले मन में बैठे सकल संग से विरत वही ॥१४५॥

टीका–परि समन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्माद्विरतः श्रावको भवति। किं विशिष्टः सन् ? स्वस्थो मायादिरहितः। तथा सन्तोषपरः परिग्रहाकांक्षाव्यावृत्त्या सन्तुष्टः तथा। निर्ममत्वरतः। किं कृत्वा ? उत्सृज्य परित्यज्य। किं तत् ? ममत्वं मूर्च्छा। क्व ? बाह्येषु दशसु वस्तुषु। एतदेव दशधा परिगणनं बाह्यवस्तूनां दर्श्यते।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासने च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणं च डोहलिकादि। वास्तु गृहादि। धनं सुवर्णादि। धान्यं ब्रीह्यादि। द्विपदं दासीदासादि। चतुष्पदं गवादि। शयनं खट्वादि। आसनं विष्टरादि। यानं डोलिकादि। कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयकादि। भाण्डं श्रीखण्डमञ्जिष्टाकांस्यताम्रादि ॥१४५॥

अब श्रावक के परिग्रहत्याग गुण का वर्णन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– परिसमन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो परिग्रह निरन्तर चित्त में स्थित रहता है ऐसे ममता के स्थानभूत परिग्रह को परिचित परिग्रह कहते हैं। इस परिग्रह से विरत वही हो सकता है जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड इन दश बाह्य वस्तुओं में ममता-मूर्च्छाभाव को छोड़कर निर्ममत्व भाव में स्थित रहता है अर्थात् ऐसा विचार करता है कि ये बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं और मैं भी इनका नहीं हूँ, मायाचार आदि से रहित होकर सदा स्वस्थ रहता है–अपने ज्ञाताद्रष्टा स्वरूप में स्थित रहता है और सन्तोष में तत्पर रहता है– परिग्रह की आकांक्षा से निवृत्त रहता है।

क्षेत्रमिति–जहाँ धान्य उत्पन्न होता है ऐसे डोहलिका आदि स्थानों को खेत कहते हैं। जिस खेत में चारों ओर से बँधान डालकर पानी रोक लेते हैं ऐसे धान्य के छोटे-छोटे खेतों को डोहलिका कहते

हैं इन्हें ग्राम्य भाषा में मढ़ा या डैया आदि भी कहते हैं। मकान आदि को वास्तु कहते हैं, सोना-चाँदी आदि को धन कहते हैं, धान, गेहूँ, चना आदि को धान्य कहते हैं, दासी-दास आदि को द्विपद कहते हैं, गाय, भैंस आदि को चतुष्पद कहते हैं, खाट पलंग आदि को शयन तथा विस्तर आदि को आसन कहते हैं, डोली-पालकी आदि को यान कहते हैं, रेशम, सूती तथा कोशा आदि के वस्त्रों को कुप्य कहते हैं और चन्दन, मंजीठ, काँसा तथा ताँबा आदि के बर्तनों को भाण्ड कहते हैं। यह दश प्रकार का परिग्रह उपयोगी होने से निरन्तर मनुष्य के मन में स्थित रहता है इससे ममत्वभाव को छोड़ना सो परिग्रहत्यागप्रतिमा कहलाती है।

विशेषार्थ—जो परिग्रह अनुपयोगी रूप से घर में पड़ा है, उसके त्याग में कोई खास महत्त्व नहीं रहता क्योंकि त्याग के पूर्व भी उसमें खास ममत्वभाव नहीं रहता। किन्तु जो गृहस्थी के निर्वाह के लिए आवश्यक होने से मन में अपना स्थान बनाये रखते हैं ऐसे परिग्रह से निवृत्त होना इस प्रतिमा की विशेषता है। बाह्यपरिग्रह के त्याग का कारण संतोष है, क्योंकि जब तक संतोष नहीं होता तब तक त्याग नहीं हो सकता इसलिए ग्रन्थकर्त्ता ने त्याग करने वाले को संतोषपरः विशेषण दिया है जितना कुछ परिग्रह उसने अपने लिए निश्चित किया है उसमें संतुष्ट रहने से ही उसके व्रत की रक्षा हो सकती है। त्याग करने का लक्ष्य स्वस्थ होना है अर्थात् अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव में स्थिर होना ही परिग्रहत्याग का प्रयोजन है। यदि इस प्रयोजन की ओर लक्ष्य नहीं है तो उस त्याग से लाभ नहीं होता।

परिग्रहत्याग प्रतिमा का धारी श्रावक अपने निर्वाह के योग्य वस्त्र तथा बर्तनों को रखकर शेष परिग्रह से अपना स्वामित्व छोड़ देता है। यदि पुत्र है तो समीचीन शिक्षा के साथ अपने परिग्रह का भार उसे सौंपता है। यदि पुत्र नहीं है तो दत्तक पुत्र या भाई भतीजा आदि को परिग्रह का भार सौंपकर निश्चिन्त होता है। घर में रहता है और घर में भोजन करता है। यदि अन्य सधर्मा-भाई निमन्त्रण करते हैं, तो उनके घर भी जाता है। स्वयं व्यापार नहीं करता परन्तु पुत्र आदि यदि किसी वस्तु के संग्रह आदि में अनुमति माँगते हैं तो उन्हें योग्य अनुमति देता है ॥१४५॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधी-रनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय से **(आरम्भे)** कृषि आदि आरम्भ में **(वा)** अथवा **(परिग्रहे)** परिग्रहों में **(वा)** अथवा **(ऐहिकेषु कर्मसु)** इसलोक सम्बन्धी कार्यों में **(यस्य)** जिसकी **(अनुमतिः)** अनुमोदना **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(सः)** वह **(समधीः)** समान बुद्धि का धारक श्रावक **(अनुमतिविरतः)** अनुमतित्याग प्रतिमाधारी **(मन्तव्यः)** मानना चाहिए।

असि मसि कृषि आदिक आरम्भों में तो ना अनुमति देता,
किन्तु संग में विवाह कार्यों में भी कभी न मति देता।
यद्यपि घर में रहता फिर भी समता-धी से सहित रहा,
वही रहा दशवीं प्रतिमा का पालक अनुमति-विरत रहा ॥१४६॥

टीका—सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः यस्य खलु स्फुटं नास्ति। काऽसौ ? अनुमतिरभ्युपगमः। क्व ? आरम्भे कृष्यादौ। वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः। परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ। ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु। किंविशिष्टः ? समधीः रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा ॥१४६॥

अब श्रावक के अनुमतित्याग गुण का वर्णन करते हुए कहते हैं–

टीकार्थ— जो खेती आदि आरम्भ, धन-धान्यादिक परिग्रह तथा इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्यों में अनुमति नहीं देता है तथा इष्टानिष्ट परिणति में समबुद्धि रहता है उसे अनुमतित्याग प्रतिमा का धारक श्रावक जानना चाहिए।

विशेषार्थ— आरम्भत्याग प्रतिमा में नई कमाई का त्याग करता है, परिग्रह त्याग प्रतिमा में परिग्रह के स्वामित्व से निवृत्त होता है और अनुमतित्याग प्रतिमा में परिग्रह सम्बन्धी किसी प्रकार की अनुमति भी नहीं देता। पुत्र आदि उत्तराधिकारी अपनी बुद्धि से जो कुछ करते हैं उसमें मध्यस्थभाव रखता है। हानि-लाभ के अवसर पर चित्त में संक्लेश नहीं करता। भोजन के अवसर पर घर के या समाज के लोगों में जो भी प्रार्थना करते हैं उनके यहाँ भोजन करता है। किसी का निमन्त्रण पहले से स्वीकृत नहीं करता और न किसी से किसी इच्छित वस्तु के बनाने आदि की इच्छा प्रकट करता है। एक बार ही आहार पानी को ग्रहण करता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक पारलौकिक धार्मिक कार्यों में अनुमति दे सकता है, परन्तु स्वयं अग्रसर होकर किसी कार्य के कराने का विकल्प अपने ऊपर नहीं लेता ॥१४६॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणगुणयुक्तत्वंश्रावकस्य दर्शयन्नाह–

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
[१]भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

अन्वयार्थ—(गृहतो) घर से **(मुनिवनं)** मुनियों के आश्रम को **(इत्वा)** जाकर **(गुरूपकण्ठे)** गुरु के पास **(व्रतानि)** व्रतों को **(परिगृह्य)** ग्रहण करके **(भैक्ष्याशनः)** बिना याचना किए भिक्षा से भोजन करने वाला **(तपस्यन्)** तपश्चरण करता हुआ **(चेलखण्डधरः)** वस्त्र के एक खण्ड यानि लंगोट या दो खण्डों यानि लंगोट व दुपट्टा को धारण करने वाला **(उत्कृष्टः)** उत्कृष्ट श्रावक/उद्दिष्टत्याग

---

१. भैक्षाशनस् घ.। (भिक्षा एवं भैक्षं स्वार्थे सुण् तद् अश्नादिति भैक्ष्याशनः प्रत्ययः अथवा भिक्षाणां समूहो भैक्षं समूहार्थेऽण् प्रत्ययः।

प्रतिमाधारी है।

श्रावक घर को तजता है फिर मुनियों के वन में जाता,
गुरुओं के सान्निध्य प्राप्त कर करे ग्रहण सब व्रत साता।
भिक्षाचर्या से भोजन पा तप तपता सुखकारक है,
श्रावक वह उत्कृष्ट रहा है खण्ड वस्त्र का धारक है ॥१४७॥

टीका—उत्कृष्ट उद्दिष्टविरतिलक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति। कथंभूतः ? चेलखण्डधरः कौपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिङ्गधारीत्यर्थः। तथा भैक्ष्याशनो। भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं तदश्नातीति भैक्ष्याशनः। किं कुर्वन् ? तपस्यन् तपः कुर्वन्। किं कृत्वा ? परिगृह्य गृहीत्वा। कानि ? व्रतानि। क्व ? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे। किं कृत्वा ? इत्वा गत्वा। किं तत् ? मुनिवनं मुन्याश्रमं। कस्मात् ? गृहतः ॥१४७॥

अब श्रावक उद्दिष्टत्याग गुण से युक्त होता है, वह दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ—उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवें स्थान से युक्त श्रावक उत्कृष्ट कहलाता है। यह कौपीन–लंगोट मात्र वस्त्र को धारण करता है। भिक्षा एव भैक्ष्यं इस तरह स्वार्थ में ण्य प्रत्यय अथवा **भिक्षाणां समूहो भैक्षं** इस तरह समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर भैक्ष शब्द सिद्ध होता है। इस प्रतिमा का धारी भिक्षा से भोजन करता है अर्थात् मुनियों की तरह चर्या के लिए निकलता है। पडगाहे जाने पर जहाँ अनुकूल विधि मिलती है वहाँ भोजन करता है। अथवा जो अनेक भैक्ष्य होता है वह किसी पात्र में गृहस्थों के घर से भिक्षा को लेता है जब उदरपूर्ति के योग्य भोजन एकत्रित हो जाता है तब किसी श्रावक के घर प्रासुक जल लेकर भोजन करता है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक घर छोड़कर मुनियों के वन में चला जाता है तथा उनके पास व्रत धारण कर उन्हीं की देख–रेख में तपश्चरण करता है। मुनिवन का अर्थ मुनियों का आश्रम है। समन्तभद्रस्वामी के समय मुनि, वन में ही निवास करते थे इसलिए उत्कृष्ट श्रावक को गृहत्याग कर मुनिवन में जाने की आज्ञा दी गई है। इस समय मुनियों में ग्रामवास या चैत्यावास चल पड़ा है इसलिए मुनिवन का अर्थ मुनियों का आश्रय लिया जाता है।

विशेषार्थ— इस प्रतिमाधारी को भैक्ष्याशन कहा है उसी से सिद्ध है कि यह उद्दिष्ट आहार का त्यागी होता है। किसी खास व्यक्ति के उद्देश्य से जो आहार बनाया जाता है वह उद्दिष्टाहार कहलाता है। इस प्रतिमाधारी के ऐलक और क्षुल्लक की अपेक्षा दो भेद प्रचलित हैं। ऐलक लिङ्ग का परदा अर्थात् सिर्फ कौपीन धारण करते हैं और क्षुल्लक लंगोट के सिवाय एक खण्डवस्त्र भी रखते हैं। खण्डवस्त्र का अर्थ इतना छोटा वस्त्र लिया जाता है कि जिससे शिर ढँकने पर पैर न ढँक सके और पैर ढँकने पर शिर न ढँक सके। मार्जन के लिए क्षुल्लक मयूरपिच्छ से निर्मित पिच्छिका या वस्त्र के एक खण्ड को रखते हैं तथा ऐलक पिच्छिका ही रखते हैं। क्षुल्लक केशलौंच भी करते हैं और कैंची

छुरा से भी क्षौरकर्म कराते हैं, परन्तु ऐलक केशलोंच ही करते हैं। क्षुल्लक पात्र में से भोजन करते हैं परन्तु ऐलक हाथ में ही भोजन करते हैं। क्षुल्लक और ऐलक दोनों ही बैठकर भोजन करते हैं। दोनों ही पैदल विहार करते हैं रेल, मोटर आदि में यात्रा करना इस पद में वर्जित है।

पहली से लेकर छठवीं प्रतिमा तक के श्रावक को जघन्य श्रावक, सातवीं से नौवीं प्रतिमा तक के श्रावक को मध्यम श्रावक और दशवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक को उत्तम श्रावक कहा जाता है। ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक को आर्य कहते हैं और स्त्री को आर्यिका कहते हैं। आर्यिका सफेद रंग की १६ हाथ की एक साड़ी रखती है, स्त्रीपर्याय में धारण किये जाने वाले व्रत का यह सर्वश्रेष्ठ रूप है, इसलिए इसे उपचार से महाव्रत का धारक माना जाता है। आर्यिका से उतरता हुआ दूसरा स्थान क्षुल्लिका है। यह १६ हाथ की साड़ी के सिवाय एक सफेद चद्दर भी रखती है। ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका और क्षुल्लिका दूसरे दिन शुद्धि के समय बदलने के लिए दूसरा लंगोट चद्दर और साड़ी भी रखती हैं साथ के ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ उसकी व्यवस्था रखती हैं। पिछले दिन के वस्त्रों को धोकर यही सुखाती हैं। आर्यिका के केशलोंच तथा भोजन की विधि ऐलक के समान है और क्षुल्लिका के केशलोंच तथा आहार की व्यवस्था क्षुल्लक के समान है ॥१४७॥

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेवं मन्यन्ते तथा श्रेयोज्ञाता भवतीत्याह –

पाप-मरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(पापम्) पाप **(जीवस्य)** जीव का **(अरातिः)** शत्रु है **(च)** और **(धर्मः)** धर्म/पुण्य **(बंधुः)** हितकारी मित्र है **(इति)** इस प्रकार **(निश्चिन्वन्)** निश्चय करता हुआ **(यदि)** अगर **(समयम्)** आगम को **(जानीते)** जानता है **[तर्हि]** तो वह **(ध्रुवं)** निश्चय से **(श्रेयो-ज्ञाता)** श्रेष्ठ ज्ञाता[1]/ कल्याण का ज्ञाता **(भवति)** होता है।

पाप रहा जो वही शत्रु है धर्म-बन्धु है रहा सगा,
यदि आगम को जान रहा है ऐसा निश्चय रहा जगा।
वही श्रेष्ठ है ज्ञानी अथवा अपने हित का है ज्ञाता,
जिसको हित की चिन्ता नहिं है ज्ञानी कब वह कहलाता? ॥१४८॥

टीका—यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। किं कुर्वन् ? निश्चिन्वन्। कथमित्याह-पापमित्यादि-पापमधर्मोऽरातिः शत्रुर्जीवस्यानेकाप-कारकत्वात् धर्मश्च बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन् ॥१४८॥

---

१. श्रेयांश्चासौ ज्ञाता च श्रेयोज्ञाता अथवा श्रेयसो ज्ञाता श्रेयोज्ञाता इति द्विविधः समासः।

जो आगम का ज्ञाता तप करता हुआ ऐसा मानता है वही श्रेष्ठ ज्ञाता होता है यह कहते हैं–

टीकार्थ—आगम को जानने वाला श्रावक यदि यह निश्चय रखता है कि पाप अर्थात् अधर्म–मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप परिणति ही अनेक अपकार का कारण होने से इस जीव का शत्रु है और धर्म–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणति ही अनेक उपकार का कारण होने से मित्र है तो वह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है अथवा कल्याण का ज्ञाता होता है।

विशेषार्थ—ज्ञान से चारित्र की शोभा है और चारित्र से ज्ञान की शोभा है इसलिए श्रावक को ज्ञान की वृद्धि करने के लिए आगम का ज्ञाता होना चाहिए। परन्तु वह आगम का ज्ञाता यदि ऐसा निश्चय रखता है-ऐसा दृढ़ श्रद्धान रखता है कि पाप ही इस जीव का शत्रु है और धर्म ही इस जीव का मित्र है तो वह श्रेष्ठ ज्ञाता है। ऐसा निश्चय हुए बिना आगम का ज्ञाता श्रेष्ठ ज्ञाता नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के फलस्वरूप ऐसा निश्चय होना ही चाहिए कि पर पदार्थ मेरे शत्रु अथवा मित्र नहीं हैं। शत्रु और मित्र तो मेरी अधर्म और धर्म रूप परिणति ही हैं क्योंकि दुःख और सुख के साक्षात् कारण वही हैं अतः बाह्य पदार्थों में अनिष्ट तथा इष्ट बुद्धि करना मेरा कर्त्तव्य नहीं है। ऐसा निश्चय करने से यह जीव रागद्वेष के प्रपञ्च में नहीं फँसता है और तभी यह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है ॥१४८॥

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुः फलं दर्शयन्नाह –

उपजाति छन्द

येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥१४९॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस भव्य ने **(स्वयं)** अपनी आत्मा को **(वीतकलङ्क-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं)** निर्दोष सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रमय रत्नों की पेटीरूप **(नीतः)** प्राप्त कराया है **(तं)** उसे **(त्रिषु विष्टपेषु)** तीनों लोकों में **(पतीच्छयेव)** पति की इच्छा से ही मानो **(सर्वार्थसिद्धिः)** धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों की सिद्धि **(आयाति)** प्राप्त होती है।

मिथ्यादर्शन आदिक से जो निज को रीता कर पाया,
दोषरहित विद्या-दर्शन-व्रत रत्नकरण्डक कर पाया।
धर्म अर्थ की काम मोक्ष की सिद्धि उसी को वरण करे,
तीन लोक में पति-इच्छा से स्वयं उसी में रमण करे ॥१४९॥

टीका—येन भव्येन स्वयं आत्मा स्वयंशब्दोऽत्रयात्मवाचकः नीतः प्रापितः। कमित्याह–वीतेत्यादि, विशेषेण इतो गतो नष्टः कलङ्को दोषो यासां ताश्च ता विद्यादृष्टि क्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासां करण्डभावं तं भव्यं आयाति आगच्छति। कासौ ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थानां सिद्धिर्निष्पत्तिः

कर्त्री। कयेवायाति ? पतीच्छयेव स्वयंवरविधानेच्छयेव। क्व ? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु ॥१४९॥

अब शास्त्र के अध्ययन का फल दिखलाते हुए कहते हैं–

टीकार्थ– यहाँ स्वयं शब्द आत्मा का वाचक है। जिससे कलंक–दोष विशेष रूप से नष्ट हो गये हैं उसे वीतकलंक कहते हैं। यह वीतकलंक विशेषण विद्या–ज्ञान, दृष्टि–दर्शन और क्रिया–चारित्र इन तीनों के साथ लगता है। इन तीनों के लिए रत्नों की उपमा प्रसिद्ध है। रत्नत्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ग्रहण होता है। जिस भव्य ने अपने आत्मा को निर्दोषज्ञान, निर्दोष-दर्शन और निर्दोषचारित्र रूपी रत्नों का करण्डक–पिटारा बनाया है अर्थात् अपने आत्मा में इन तीनों को प्रकट किया है उसे तीनों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप समस्त अर्थों की सिद्धि उस तरह प्राप्त हो जाती है जिस तरह कि पति की इच्छा रखने वाली कोई कन्या किसी पति को प्राप्त होती है। यहाँ सर्वार्थसिद्धि शब्द स्त्रीलिंग है अतः लिंग साम्य से उसमें पतिरा–कन्या का आरोप किया है।

विशेषार्थ–रत्नत्रय, जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो प्रकार का है। जघन्य रत्नत्रय के साथ रागांश की बहुलता रहती है इसलिए वह उपचार से देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण कहा जाता है। परमार्थ से पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण रत्नत्रय के काल में पाया जाने वाला रागांश ही है रत्नत्रय नहीं, परन्तु जैसे गर्म घी से जल गया यहाँ परमार्थ से घी जलाने वाला नहीं है किन्तु घी के साथ मिली हुई अग्नि जलाने वाली है उसी प्रकार रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं है परन्तु रत्नत्रय के काल में पाया जाने वाला रागांश बन्ध का कारण है। इस तरह जघन्य अवस्था में रत्नत्रय धर्म, अर्थ और काम का साधक है तथा उत्कृष्ट अवस्था में मोक्ष का साधक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा था। उसी धर्म का फल यहाँ बतलाया गया है। यहाँ श्लेष से रत्नकरण्डक यह ग्रन्थ का नाम सूचित किया गया है ॥१४९॥

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्वसम्पत्तिर्वृद्धिंगता सा एतदेव कुर्यादित्याह–

मालिनीच्छन्दः

सुखयतु सुखभूमिः, कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां, शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा, कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्म,-प्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१५०॥

अन्वयार्थ–(जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी) जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों का दर्शन करने वाली **(सुखभूमिः)** सुख की भूमिस्वरूप **(दृष्टिलक्ष्मीः)** सम्यग्दर्शन- रूपी लक्ष्मी/सम्पदा **(माम्)** मुझे उस तरह **(सुखयतु)** सुखी करे **(इव)** जिस तरह कि **(सुखभूमिः कामिनी कामिनम्)** सुख की भूमिस्वरूप सुन्दर स्त्री कामीपुरुष को सुखी करती है **(शुद्धशीला)** निर्दोष शील–तीन गुणव्रत और

चार शिक्षाव्रत से युक्त होती हुई **(माम्)** मुझे उस तरह **(भुनक्तु)** रक्षित करे **(इव)** जिस तरह कि **(शुद्धशीला जननी सुतम्)** निर्दोष शील–पातिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली माता पुत्र को रक्षित करती है और **(गुणभूषा)** मूलगुणरूपी अलंकार से युक्त होती हुई **(माम्)** मुझे उस तरह **(सम्पुनीतात्)** पवित्र करे **(इव)** जिस तरह कि **(गुणभूषा-कन्यका कुलम्)** गुणों से सुशोभित कन्या कुल को पवित्र करती है।

सुखद कामिनी कामी को ज्यों सुखी मुझे कर दुरित हरे,
शीलवती माँ सुत की जिस विध मम रक्षा यह सतत करे।
कुल को कन्या सम गुणवाली यह मुझको शुचि शान्त करे,
दृग् लक्ष्मी मम जिन-पद पद्मों में रहती सब ध्वान्त हरे ॥१५०॥

टीका—मां सुखयतु सुखिनं करोतु। कासौ ? दृष्टिलक्ष्मीः सम्यग्दर्शनसम्पत्तीः। किं विशिष्टेत्याह–जिनेत्यादि जिनानां देशतः कर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनां पतयस्तीर्थंकरास्तेषां पदानि सुबन्ततिङन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि तानि प्रेक्षते श्रद्दधातीत्येवंशीला। अयमर्थः–लक्ष्मीः पद्मावलोकनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थप्रेक्षणशीलेति। कथंभूता सा ? सुखभूमिः। सुखोत्पत्तिस्थानं। केव कं ? कामिनं कामिनीव यथा कामिनी कामभूमिः कामिनं सुखयति तथा मां दृष्टिलक्ष्मीः सुखयतु। तथा सा मां भुनक्तु रक्षतु। केव ? सुतमिव जननी। किंविशिष्टा ? शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुतं रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी। दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षणशुद्धसप्तशीलसमन्विता मां भुनक्तु। तथा सा मां सम्पुनीतात् सकलदोषकलङ्कं निराकृत्य पवित्रयत्। किमिव ? कुलमिव गुणभूषा कन्यका। अयमर्थः–कुलं यथा गुणभूषा गुणाऽलङ्कारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाघ्यतां नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूलगुणैरलङ्कृता मां सम्यक्पुनीतादिति ॥१५०॥

येनाज्ञानतमो [१]विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं,
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स [२]श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको,
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः ॥१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामीविरचितोपासकाध्ययनटीकायां पञ्चमः परिच्छेदः।

आगे समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि रत्नकरण्डक ग्रन्थ की रचना करते हुए मेरी जो यह सम्यक्त्व रूप सम्पत्ति वृद्धि को प्राप्त हुई है वह यही कार्य करे, यह कहते हैं–

टीकार्थ—जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी इस शब्द में जो पद शब्द है उसके दो अर्थ हैं एक सुबन्ततिङन्तरूप पदशब्द समूह और दूसरा चरण। दोनों पक्षों में अर्थ इस प्रकार है– तीर्थंकर भगवान्

१. निरस्य इति ख.। २. श्रीमद्रत्नकरण्ड इति ग.।

के शब्दसमूह रूप कमलों का श्रद्धान करने वाली अथवा तीर्थंकर भगवान् के चरण कमलों का अवलोकन करने वाली–उनके प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे मेरी रक्षा करे और मुझे अच्छी तरह पवित्र करे। इन कार्यों के लिए पृथक्–पृथक् तीन दृष्टान्त हैं–१. जिस प्रकार सुख की भूमि–विषयसुख की भूमि कामिनी कामी को सुखी करती है उसी प्रकार सुख की भूमि–आत्मोत्थ सुख की भूमि सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी मुझे सुखी करे। २. जिस प्रकार शुद्धशीला – निर्दोष सदाचार को पालन करने वाली माता अपने पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार शुद्धशीला–निरतिचार गुणव्रत और शिक्षाव्रतों से युक्त सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे। और ३. जिस प्रकार गुणभूषा–शील सौन्दर्य आदि गुणों से विभूषित कन्या अपने कुल को सम्यक् प्रकार से पवित्र करती है उसी प्रकार गुणभूषा–मूलगुण अथवा निःशंकितत्वादि अथवा प्रशम–संवेग आदि गुणों से विभूषित सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे अच्छी तरह पवित्र करे–मुझे कर्म कालिमा से रहित करे। अन्तमंगल के रूप में संस्कृत टीकाकार जिनेन्द्र भगवान् का स्तवन करते हैं और साथ में श्लेष से ग्रन्थ का नाम ग्रन्थ के मूलकर्ता और टीकाकार का नाम भी सूचित करते हैं–

येनाज्ञानेति–जिन्होंने भव्य जीवों के चित्त में व्याप्त समस्त अज्ञानरूपी तिमिर को नष्ट कर सम्यग्ज्ञान रूप किरणों के द्वारा समस्त गृहस्थ धर्मरूप मार्ग को प्रकट किया है जो श्री रत्नत्रय रूप रत्नों में पिटारे को प्रकाशित करने के लिए सूर्य हैं पक्ष में भाव से कर्ता होने के कारण रत्नकरण्डक नामक इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए सूर्य हैं, संसाररूपी नदी को सुखाने वाले हैं, समन्तभद्र–कल्याणों से परिपूर्ण मुनियों की रक्षा करने वाले हैं। पक्ष में इस ग्रन्थ के कर्ता समन्तभद्र मुनि के रक्षक हैं, अनन्त चतुष्टय रूप श्री से सहित हैं तथा प्रभा–शीतल सुखद कान्ति से जो चन्द्रमा[१] हैं ऐसे यह प्रसिद्ध जिनेन्द्र देव जयवन्त रहें।

विशेषार्थ—यद्यपि इस श्लोक में सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी से ही अपने आपको सुखी करने, सुरक्षित करने और सम्यक् प्रकार से पवित्र करने की प्रार्थना की गई है। तथापि सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी में ही सम्यग्ज्ञान और देशव्रत तथा महाव्रत रूप चारित्र को अन्तर्गत किया गया है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी निधि को भूलकर दरिद्र हुआ दुःख उठाता है इसी प्रकार यह जीव भी आत्मनिधि को भूलकर चतुर्गति रूप संसार में दुःख उठा रहा है। जिस प्रकार उस पुरुष को अपनी निधि–गुप्त खजाने का ज्ञान होने पर उसका सब दुःख दूर हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव का ज्ञान होने पर इस जीव का सब दुःख दूर हो जाता है। शील का अर्थ गुणव्रत और शिक्षाव्रत है जिस प्रकार बाड़ी खेती की रक्षा करती है उसी प्रकार शील, अणुव्रतों की रक्षा करते हैं। यहाँ शील शब्द से देशव्रत का ग्रहण किया गया है। जब यह सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी देशव्रत से सहित होती है तब जीव को नरक तथा तिर्यञ्च गति के दुःखों से सुरक्षित करती है। सम्यग्दृष्टि जीव देव और मनुष्य

१. यहाँ श्लेष से टीकाकार ने अपना 'प्रभाचन्द्र' नाम सूचित किया है।

गति में ही संचार करता है। इसलिए नरक और तिर्यञ्चगति के दुःखों से उसकी सुरक्षा स्वयं हो जाती है। जब वह सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी महाव्रत रूप सकल चारित्र से युक्त होती है तब उसमें कर्म कलंक को नष्टकर मोक्ष प्राप्त कराने की सामर्थ्य आ जाती है। यहाँ समन्तभद्र स्वामी ने अपने आपको सम्यक् प्रकार से पवित्र करने की प्रार्थना की है अर्थात् द्रव्य और भावकर्म से रहित कर निष्कलंक बनाने की बात कही है। यह निष्कलंक अवस्था सम्यक्चारित्र में ही होती है। इस तरह एक सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी में तीनों रत्नों का समावेश किया है ॥१५०॥

इस प्रकार समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित
उपासकाध्ययन की प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा टीका में पञ्चम परिच्छेद पूर्ण हुआ॥ ५॥

हिन्दी टीकाकार प्रशस्ति

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा।
पन्नालालेन बालेन सागरग्रामवासिना ॥१॥

ऋषिलब्धिचतुर्युग्मप्रमिते वीरवत्सरे।
वैशाखशुक्लपक्षस्य त्रयोदश्यां च सत्तिथौ ॥२॥

टीका रत्नकरण्डकस्य रचिता बुधचर्चिता।
शोधयन्तु बुधाः शीघ्रं ममात्रज्ञानजृम्भितम् ॥३॥

मुनिं समन्तभद्राख्यं याचेऽहं बहुशः क्षमाम्।
तदाशयविरुद्धं चेल्लिखितं स्यान्मया क्वचित् ॥४॥

अज्ञानजनितो दोषः क्षन्तव्यो हि सदा भवेत्।
मया नैवापराद्धं वै कषायोपद्रुतात्मना ॥५॥

मूलग्रन्थ-पद्यानुक्रमणी

मूलग्रन्थलक्षणसंग्रह

संस्कृतहिन्दी टीकासमुद्धृत-पद्यानुक्रमणी